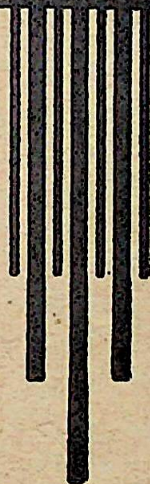
जैन शासन

सुमेरुचन्द्र दिवाकर

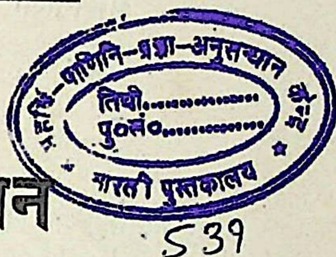


भारतीय ज्ञानपीठ, काशी


महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान केन्द्र
तिथी............
पु०सं०............
भारती पुस्तकालय
5-37



ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला–हिन्दी ग्रन्थाङ्क ३



जैन शासन

पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर शास्त्री न्यायतीर्थ
B. A. L. L. B. सिवनी



भारतीय ज्ञानपीठ काशी।

ग्रन्थमाला सम्पादक और नियामक—
लक्ष्मीचन्द्र जैन *M.A.* डालमियानगर

प्रकाशक
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुंड रोड, बनारस।

प्रथम संस्करण	वीर नि. सं० २४७३ मई ४७	एक हजार प्रति

मुद्रक
पृथ्वीनाथ भार्गव
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट,
बनारस।



उन तत्त्वजिज्ञासुओंको

जो सदैव तत्त्व-चिन्तनमें निमग्न रहते हैं; सत्य और अहिंसा ही
जिनकी साधनाके ओर-छोर हैं; दुराग्रह तथा एकांगी
विचारोंसे चित्तको दूषित न कर जो समत्व और
समन्वय के मार्ग अपनाये हुए हैं; तथ्यको
परखते समय विश्वके विराट् स्वरूपको
विविध दृष्टिभङ्गियोंसे देखनेका
जिन्हें अभ्यास है—

सुमेरुचन्द्र दिवाकर

विषय-सूची



निवेदन

जैन, बौद्ध, वैदिक—भारतीय संस्कृतिकी इन प्रमुख धाराओंका अवगाहन किये विना अपनी आर्यपरम्पराका ऐतिहासिक विकासक्रम हम जान नहीं सकते। सभ्यताकी इन्हीं तीन सरिताओंकी त्रिवेणीका सङ्गम हमारा वास्तविक तीर्थराज होगा और ज्ञानपीठके साधकोंका अनवरत यही प्रयत्न रहेगा कि हमारी मुक्तिका महामन्दिर त्रिवेणीके उसी सङ्गमपर बने; उसी सङ्गमपर महामानवकी प्राणप्रतिष्ठा है।

लुप्त ग्रन्थोंका उद्धार, अलभ्य और आवश्यक ग्रन्थोंका सुलभीकरण, प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, कन्नड और तामिलके जैनवाङ्मयका मूल और यथासम्भव अनुवादरूपमें प्रकाशन, ज्ञानपीठ ऐसे प्रयत्नोंमें लगा हुआ है और बराबर लगा रहेगा। इन कार्योंके अतिरिक्त सर्व-साधारणके लाभके लिये ज्ञानपीठने 'लोकोदय ग्रन्थमाला'की योजना की है। इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत हिन्दीमें सरल, सुलभ, सुरुचिपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित की जायँगी। जीवनके स्तरको ऊँचा उठानेवाली कृतिके प्रत्येक रचयिताको ज्ञानपीठ प्रोत्साहित करेगा, वह केवल नामगत प्रसिद्धिके पीछे नहीं दौड़ेगा। काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक, इतिहास —पुस्तक चाहे किसी भी परिधिकी हो परन्तु हो लोकोदयकारिणी।

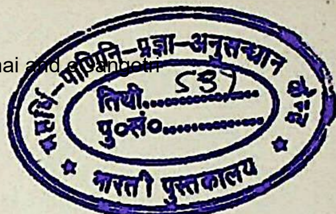
प्रस्तुत पुस्तक 'जैनशासन'में जैनधर्मके प्रमुख सिद्धान्तोंका परिचय और जैन-संस्कृतिकी विभिन्न प्रगतियोंका आधुनिक दृष्टिकोणसे दिग्दर्शन करानेका प्रयत्न किया गया है। पुस्तककी विशेषता इसकी शैली और विषयके प्रतिपादनमें है। जैनधर्मपर कई परिचयात्मक पुस्तकें लिखी

गई हैं। यह पुस्तक उसी दिशामें एक और अगला कदम है। लेखक दिगम्बर समुदायके ख्यातनामा विद्वान हैं। परम्परागत मान्यताओंके विषयमें उनका दृष्टिकोण स्पष्ट है। उन्होंने अनेक शास्त्रीय गहन विषयोंको सरल और सुबोध बनाकर धर्मके सहज सुन्दर रूपके दर्शन करानेका प्रयत्न किया है। उन्हें इसमें पर्याप्त सफलता मिली है।

'जैनशासन'का केन्द्रबिन्दु जीवनकी उपलब्धि है—वह जीवन जो सारे प्राणियोंके लिए सम्पूर्ण सुखकी कल्पना करता है और उसकी प्राप्ति के उपाय बताता है। इस रूपमें जैनधर्म किसी समुदायविशेषका धर्म नहीं, वह मानवमात्र—प्राणीमात्र—का धर्म है, तत्त्वचर्चामें और दार्शनिक ऊहापोहमें सभीका मत एक नहीं होता। भारतीय दर्शन मतविभिन्नताके कारण ही समृद्ध है। दार्शनिक चर्चाके प्रसंगमें लेखकने अनेक स्थलोंपर ऐसे तर्क और प्रमाण दिये हैं जो कई दार्शनिक विद्वानोंके लिए चुनौती हैं। जहाँ शुद्ध धर्मतत्त्वका वर्णन है, वहाँ बुद्धि और भावनाका ऐसा सुन्दर सामञ्जस्य हुआ है कि चुनौतीकी गुंजायश ही नहीं। पुस्तकमें स्थान-स्थानपर श्लोक, दोहे, छन्द, शेर और अन्य उद्धरण देकर लेखकने तर्कको निरर्थक कर दिया है—पाठकको वहीं तत्त्वकी सहज प्राप्तिका आनन्द मिलता है। विद्वान लेखकने जिस आत्म-शुद्धि और धर्म-प्रचारकी भावनासे पुस्तक लिखी है, भारतीय ज्ञानपीठने उसी भावनासे प्रकाशनका उत्तरदायित्व लिया है। हम लेखकके प्रति हृदयसे आभारी हैं।

डालमियानगर,
अक्षयतृतीया २००४
२३।४।४७

लक्ष्मीचन्द्र जैन



प्राक्-कथन

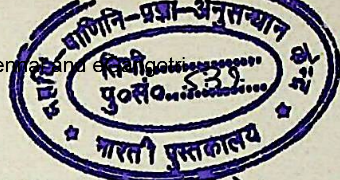
भारतवासियोंके अन्तःकरणमें धर्मतत्त्वके प्रति अधिक आदर भाव विद्यमान है। सामान्यतया धर्मोंपर दृष्टिपात करें, तो उनमें कहीं-कहीं इतनी विविधता और विचित्रताका दर्शन होता है, कि वैज्ञानिक दृष्टि-विशिष्ट व्यक्तिके अन्तःकरणमें धर्मके प्रति अनास्थाका भाव जागृत हो जाता है। कोई-कोई सिद्धान्त अपनेको ही सत्यकी साक्षात् मूर्त्ति मानकर यह कहते हैं, तुम हमारे मार्गपर विश्वास करो, तुम्हारा वेड़ा पार हो जायगा। कार्य तुम्हारा कुछ भी हो, केवल विश्वासके कारण परमात्मा तुम्हारे अपराध क्षमा करेगा, और अपनी विशेष कृपाके द्वारा तुम्हें कृतार्थ करेगा। इस सम्बन्धमें तर्ककी तर्जनी उठाना महान् पाप माना जाता है। ऐसी धार्मिक पद्धतिको विचारक व्यक्ति अन्तिम नमस्कार करता है और हृदयमें सोचता है, कि यदि धर्ममें सत्यकी सत्ता विद्यमान है, तो उसे अग्नि-परीक्षासे भय क्यों लगता है?

कोई लोग धर्मको अत्यन्त गंभीर, सूक्ष्म बता कहते हैं कि धर्मका समझना 'टेढ़ी खीर' है। जिस व्यक्तिके पास विवेक-चक्षु विद्यमान हैं, वह टेढ़ी खीरकी बातको स्वीकार नहीं कर सकता। वह तो अनुभव करता है, कि धर्म टेढ़ा या वक्र नहीं है। हृदय और जीवनकी वक्रता या कुटिलताको दूरकर सरलताको प्रतिष्ठित करना धर्मका प्रथम कर्त्तव्य है। इस युगका जीवन इतना कृत्रिम, कुटिल तथा थोथा हो गया है, कि उसके प्रभावसे नीति, लोकव्यवहार, धर्माचरण आदि सबमें कृत्रिमताका अधिक अधिवास हो गया है।

अनुभव और विवेकके प्रकाशमें यथार्थ धर्मका अन्वेषण किया जाय, तो विदित होगा, कि आत्माकी असलियत, स्वभाव, प्रकृति अथवा

अकृत्रिम अवस्थाको ही धर्म कहते हैं अथवा कहना चाहिए। हम कहते हैं 'आपसमें लड़ना, झगड़ना कुत्तोंका स्वभाव है, मनुष्यका धर्म नहीं है।' इससे स्पष्ट होता है कि धर्म 'स्वभाव'को द्योतित करता है। विकृति, कृत्रिमता, विभावको अधर्म कहते हैं। जिस कार्यप्रणालीसे आत्माके स्वाभाविक गुणोंको छुपानेवाला विकृतिका परदा दूर होता है और आत्माके प्राकृतिक गुण प्रकाशमान होने लगते हैं, उसे भी धर्म कहते हैं। मोहरूपी भिन्न-भिन्न रंगवाले कांचोंसे धर्मका दर्शन, विविध रूपमें, होता है। मोहमयी कांचका अवलम्बन छोड़कर प्राकृतिक दृष्टिसे देखो, तो यथार्थ धर्म एक रूपमें उपलब्ध होता है। राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, मिथ्यात्व आदिके कारण आत्मा अस्वाभाविकताके फन्देमें फंसी हुई है। इनके जालवश ही यह पराधीन, दीन हीन, दुःखी बनी हुई संसारमें परिभ्रमण किया करती है। इन विकृतियोंका अभाव हुए बिना यथार्थ धर्मकी जागृति असंभव है। विकारोंके अभाव होनेपर यह आत्मा अनंतशक्ति, अनंतज्ञान, अनन्त आनन्द सदृश अपूर्व गुणोंसे आलोकित हो जाती है।

विकारोंपर विजय प्राप्त करनेका प्रारंभिक उपाय यह है, कि यह आत्मा अपनेको दीन, हीन, पतित न समझे। इसमें यह अखण्ड विश्वास उदित हो कि मेरी आत्मा ज्ञान और आनन्दका सिन्धु है। मेरी आत्मा अविनाशी तथा अनन्तशक्ति-समन्वित है। विकृत जड़-शक्तियोंके संपर्कसे आत्मा जड़-सा प्रतीत होता है, किन्तु यथार्थमें वह चैतन्यका पुञ्ज है। अज्ञान, असंयम तथा अविवेकके कारण यह जीव हतबुद्धि हो अनेक विपरीत कार्य कर स्वयं अपने कल्याणपर कुठारा-घात किया करता है। कभी-कभी यह कल्पित शक्तियोंको अपना भाग्य-विधाता मान मानवोचित पुरुषार्थ तथा आत्मनिर्भरताको भी भुला देता है। बड़ी कठिनतासे सत्समागम द्वारा अथवा अनुभवके द्वारा इसे यह



दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है, कि जीव अपने भाग्यका स्वयं निर्माता है। यह हीन एवं पापाचरण कर किसीकी कृपासे उच्च नहीं बन सकता। श्रेष्ठ पद प्राप्ति निमित्त इसे ही अपनी अधोमुखी संकीर्ण प्रवृत्तियोंका परित्याग कर उदात्त, उज्ज्वल तथा आलोकमय भावनाओं तथा प्रवृत्तियों को प्रबुद्ध करना होगा।

जीवनमें उच्चताको प्रतिष्ठित करनेके लिए साधकको उचित है कि वह संयम तथा सदाचरणकी अधिकसे अधिक समाराधना करे। असंयमपूर्ण जीवनमें आत्मा शक्तिका संचय नहीं कर पाता। विषयोन्मुख बननेसे आत्मामें दैन्य, परावलम्बनके भाव पैदा होते हैं। इसमें शक्तिका क्षय होता है, संग्रह नहीं। संयम (Self Control) और आत्मावलम्बन (Self-reliance) के द्वारा यह आत्मा विकासको प्राप्त होता है। इससे आत्मामें अद्‌भुत शक्तियोंकी जाग्रति होती है। अपने मन और इंद्रियोंको वशमें करनेके कारण साधक तीन लोकको वशमें करने योग्य अपूर्व शक्तिका स्वामी बनता है। इतना ही क्यों, इन सद्वृत्तियों के द्वारा यह परमात्मपदको भी प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार सूर्यकी किरणें विशिष्ट कांच द्वारा केन्द्रित होनेपर अग्नि उत्पन्न कर देती हैं, इसी प्रकार सदाचरण, संयम सदृश साधनोंके द्वारा चित्तवृत्ति एकाग्र होकर ऐसी विलक्षण शक्ति उत्पन्न करती है, कि जन्म जन्मान्तरके समस्त विकार तथा दोष नष्ट हो जाते हैं, और यह आत्मा स्फटिकके सदृश निर्मल हो जाती है।

आज पश्चिम तथा उसके प्रभावापन्न देशों में जड़वाद (Materialism) का विशेष प्रभुत्व है। इसने आत्माको अन्धासदृश बना दिया है, इस कारण शरीर और इंद्रियोंकी आवाज तो पद पदपर सुनाई देती है, किन्तु अन्तरात्माकी ध्वनि तनिक भी नहीं प्रतीत होती।

आत्मा स्वामी है। इन्द्रियादिक उसके सेवक हैं। आत्मा अपने पदको भूलकर सेवकोंकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करता है। जड़वादके जगत्में आत्मा अस्तित्वहीनसा बना है। उसे इंद्रियों तथा शरीरका दासानुदास सदृश कार्य करना पड़ता है।

जड़वादकी नींव पर प्रतिष्ठित वैज्ञानिक विकासकी वास्तविकता यूरोपके प्राङ्गणमें खेले गए महायुद्धोंने दिखा दी। इसमें सन्देह नहीं विज्ञानने हमें बहुत कुछ आराम और आनन्दप्रद सामग्री प्रदान की, किन्तु अन्तमें उसने ऐसे घातक पदार्थ देना प्रारंभ किया कि उन्हें देख मनुष्य सोचता है कि जितना हमें प्राप्त हुआ, उसकी अपेक्षा अलाभ अधिक हुआ। किसी व्यक्तिने एक बालकको सुमधुर भोजन खिलाया, और मनोरंजक सामग्री दी; किन्तु अन्तमें उस बालकके प्राण ले लिए। प्रतीत होता है कि युद्धके पूर्व विज्ञानने बड़ी बड़ी मोहक तथा आनन्दप्रद सामग्री प्रदान की और अन्तमें 'अणुबम' सदृश प्राणान्तक निधि अर्पण की, जिसने जापानकी लाखों जनताके प्राणोंका तथा राष्ट्रकी स्वाधीनताका स्वाहा अत्यन्त अल्प कालमें कर दिया। राष्ट्ररक्षा, विजय, विश्व-शान्ति-सुरक्षा आदिके नाम पर वैज्ञानिक मस्तिष्क कैसे कैसे घातक यंत्र, गोले, गैस आदिके निर्माणमें अपने अमूल्य मनुष्यभावको व्यय करता है, और सभ्य जगत्के द्वारा संगृहीत, निर्मित तथा सुरक्षित अमूल्य, अपूर्व तथा दुर्लभ सामग्रीका क्षणमात्रमें ध्वंस कर देता है।

विज्ञानके कार्यों पर विचार करें, तो ज्ञात होगा कि इससे निर्माण तथा ध्वंसकी सामग्री समान रूपसे प्राप्त हो सकती है। यदि इस विज्ञानको अध्यात्मवादका प्रकाश मिलता, तो इसके द्वारा अनर्थपूर्ण सामग्रीका निर्माण न होता। वैज्ञानिकोंका कथन है कि वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा परिशुद्ध किया गया कोयला हीरा बन जाता है। इसी प्रकार यह

भी कहना संगत है कि पवित्र अध्यात्मवादके वातावरणमें सुरक्षित एवं संवर्धित विज्ञानका यदि विकास हो, तो मानव-जगत्‌में लोकोत्तर शान्ति, समृद्धि तथा तेजका उदय होगा। जड़ पदार्थके गर्भमें अनंत चमत्कारोंको प्रदर्शित करने वाली अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं, जिन्हें समझने तथा विकसित करनेमें अनंत-मनुष्य-भव व्यतीत हो सकते हैं, किन्तु प्राप्त हुआ है एक दुर्लभ नरजन्म। उसका वास्तविक और कल्याणकारी उपयोग इसमें है कि आत्मा पर-पदार्थके प्रपंचमें फँस अपने अमूल्य क्षणोंका अपव्यय न करे, किन्तु अपनी सामर्थ्य भर प्रयत्न करे, जिससे यह आत्मा विभाव या विकृतिका शनैः-शनैः परित्यागकर स्वभावके समीप आवे। जिस जन्म, जरा, मृत्युकी मुसीबतमें यह जगत् ग्रसित है, उससे बचकर अमर जीवन और अत्यन्त सुखकी उपलब्धि करना सबसे बड़ा चमत्कार है। यह महाविज्ञान (Science of Sciences) है। भौतिक विज्ञान समुद्रके खारे पानी समान है। उसे जितना-जितना पिओगे उतनी-उतनी प्यास बढ़ेगी। इसी प्रकार विषय भोगोंकी जितनी-जितनी आराधना और उपभोग होगा, उतनी अशान्ति और लालसा तथा तृष्णाकी अभिवृद्धि होगी। एक आकांक्षाके पूर्ण होने पर अनेक लालसाओंका उदय हो जाता है, जो अपनी पूर्ति होने तक चित्तको आकुलित बनाती हैं। आकुलता तथा मुसीबत पूर्ण जीवनको देखकर लोग कभी कभी सोचते हैं, यह आफत कहांसे आ गई? अज्ञानवश जीव अन्योंका दोष देता है, किन्तु विवेकी प्राणी शान्त भावसे विचारने पर इसका उत्तरदायी अपनेको मानता है और निश्चय करता है कि अपनी भूलके कारण ही मैं विपत्तिके सिन्धुमें डूबा हूँ। दौलतरामजीका कथन कितना सत्य है—

"अपनी सुधि भूलि आप, आप दुःख उपायो।
ज्यों शुक नभ चाल बिसरि नलिनी लटकायो॥

चेतन अविरुद्ध, शुद्ध-दर्श-बोधमय, विशुद्ध,
तज, जड़-रस-फरस-रूप पुद्‌गल अपनायो ॥ १ ॥"

कवि और भी महत्त्वकी बात कहते हैं—

"चाह दाह दाहै, त्यागै न ताह चाहै।
समतासुधा न गाहै, 'जिन' निकट जो बतायो ॥ २ ॥"

यथार्थ में कल्याणका मार्ग है समता, विषमताका त्याग। मोह, राग, द्वेष, मद, मात्सर्यने विषमताका जाल जगत् भरमें फैला रखा है। समता-के लिए इस जीवका उनका आश्रय ग्रहण करना होगा, जिनके जीवनसे राग द्वेष मोहादिकी विषमता निकल गई है। उनको ही वीतराग, जिन, जिनेन्द्र, अर्हन्त, परमात्मा कहते हैं। कर्म शत्रुओंके साम्राज्यका अन्त किए बिना साम्यको ज्योति नहीं मिलती। समताके प्रकाशमें भेद, विषाद, व्यामोह या संकीर्णताका सद्‌भाव नहीं रहता। वीतराग, वीत-मोह, वीतद्वेष बने बिना, समता-सुधाका रसास्वाद नहीं हो पाता। जो प्राणी कर्मों तथा वासनाओंका दास बना हुआ है, उसे संयम और समतापूर्ण श्रेष्ठ जीवनको अपना आदर्श बनाना होगा। असमर्थ साधक शक्ति तथा योग्यताको विकसित करता हुआ एक दिन अपने 'पूर्णता'के ध्येयको प्राप्त करेगा।

प्राथमिक साधक मद्य, मांसादिका परित्याग करता है, किन्तु लोक जीवन तथा सांसारिक उत्तरदायित्व रक्षण निमित्त वह शस्त्रादिका संचा-लन कर न्याय पक्षका संरक्षण करनेसे विमुख नहीं होता। ऐसे साधकोंमें सम्राट् चन्द्रगुप्त, बिम्बसार, संप्रति, खारवेल, अमोघवर्ष, कुमारपाल प्रभृति जैन नरेन्द्रोंका नाम सम्मानपूर्वक लिया जाता है। उनके शासन-कालमें प्रजा सुखी थी। उसका नैतिक जीवन भी आदरणीय था। इन नरेशोंने शिकार खेलना, मांस भक्षण सदृश संकल्पी हिंसाका त्याग किया

था, किन्तु आश्रितजनोंके रक्षणार्थ, तथा दुष्टोंके निग्रहार्थ अस्त्र शस्त्रादिके प्रयोगमें तनिक भी प्रतिबन्ध नहीं रखा था। अन्यायके दमन निमित्त इनका भीषण दण्ड प्रहार होता था। भगवत् जिनसेन स्वामीके शब्दोंमें इसका कारण यह था—

"प्रजाः दण्डधराभावे मात्स्यं न्यायं श्रयन्त्यमूः ॥"

—महापु० १६, २५२।

यदि दण्ड धारणमें नरेश शैथिल्य दिखाते, तो प्रजामें मात्स्य न्याय (बड़ी मछली छोटी मछलियोंको खा जाती है, इसी प्रकार बलवान्के द्वारा दुर्बलोंका संहार होना मात्स्य न्याय है) की प्रवृत्ति हो जाती।

कुशल गृहस्थ जीवनमें असि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प आदि कर्मोंको विवेक पूर्वक करता है। आसक्ति विशेष न होनेके कारण वह मोही, अज्ञानी जीवके समान दोषका संचय भी नहीं करता।

इस वैज्ञानिक युगके प्रभाववश शिक्षित वर्गमें उदार विचारोंका उदय हुआ है और वे ऐसी धार्मिक दृष्टि या विचारधाराका स्वागत करनेको तैयार है, जो तर्क और अनुभवसे अबाधित हो और जिससे आत्मामें शान्ति, स्फूर्ति तथा नव चेतनाका जागरण होता हो। जैनधर्मका तुलनात्मक अभ्यास करने पर विदित होता है, कि जैनधर्म स्वयं विज्ञान (Science) है। उस आध्यात्मिक विज्ञानके प्रकाश तथा विकाससे जड़-वादका अन्धकार दूर होगा, तथा विश्वका कल्याण होगा।

जैन-शासनमें भगवान् वृषभदेव आदि तीर्थंङ्करोंने सर्वाङ्गीण सत्यका साक्षात्कार कर जो तात्त्विक उपदेश दिया था, उस पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।

जैन ग्रन्थोंका परिशीलन आत्मसाधनाका प्रशस्त-मार्ग तो बतायगा ही, उससे प्राचीन भारतकी दार्शनिक तथा धार्मिक प्रणालीके विषयमें

महत्त्वपूर्ण बातोंका भी बोध होता है। स्व० जर्मन विद्वान् डा० जैकोबीने यह बात दृढ़तापूर्वक प्रतिपादित की है, कि जैनधर्म पूर्णतया मौलिक तथा स्वतंत्र है तथा अन्य धर्मोंसे पृथक् है। इसका अभ्यास प्राचीन भारतके दर्शन और धार्मिक जीवनके अवबोधार्थ आवश्यक है—

"In conclusion let me assert my conviction that Jainism is an original system, quite distinct, and independent from all others; and that therefore, it is of great importance for the study of philosophical thought and religious life in ancient India."[1]

आशा है विचारक बन्धु इस पुस्तकको ध्यानपूर्वक पढ़ेंगे, और अपने अनुभवसे मिलान करते हुए विचारेंगे, कि इसमें उनके कल्याणकी कितनी सामग्री है। 'बाबावाक्यं प्रमाणम्'का प्रतिबन्ध विचारकोंके सत्यको शिरोधार्य करनेमें समक्ष नहीं आता। धर्म आत्मा और उसके विश्वासकी वस्तु है। उसके यथार्थ स्वरूप तथा उपलब्धि पर आत्माका यथार्थ कल्याण अवलम्बित है। अतः आशा है, सहृदय विचारक उदार दृष्टिसे जैनशासनका परिशीलन करेंगे।

९ मार्च, १९४७
सिवनी (सी० पी०)

सुमेरुचन्द्र दिवाकर

---

१ Originally published in the Transactions of the third International Congress for History of Religions, Vol II pp. 59-66, Oxford 1908 and reprinted in the Jain Antiquary of June 1944.

जैन शासन

"णाणं पयासयं"

❀

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

—अकलङ्कदेव

जैनशासन

शान्तिकी ओर-

इस विशाल विश्वपर जब हम दृष्टि डालते हैं, तब हमें सभी प्राणी किसी-न-किसी कार्यमें संलग्न दिखायी देते हैं। चाहे वे कार्य शारीरिक हों, मानसिक हों अथवा आध्यात्मिक। उनका अन्तिम ध्येय आत्माके लिए आनन्द अथवा शान्तिकी खोज करना है। लेकिन ऐसे पुरुषोंका दर्शन प्रायः दुर्लभ है, जो प्रामाणिकतापूर्वक यह कह सकें कि–'हमने उस आनन्दकी अक्षय निधिको प्राप्त कर लिया है।' हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि विश्वमें पाये जाने वाले पदार्थ कुछ भी आनन्द प्रदान नहीं करते, कारण, अनुकूल शारीरिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक पदार्थको पाकर प्राणी संतुष्ट होते हुए पाये जाते हैं और इसीलिए लोग कह भी बैठते हैं—भाई, आज बड़ा आनन्द आया ! किन्तु, वह आनन्द स्थायी नहीं रहता। मनोमुग्धकारी इन्द्र-धनुष अपनी छटासे प्रेक्षकोंके चित्तको आनन्द प्रदान करता है; किन्तु अल्प-कालके अनन्तर उस सुर-चापका विलीन होना उस आनन्दकी धाराको शुष्क बना देता है। इसी प्रकार विश्वकी अनन्त पदार्थ-मालिका जीवोंको कुछ संतोष तो देती है, किन्तु उसके भीतर स्थायित्वका अभाव पाया जाता है।

उस भौतिक पदार्थसे प्राप्त होने वाले आनन्दमें एक बड़ा संकट यह है कि जैसे जैसे विशिष्ट आनन्द-दायिनी सामग्री प्राप्त होती है, वैसे वैसे इस जीवकी तृष्णाकी ज्वाला अत्यधिक प्रदीप्त होती जाती है। और वह

यहाँ तक बढ़ जाती है कि सम्पूर्ण विश्वके पदार्थ भी उसके मनोदेवताको पूर्णतया परितृप्त नहीं कर सकते।

महर्षि गुणभद्रने लिखा है कि–"जगत्के जीवोंकी आशा, तृष्णाका गड्ढा बहुत गहरा है–इतना गहरा कि उसमें हमारा सारा विश्व अणुके समान दिखायी देता है। तब भला, जगत्के अगणित प्राणियोंकी आशाकी पूर्ति इस एक विश्वके द्वारा करें तो एक-एक प्राणीके हिस्सेमें इस जगत्का कितना-कितना भाग आएगा[1] !'

विश्वके वैभव आदिसे आत्माकी प्यासका बुझना यह अज्ञ जीव मानता है। किन्तु, वैभव और विभूतिके बीचमें विद्यमान व्यक्तियों-के पास भी दीन-दुखी जैसी आत्माकी पीड़ा दिखायी देती है। देखिये न, आजका धन-कुवेर माना जानेवाला **हेनरी फोर्ड** कहता है कि— "मेरे मोटरके कारखानेमें काम करनेवाले मजदूरोंका जीवन मुझसे अधिक आनन्द-पूर्ण है; उनके निश्चित जीवनको देखकर मुझे ईर्षा-सी होती है कि यदि मैं उनके स्थानको प्राप्त करता तो अधिक सुन्दर होता।" कैसी विचित्र बात है यह कि धन-हीन गरीब भाई आशा-पूर्ण नेत्रोंसे धनिकोंकी ओर देखा करते हैं, किन्तु वे धनिक कभी-कभी सतृष्ण नेत्रोंसे उन गरीबोंके स्वास्थ्य, निराकुलता आदिको निहारा करते हैं। इसीलिए योगिराज **पूज्यपाद** ऋषि भोगी प्राणियोंको सावधान करते हुए कहते हैं—"कठिनतासे प्राप्त होनेवाले कष्ट-पूर्वक संरक्षण योग्य तथा विनाश-स्वभाव वाले धनादिके द्वारा अपने आपको

---

१ 'आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
किं कस्य कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥"

—आत्मानुशासन श्लो० ३६।

सुखी समझनेवाला व्यक्ति उस ज्वरपीड़ित प्राणीके समान है जो गरिष्ठ घी पीकर क्षण-भरके लिए अपनेमें स्वस्थताकी कल्पना करता है[१] ।"

भौतिक पदार्थोंसे प्राप्त होनेवाले सुखोंकी निस्सारताको देखने तथा अनुभव करनेवाला एक तार्किक कहता है—'भाई, जगत्‌की वस्तुओंसे जितना भी आनन्दका रस खींचा जा सके, उसे निकालनेमें क्यों चूको ? शून्यकी अपेक्षा अल्प लाभ क्या बुरा है।' इस तार्किकने इस बातपर दृष्टिपात करनेका कष्ट नहीं उठाया कि जगत्‌के क्षण-स्थायी आनन्दमें निमग्न होनेवाले तथा अपनेको कृत-कृत्य माननेवाले व्यक्तिकी कितनी करुण अवस्था होती है, जब इस आत्माको वर्तमान शरीर तथा अपनी कही जाने वाली सुंन्दर, मनोहर, मनोरम प्यारी वस्तुओंसे सहसा नाता तोड़कर अन्य लोककी महायात्रा करनेको बाध्य होना पड़ता है !

कहते हैं, सम्राट् सिकन्दर जो विश्वविजयके रंगमें मस्त हो अपूर्व साम्राज्य-सुखके सु-मधुर स्वप्नमें संलग्न था, मरते समय केवल इस बातसे अवर्णनीय आन्तरिक व्यथा अनुभव करता रहा था कि मैं इस विशाल राज-वैभवका एक कण भी अपने साथ नहीं ले जा सकता। इसीलिए, जब सम्राट्‌का शव बाहर निकाला गया, तब उसके साथ राज्यकी महान् वैभव पूर्ण सामग्री भी साथमें रखी गयी थी। उस समम सम्राट्‌के दोनों खाली हाथ बाहर रखे गये थे ; जिसका यह तात्पर्य था कि विश्वविजयकी कामना करनेवाले महत्त्वाकांक्षी तथा पुरुषार्थी इस प्रतापी पुरुषने इतना

१ "दुरर्ज्येनासुरक्ष्येण नश्वरेण धनादिना।
स्वस्थम्मन्यो जनः को पि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥ १३ ॥"
—इष्टोपदेश

बहुमूल्य संग्रह किया जो प्रेक्षकोंके चित्तमें विशेष व्यामोह उत्पन्न कर देता है। किन्तु फिर भी यह शासक कुछ भी सामग्री साथ नहीं ले जा रहा है। ऐसे सजीव तथा उद्बोधक उदाहरणसे यह प्रकाश प्राप्त होता है, कि बाह्य पदार्थोंमें सुखकी धारणा मूलमें ही भ्रमपूर्ण है। प्यासा हरिण ग्रीष्ममें पानी प्राप्त करनेकी लालसासे मरु-भूमिमें कितनी दौड़ नहीं लगाता; किन्तु मायाविनी मरीचिकाके भुलावेमें फँस कर वृद्धिंगत पिपासासे पीड़ित होता है और प्यारे पानीके पास पहुँचनेका सौभाग्य ही नहीं पाता—उसकी मोहनी-मूरत ही नयन-गोचर होती है; पुरुषार्थ करके ज्यों ज्यों आगे दौड़ता है, वह नयनाभिराम वस्तु दूर होती जाती है। इसी प्रकार भौतिक पदार्थोंके पीछे दौड़नेवाला सुखाभिलाषी प्राणी वास्तविक आनन्दामृतके पानसे वञ्चित रहता है और अन्तमें इस लोकसे विदा होते समय संग्रहीत ममताकी सामग्रीके वियोग-व्यथासे सन्तप्त होता है। ऐसे अवसरपर सत्-पुरुषोंकी मार्मिक शिक्षा ही स्मरण आती है—

"रे जिय, प्रभु सुमिरन में मन लगा लगा।
ल ख करोर को धरी रहैगो, संग न जइहै एक तगा॥"

इस प्रसङ्गमें विद्या-प्रेमी नरेश भोजका जीवन-अनुभव भी विशेष उद्बोधक है। कहते हैं, जब महाराज अपनी सुन्दर रमणियों, स्नेही मित्रों, प्रेमी बन्धुओं, हार्दिक अनुरागी सेवकों, हाथी-घोड़े आदिकी अपूर्व सर्वाङ्गीण आनन्ददायिनी सामग्रीको देखकर अपने विशिष्ट सौभाग्य-पर उचित अभिमान करते हुए अपने महाकविसे हृदयकी बातें कर रहे थे, तब महाराज भोजके भ्रमको भगानेवाले तथा सत्यकी तहतक पहुँचनेवाले कविके इन शब्दोंने उनकी आँख खोल दी—"ठीक है महाराज, पुण्य-उदयसे आपके पास सब कुछ है, लेकिन यह तबतक ही है जबतक आपके नेत्र खुले हुए हैं। नेत्रोंके बन्द होनेपर यह कहाँ

रहेगा[1] ।" महाकवि भूधरदासजीकी निम्न पंक्तियाँ अन्तस्तल तक अपना प्रकाश पहुँचा वास्तविक मार्ग-दर्शन कराती हैं—

"तेज तुरंग सुरंग भले रथ, मत्त मतंग उतंग खरे ही।
दास खवास अवास अटा धन, जोर करोरन कोश भरे ही॥
ऐसे भये तो कहा भयौ हे नर! छोर चले जब अंत छरे ही।
धाम खरे रहे काम परे रहे, दाम गरे रहे ठाम धरे ही॥"

—जैनशतक ३३।

ऐसी ही गंभीर चिन्तनामें समुज्ज्वल दार्शनिक विचारोंका उदय होता है। पश्चिमके तर्कशास्त्री प्लेटो महाशय कहते हैं-Philosophy begins in wonder- दर्शन-शास्त्रका जन्म आश्चर्यमें होता है। इसका भाव यह है कि जब विचित्र घटना-चक्रसे जीवनपर विशेष प्रकारका आघात होता है, तब तात्त्विकताके विचार अपने आप उत्पन्न होने लगते हैं। गौतमकी आत्मामें यदि रोगी, वृद्ध तथा मृत व्यक्तियोंके प्रत्यक्ष दर्शनसे आश्चर्यकी अनुभूति न हुई होती तो वह अपनी प्रिय यशोधरा और राज्यसे पूर्णतया निर्मम हो बुद्धत्वके लिए साधना-पथपर पैर नहीं रखते।

वास्तविक शान्तिकी प्यास जिस आत्मामें उत्पन्न होती है, वह सोचता है—"मैं कौन हूँ; मैं कहाँसे आया; मेरा क्या स्वभाव है, मेरे जीवनका ध्येय क्या है, उसकी पूर्तिका उपाय क्या है[2]।" पश्चिमी पण्डित

१ "चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
वल्गन्ति दन्तिनिवहाः तरलास्तुरङ्गाः सम्मीलिते नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति॥"

२ "कोऽहं कीदृग्गुणः क्वत्यः किं प्राप्यः किंनिमित्तकः।"
—वादीभसिंह सूरिकृत क्षत्रचूडामणि १-७८।

हेकल (Hackel) महाशय कहते हैं–"Whence do we come? What are we? Whither do we go?"। ऐसे प्रश्नोंका समाधान करनेके लिए जिस सत्पुरुषने सदाशयतापूर्वक प्रयत्न किया वही महापुरुषोंमें गिना जाने लगा और उस महापुरुषने जिस मार्गको पकड़ा वही भोले तथा भूले भाइयोंके लिए कल्याणका मार्ग समझा जाने लगा— 'महाजनो येन गतः स पन्थाः।'

आजके उदार जगत्से निकट सम्बन्ध रखनेवाला व्यक्ति सभी मार्गों-को आनन्दका पथ जान उसकी आराधना करनेका सुझाव सबके समक्ष उपस्थित करता है। वह सोचता है कि शान्त तथा लोक-हितकी दृष्टि-वाले व्यक्तियोंने जो भी कहा वह जीवनमें आचरणयोग्य है। तत्त्वके अन्तस्तलको स्पर्श न करनेवाले ऐसे व्यक्ति 'रामाय स्वस्ति'के साथ ही-साथ 'रावणाय स्वस्ति' कहनेमें संकोच नहीं करते। ऐसे भाइयोंको तर्क-शास्त्रके द्वारा इतना तो सोचना चाहिए कि सद्भावना आदिके होते हुए भी सम्यक्-ज्ञानकी ज्योतिके विना सन्मार्गका दर्शन तथा प्रदर्शन कैसे सम्भव होगा। इसलिए अज्ञानता अथवा मोहकी प्रेरणासे तत्त्वज्ञों-को रावणकी अभिवन्दना छोड़कर रामका पदानुसरण करना चाहिए। जीवनमें शाश्वत तथा यथार्थ शान्तिको लानेके लिए यह आवश्यक है कि कूप-मण्डूकवृत्ति[1] अथवा गतानुगतिकताकी अज्ञ-प्रवृत्तिका परित्याग कर विवेककी कसौटीपर तत्त्वको कसकर अपने जीवनको उस ओर झुकाया जावे।

———

[1] "तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति।"

धर्मके नामपर–

आत्म-साधना द्वारा कल्याण-मंदिरमें दुःखी प्राणियोंको प्रविष्ट करानेकी प्रतिज्ञापूर्वक प्रचार करनेवाले व्यक्तियोंके समुदायको देखकर ऐसा मालूम होता है, कि यह जीव एक ऐसे बाजारमें जा पहुँचा है जहाँ अनेक विज्ञ विक्रेता अपनी प्रत्येक वस्तुको अमूल्य-कल्याणकारी बता उसे बेंचनेका प्रयत्न कर रहे हैं। जिस प्रकार अपने मालकी ममता तथा लाभके लोभवश व्यापारी सत्य सम्भाषणकी पूर्णतया उपेक्षा कर वाक्-चातुर्य द्वारा हत-भाग्य ग्राहकको अपनी ओर आकर्षित कर उसकी गाँठके द्रव्यको प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार प्रतीत होता है कि अपनी मुक्ति अथवा स्वर्गप्राप्ति आदिकी लालसावश भोले-भाले प्राणियोंके गलेमें साधनामृतके नामपर न मालूम क्या-क्या पिलाया जाता है और उसकी श्रद्धा-निधि वसूल की जाती है।

ऐसे बाजारमें धोखा खाया हुआ व्यक्ति सभी विक्रेताओंको अप्रामाणिक और स्वार्थी कहता हुआ अपना कोप व्यक्त करता है। कुछ व्यक्तियोंकी अप्रामाणिकताका पाप सत्य तथा प्रामाणिक व्यवहार करनेवाले पुरुषोंपर लादना यद्यपि न्यायकी मर्यादाके बाहरकी बात है, तथापि ठगाया हुआ व्यक्ति रोषवश यथार्थ बातका दर्शन करनेमें असमर्थ हो अतिरेक पूर्ण कदम बढ़ानेसे नहीं रुकता। ऐसे ही रोष तथा आन्तरिक व्यथाको निम्नलिखित पंक्तियाँ व्यक्त करती हैं—

"धर्मने मनुष्यको कितना नीचे गिराया, कितना कुकर्मी बनाया, इसको हम स्वयं सोचकर देखें। ईश्वरको मानना सबसे पहले बुद्धिको सलाम करना है। जैसे शराबी पहला प्याला पीनेके समय बुद्धिकी बिदाई-को सलाम करते हैं, वैसे ही खुदाके माननेवाले भी बुद्धिसे बिदा हो

लेते हैं। धर्म ही हत्याकी जड़ है। कितने पशु धर्मके नामपर रक्तके प्यासे ईश्वरके लिए संसारमें काटे जाते हैं, उसका पता लगाकर पाठक स्वयं देख लें। समय आवेगा कि धर्मकी बेहूदगीसे संसार छुटकारा पाकर सुखी होगा और आपसकी कलह मिट जाएगी। एक अत्याचारी, मूर्ख शासक, खुदमुख्तार एवं रद्दी ईश्वरकी कल्पना करना मानो स्वतंत्रता, न्याय और मानवधर्मको तिरस्कार करके दूर फेंक देना है। यदि आप चाहें कि ईश्वर आपका भला करे, तो उसका नाम एकदम भुला दें; फिर संसार मंगल-मय हो जायगा।

"वेद, पुराण, कुरान, इंजील आदि सभी धर्मपुस्तकोंके देखनेसे प्रकट है कि सारी गाथाएँ वैसी ही कहानियाँ हैं जैसी कुपढ़ बूढ़ी दादी-नानी अपने बच्चोंको सुनाया करती हैं। विना देखे-सुने, अनहोने, लापता ईश्वर या खुदाके नामपर अपने देशको, जातिको, व्यक्तित्व और धन-सम्पत्तिको नष्ट कर डालना, एक ऐसी मूर्खता है जिसकी उपमा नहीं मिल सकती। यदि हम मनुष्य जातिका कल्याण चाहते हैं तो हमें सबसे पहले धर्म और ईश्वरको गद्दीसे उतारना चाहिए[१]।"

इस विषयमें अपना रोष व्यक्त करनेवालोंमें सम्भवतः रूसने बहुत लम्बा कदम उठाया है। वहाँ तो बड़े-बड़े सम्मेलन करके वोटों (मतों) द्वारा ईश्वरका बहिष्कारतक किया गया, बेचारे धर्मकी बात तो जाने दीजिए। बौद्ध-धर्मके आचार्य राहुल पण्डितकी मनोवृत्ति रूसकी सैर कर धर्मसे इतनी अधिक रुष्ट हो उठी कि वे यहाँतक कहने लगे कि धार्मिक दासतासे बड़ी अन्य दासता नहीं है। प्रतीत होता है कि भारतको गत-प्राण बनानेवाली राजनैतिक दासताकी ओर उनका ध्यान नहीं गया

---

१ प्रपञ्चपरिचय पृ० २१७–२०।

और यदि गया भी तो वे वेचारे धर्मकी मरम्मत करनेमें रूसको पीछा करनेकी प्रतिस्पर्धाके कारण अपने अनोखे आलापमें आह्लाद लेने लगे।

पूर्वोक्त कथनमें अतिरेक होते हुए भी निष्पक्ष दृष्टिसे समीक्षकको उसमें सत्यताका अंश स्वीकार करना ही होगा। देखिए, **श्री विवेकानन्द** अपने राज-योगमें लिखते हैं—"जितना ईश्वरके नामपर खूनखच्चर हुआ उतना अन्य किसी वस्तुके लिए नहीं।"

जिसने रोमन-कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट नामक हजरत ईसाके माननेवालोंका रक्त-रंजित इतिहास पढ़ा है अथवा दक्षिण-भारतमें मध्य-युगमें शैव और लिंगायतोंने हजारों जैनियोंका विनाशकर रक्तकी वैतरणी वहायी तथा जिस वातकी प्रामाणिकता दिखानेवाले चित्र मदुराके मीनाक्षी नामक हिन्दू मन्दिरमें उक्त कृत्यके साक्षी स्वरूप विद्यमान हैं,[1] ऐसे धर्मके नामपर हुए क्रूर-कृत्योंपर दृष्टि डाली है, वह अपनी जीवनकी पवित्र श्रद्धानिधि ऐसे मार्गोंके लिए कैसे समर्पण करेगा।

धर्मान्धोंकी विवेक-हीनता, स्वार्थ-परता अथवा दुर्बुद्धिके कारण ही धर्मकी आजके वैज्ञानिक जगत्में अवर्णनीय अवहेलना हुई और उच्च विद्वानोंने अपने आपको ऐसे धर्मसे असम्बद्ध वतानेमें या समझनेमें कृतार्थता समझी। यदि धर्मान्धोंने अमर्यादापूर्ण तथा उच्छृंखलतापूर्ण आचरण कर संहार न किया होता तो धर्मके विरुद्ध ये शब्द न सुनायी पड़ते। ऐसी स्थितिमें इस वातकी आवश्यकता है कि भ्रमकी भँवरमें फँसे हुए जगत्का उद्धार करनेवाले सुख तथा शान्तिदाता धर्मका ही उद्धार किया जाय, जिससे लोगोंको वास्तविकताका दर्शन हो।

---

१ देखो, जर्मन डॉ० वान् ग्लेस्नेसका जैन-धर्मसम्बन्धी ग्रंथ Janius P. 64.

धर्म और उसकी आवश्यकता–

साम्यवाद सिद्धान्तका प्रतिष्ठापक तथा रूसका भाग्य-विधाता लेनिन धर्मकी ओटमें हुए अत्याचारोंसे व्यथित हो कहता है कि विश्व-कल्याण-के लिए धर्मकी कोई आवश्यकता नहीं है। उसके प्रभावमें आये हुए व्यक्ति धर्मको उस अफीमकी गोलीके समान मानते हैं, जिसे खाकर कोई अफीमची क्षण-भरके लिए अपनेमें स्फूर्ति और[1] शक्तिका अनुभव करता है। इसी प्रकार उनकी दृष्टिसे धर्म भी कृत्रिम आनन्द अथवा विशिष्ट शान्ति प्रदान करता है।

यह दुर्भाग्यकी बात है कि इन असन्तुष्ट व्यक्तियोंको वैज्ञानिक धर्मका परिचय नहीं मिला, अन्यथा ये सत्यान्वेषी उस धर्मकी प्राण-प्रणसे आराधना किये विना न रहते। जिन्होंने इस महान् साधनाके साधन-भूत मनुष्यजन्मकी महत्ताको विस्तृतकर अपनी आकांक्षाओंकी पूर्तिको ही नर-जन्मका ध्येय समझा है, वे गहरे भ्रममें फँसे हुए हैं और उन्हें इस विश्वकी वास्तविक स्थितिका बोध नहीं प्रतीत होता।

सम्राट् अमोघवर्ष अपने अनुभवके आधारपर मनुष्य-जन्मको ही असाधारण महत्त्वकी वस्तु बताते हैं। अपनी अनुपम कृति प्रश्नोत्तर-रत्न-मालिकामें उन्होंने कितनी उद्बोधक बात लिखी है—

---

१ "Religion, to his master, Marx, had been the "Opium of the people and to Lenin it was" a kind of spiritual cocaine in which the slaves of capital drown their human perception and their demands for any life worthy of a human being."

—Fulop Miller, Mind and Face of Bolshevism p. 78.

"किं दुर्लभं ? नृजन्म, प्राप्येदं भवति किं च कर्तव्यम् ?
आत्महितमहितसङ्गत्यागो रागश्च गुरुवचने ॥"

इस मानव-जीवनकी महत्तापर प्रायः सभी सन्तोंने अमर-गाथाएँ रची हैं। इस जीवनके द्वारा ही आत्मा सर्वोत्कृष्ट विकासको प्राप्त कर सकती है। कबीरदासने कितना सुन्दर लिखा है—

"मनुज जनम दुरलभ अहै, होय न दूजी बार।
पक्का फल जो गिर गया, फेर न लागै डार॥

वैभव, विद्या, प्रभाव आदिके अभिमानमें मस्त हो यह प्राणी अपनेको अजर-अमर मान अपने जीवनकी बीतती हुई स्वर्ण-घड़ियोंकी महत्तापर बहुत कम ध्यान देता है। वह सोचता है कि हमारे जीवनकी आनन्द-गंगा अविच्छिन्न रूपसे बहती ही रहेगी, किन्तु वह इस सत्यका दर्शन करनेसे अपनी आँखोंको मींच लेता है कि परिवर्तनके प्रचण्ड प्रहारसे बचना किसीके भी वशकी बात नहीं है। महाभारतमें एक सुन्दर कथा है—पाँचों पाण्डव तृषित हो एक सरोवरपर पानी पीनेके लिए पहुँचे। उस जलाशयके समीप निवास करनेवाली दिव्यात्माने अपनी शङ्काओंका उत्तर देनेके पश्चात् ही जल पीनेकी अनुज्ञा दी। प्रश्न यह था कि जगत्में सबसे बड़ी आश्चर्यकारी बात कौनसी है? भीम, अर्जुन आदि भाइयोंके उत्तरोंसे जब सन्तोष न हुआ, तब अन्तमें धर्मराज युधिष्ठिरने कहा—

"अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषाः जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥"[1]

१ प्रतिदिन प्राणी मरकर यम-मन्दिर में पहुँचते रहते हैं। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि शेष व्यक्ति जीवनकी कामना करते हैं—(मानो यमराज उनपर दया कर देगा!)।

इस सम्बन्धमें गुणभद्राचार्यकी उक्ति अन्तस्तलको महान् आलोक प्रदान करती है। वे कहते हैं—अरे, यह आत्मा निद्रावस्थाद्वारा अपनेमें मृत्युकी आशंकाको उत्पन्न करता है और जागनेपर जीवनके आनन्दकी झलक दिखाता है। जब यह जीवन-मरणका खेल आत्माकी प्रतिदिनकी लीला है, तब भला, यह आत्मा इस शरीरमें कितने काल तक ठहरेगा ?[1]

आजके भौतिक-वादके भँवरमें फंसे हुए व्यक्तियोंमेंसे कभी-कभी कुछ विशिष्ट-आत्माएँ मानव-जीवनकी अमूल्यताका अनुभव करती हुई जीवनको सफल तथा मंगल-मय बनानेके लिए छटपटाती रहती हैं। ऐसे ही विचारोंसे प्रभावित एक भारतीय नरेश, जिन्होंने आइ० सी० एस० की परीक्षा पास कर ली है, एक दिन कहने लगे—"मेरी आत्मामें बड़ा दर्द होता है, जब मैं राजकीय कागजातों आदिपर प्रभातसे सन्ध्यातक हस्ताक्षर करते-करते अपने अनुपम मनुष्य-जीवनके स्वर्णमय दिवसके अवसानपर विचार करता हूँ। क्या हमारा जीवन हस्ताक्षर करनेके जड़-यंत्रके तुल्य है ? क्या हमें अपनी आत्माके लिए कुछ भी नहीं करना है ? मानो हम शरीर ही हों और हमारे आत्मा ही न हो। कभी-कभी आत्मा बेचैन हो सब कामोंको छोड़कर वनवासी बननेको लालायित हो उठता है।

मैंने कहा, इस तरह घबरानेसे कार्य नहीं चलेगा। यदि सत्य, संयम, अहिंसा आदिके साथ जीवनको अलंकृत किया जाय, तो अपने लौकिक उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करनेमें कोई बाधा नहीं है। आप वैज्ञानिक धर्मके उज्ज्वल प्रकाशमें अपनेको तथा अपने कर्त्तव्योंको देखनेका प्रयत्न

---

१ "प्रसुप्तो मरणाशङ्कां प्रबुद्धो जीवितोत्सवम्।
प्रत्यहं जनयत्येष तिष्ठेत् काये कियच्चिरम्॥ ८२॥"

कीजिए। इससे शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत होगा तथा मनुष्य-जीवनकी सार्थकता होगी।

गौतमबुद्धने अपने भिक्षुओंको धर्मके विषयमें कहा है—

'देसेथ भिक्खवे धम्मं आदि कल्लाणं मज्झे कल्लाणं परियोसान कल्लाणं'[1]—भिक्षुओ, तुम आदिकल्याण, मध्यकल्याण तथा अन्तमें कल्याणवाले धर्मका उपदेश दो। **आचार्य गुणभद्र** आत्मानुशासनमें लिखते हैं कि—"धर्म सुखका कारण है। कारण अपने कार्यका विनाशक नहीं होता। अतएव आनन्दके विनाशके भयसे तुम्हें धर्मसे विमुख नहीं होना चाहिए।"[2]

इससे यह बात प्रकट होती है कि विश्वमें रक्तपात, सङ्कीर्णता, कलह आदि उत्पातोंका उत्तरदायित्व धर्मपर नहीं है। धर्मकी मुद्रा धारण करनेवाले धर्माभासका ही यह कलंकमय कारनामा है। अधर्म या पापसे उतना अहित अथवा विनाश नहीं होता, जितना धर्मका दम्भ दिखानेवाले जीवन अथवा सिद्धान्तोंसे होता है। व्याघ्रकी अपेक्षा गोमुख व्याघ्रके द्वारा जीवन अधिक सङ्कटापन्न बनता है।

लॉर्ड एवेबरीने ठीक ही कहा है कि "विश्वमें शान्ति तथा मानवोंके प्रति सद्भावनाका कारण धर्म है, जो घृणा तथा अत्याचारको उत्तेजित करता है, उसे शब्दशः धर्म भले ही कहा जाय, किन्तु भावकी दृष्टिसे यह पूर्णतया मिथ्या है।"[3]

---

१ महावग्ग विनय-पिटक।

२ "धर्मः सुखस्य हेतुः हेतुर्न विराधकः स्वकार्यस्य।
तस्मात् सुखभङ्गभिया मा भूः धर्मस्य विमुखस्त्वम्॥ २०॥"

३ "Religion was intended to living peace on earth and good-will towards men; wharever tends to hatred and persecution, however correct in the letter, must be utterly wrong in the spirit."

न्याय-मूर्ति नियोगी महाशयने धर्म-तत्त्वके समर्थनमें एक बहुत सुन्दर बात कही थी—"यदि इस जगत्‌में वास्तविक धर्मका वास न रहे तो शान्तिके साधनरूप पुलिस आदिके होते हुए भी वास्तविक शान्तिकी स्थापना नहीं की जा सकती। जैसे पुलिस तथा सैनिकबलके कारण साम्राज्यका संरक्षण घातक शक्तियोंसे किया जाता है, उसी प्रकार धर्मानुशासित अन्तःकरणके द्वारा आत्मा उच्छृंखल तथा पापपूर्ण प्रवृत्तियोंसे बचकर जीवन तथा समाज-निर्माणके कार्यमें उद्यत होता है।"

उस धर्मके स्वरूपपर प्रकाश डालते हुए तार्किकचूड़ामणि आचार्य **समन्तभद्र** कहते हैं—"जो संसारके दुखोंसे बचाकर इस जीवको उत्तम सुख प्राप्त करावे, वह धर्म है[1]।" **वैदिक दार्शनिक** कहते हैं—"जिससे सर्वांगीण उदय—समृद्धि तथा मुक्तिकी प्राप्ति हो, वह धर्म है[2]।" **श्री विवेकानन्द** मनुष्यमें विद्यमान देवत्वकी अभिव्यक्तिको धर्म कहते हैं[3]।" **राधाकृष्णन्** 'सत्य तथा न्यायकी उपलब्धिको एवं हिंसाके परित्यागको' धर्म मानते हैं[4]। इस प्रकार जीवनमें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'को प्रतिष्ठित करनेवाले धर्मके विषयमें और भी विद्वानोंके अनुभव पढ़नेमें आते हैं। **आचार्य कुन्दकुन्दने** धर्मपर व्यापक दृष्टि डालते हुए

---

१ "देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥ २॥"
—रत्नकरण्डश्रावकाचार

२ "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।"
—वैशेषिकदर्शन १।१।२

३ Religion is the manifestation of divinity in man.

४ Religion is the pursuit and justice and abdication of violence."

लिखा है—**'वत्थुसहावो धम्मो'**[1]—आत्माकी स्वाभाविक अवस्था धर्म है—इसे दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि स्वभाव—प्रकृति (Nature) का नाम धर्म है। विभाव, विकृतिका नाम अधर्म है। इस कसौटीपर लोगोंके द्वारा आक्षेप किये गये हिंसा, दम्भ, विषय-तृष्णा आदि धर्म नामधारी पदार्थको कसते हैं तो वे पूर्णतया खोटे सिद्ध होते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह आदि जघन्य वृत्तियोंके विकाससे आत्माकी स्वाभाविक निर्मलता और पवित्रताका विनाश होता है। इनके द्वारा आत्मामें विकृति उत्पन्न होती है जो आत्माके आनन्दोपवनको स्वाहा कर देती है।

अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदिकी अभिवृद्धि एवं अभिव्यक्तिसे आत्मा अपनी स्वाभाविकताके समीप पहुँचते हुए स्वयं धर्म-मय बन जाता है। हिंसा आदिको जीवनोपयोगी अस्त्र मानकर यह पूछा जा सकता है कि अहिंसा, अपरिग्रह आदिको अथवा उनके साधनोंको धर्म संज्ञा प्रदान करनेका क्या कारण है?

राग-द्वेष-मोह आदिको यदि धर्म माना जाय तो उनका आत्मामें सदा सद्भाव पाया जाना चाहिए। किन्तु, अनुभव उन क्रोधादिकोंके अस्थायित्व अत एव विकृतपनेको ही बताता है। अग्निके निमित्तसे जलमें होनेवाली उष्णता जलका स्वाभाविक परिणमन नहीं कहा जा सकता, उसे नैमित्तिक विकार कहेंगे। अग्निका सम्पर्क दूर होने पर वही पानी अपनी स्वाभाविक शीतलताको प्राप्त हो जाता है। शीतलताके लिए जैसे

---

१ "वत्थुसहावो धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्कोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो॥"

(वस्तुके स्वभावको धर्म कहते हैं, आत्माका स्वभाव समता, रागद्वेष से रहित संतुलितमनोवृत्ति, मोह तथा क्रोधसे विहीन आत्मपरिणति धर्म है।)

अन्य सामग्रीकी आवश्यकता नहीं होती और वह सदा पायी जा सकती है, उसी प्रकार अहिंसा, मृदुता, सरलता आदि गुणयुक्त अवस्थाएँ आत्मामें स्थायी रूपमें पायी जा सकती हैं। इस स्वाभाविक अवस्थाके लिए बाह्य अनात्म पदार्थकी आवश्यकता नहीं रहती, क्रोधादि विभावों अथवा विकारोंकी बात दूसरी है। इन विकारोंको जाग्रत् तथा उत्तेजित करनेके लिए बाह्य सामग्रीकी आवश्यकता पड़ती है। बाह्य साधनोंके अभावमें क्रोधादि विकारोंका विलय हो जाता है। कोई व्यक्ति चाहनेपर भी निरन्तर क्रोधी नहीं रह सकता। कुछ कालके पश्चात् शान्त भावका आविर्भाव हुए विना नहीं रहेगा। आत्माके स्वभावमें ऐसी बात नहीं है। यह आत्मा सदा क्षमा, ब्रह्मचर्य, संयम आदि गुणोंसे भूषित रह सकता है। इसलिए, क्रोध-मान-माया-लोभ, राग-द्वेष-मोह आदिको अथवा उनके कारणभूत साधनोंको अधर्म कहना होगा। आत्माके क्षमा, अपरिग्रह, आर्जव आदि भावों तथा उनके साधनोंको धर्म मानना होगा, क्योंकि वे आत्माके निजी भाव हैं।[1]

१—भारतीय धर्मोंका अथवा विश्वके प्रायः सभी धर्मोंका अध्ययन करनेसे ज्ञात होगा कि उन धर्मोंकी प्रामाणिकताका कारण यह है कि परमात्माने उस धर्मके मान्य सिद्धान्तोंको बतानेवाले ग्रन्थकी स्वयं रचना की है। जब परमात्मा जैसे परम आदर्शने अपनी पुस्तक द्वारा कल्याणका मार्ग बताया, तब उसे अ-प्रामाणिक कहनेका कौन साहस करेगा! हां, एक प्रबल तर्क इस मान्यताकी जड़को शिथिल कर देती है कि यदि परमात्माने किताब बनाकर दी या भेजी तो उन पुस्तकोंमें पूर्णतया परस्पर सामञ्जस्य होना चाहिए था। वेद, कुरान, बाइबिल आदि ईश्वरकृत रचनाओंमें निष्पक्ष अध्येताओंको सहज सामञ्जस्य नहीं दीखता। इसीलिए तो ईश्वरका नाम ले-लेकर और उनकी कथित पुस्तकके अवतरण देकर एक दूसरेको झूठा कहते हुए अपनेको सच्चा समझकर संतुष्ट होते हैं। ईश्वरके सम्बन्धमें विशेष प्रकाश हम आगे स्वतंत्र अध्याय में डालेंगे।

सात्त्विक आहार-विहार, सत्पुरुषोंकी सङ्गति, वीरोपासना आदि कार्योंसे आत्मीय पवित्रताका प्रादुर्भाव होता है इसलिए उन्हें भी उपचार-से धर्म कहा जाता है। यहां धर्मके साधनोंमें साध्यरूप धर्मका उपचार किया जाता है। उस आत्म-धर्मकी अथवा उस आत्म-निर्मलताकी उपलब्धिके लिए आत्माकी अनन्त-शक्ति, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-आनन्दके विषयमें अखण्ड आत्मश्रद्धा, अनात्मपदार्थोंसे आत्मज्योतिका विश्लेषण करनेवाला आत्म-बोध तथा अपने स्वाभाविक आनन्द-स्वरूपमें तल्लीनता रूप आत्मनिष्ठाकी हमें नितान्त आवश्यकता है। इन तीन गुणोंके पूर्ण विकसित होने पर यह आत्मा सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्त हो जाता है। इस अवस्थाको ही निर्वाण या मुक्ति कहते हैं। महापण्डित **आशाधरने** बड़े मार्मिक शब्दोंमें धर्मके स्वरूपको चित्रित किया है —

"धर्मः पुंसो विशुद्धिः सा च सुदृगवगमचारित्ररूपा" आत्माकी विशुद्ध मनोवृत्ति-सत्य श्रद्धा, सत्य-ज्ञान तथा सत्याचरण रूप परिणति-धर्म है। (अनगारधर्मामृत १,९०)

धर्मके नामसे रुष्ट होने वाले व्यक्तियोंको इस आत्म-निर्मलता रूप पुण्य तथा परिपूर्ण जीवनकी ओर व्यक्ति तथा समाजको पहुँचाने वाले

दुर्भाग्यसे अथवा कल्पनाके सहारे यदि कोई चिन्तक विश्व-नियंतानिर्मित पुस्तकों-के ध्वंस अथवा अभावकी अवस्थाका अनुमान करे तो उसे यह जानकर आश्चर्य होगा कि ग्रन्थोंसे सम्बन्धित "किताबी" कहे जाने वाले धर्मों की बहुत बड़ी संख्या अदृश्य हो जायगी, उनका अस्तित्व नहीं मिलेगा। किन्तु 'वस्तु-स्वभाव' रूप सुदृढ़ शिलापर अवस्थित धर्म सदा अपना अस्तित्व बनाये रहेगा। कदाचित् इसका सारा साहित्य लुप्त हो जाये, तो भी प्रकृतिकी अविनाशी पुस्तकको पढ़कर विवेकी मानव इस प्राकृतिक धर्मके मनोरम मन्दिरका क्षणमात्रमें पुनर्निर्माण कर सकेगा। इसलिए कहना होगा कि ऐसे प्रकृतिकी गोदमें पले हुए धर्मको कालबलि कभी भी कोई क्षति नहीं पहुँचा सकता। यथार्थमें सनातनत्वके सच्चे बीज ऐसे धर्ममें ही मानना तर्क-संगत होगा।

धर्मके विरुद्ध आवाज़ उठानेका कोई कारण नहीं रहता। ऐसा धर्म जिस आत्मामें, जिस जातिमें, जिस देशमें अवतीर्ण होता है, वहाँ आनन्दका सुधांशु अपनी अमृतमयी किरणोंसे समस्त सन्तापोंको दूरकर अत्यन्त उज्ज्वल तथा आह्लाद-प्रद अवस्थाको उत्पन्न करता है। ऐसे धर्मकी अवस्थितिमें शत्रुता नहीं रहती। स्वतन्त्रता, स्नेह, समृद्धि, शान्ति सभी आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक आदि सर्वतोमुखी अभिवृद्धिसे वह व्यक्ति अथवा राष्ट्र पवित्र होता है। जब इस पुण्य-भू भारतमें धर्ममय जीवनवाली विभूतियोंका विहार होता था, तब यही भारत सर्वतोमुखी उन्नतिका क्रीड़ास्थल बना हुआ था और मनुके शब्दोंमें इस देशकी गुणगाथा देवता भी गाया करते थे।

धर्मकी आधारशिला-आत्मत्व

भारतीय दर्शनोंमें चारु-वाक् अर्थात् मधुर-भाषी चार्वाक-सिद्धान्त अपना निराला राग आलापता है। इस दर्शनकी दृष्टिमें वे ही बातें मान्य हैं जो प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय बनती हैं। सुकुमार-बुद्धि तथा भोग-लोलुपी लोगोंको विषयोंमें प्रवृत्त करानेमें यह ऐसी तर्कपूर्ण सामग्री प्रदान करता है कि लोग इसके चक्करमें उसी प्रकार फँस जाते हैं, जिस प्रकार मधुके माधुर्यसे आकर्षित मक्षिका मधु-पुञ्जमें रस-पान करते करते अन्तमें कष्टपूर्वक प्राणोंका विसर्जन कर बैठती है।

इस चार्वाककी प्रत्यक्षकी एकान्तमान्यता अनुमान-प्रमाणको माने बिना टिक नहीं सकती। कम-से-कम अपने सिद्धान्तके समर्थनमें वह कुछ युक्ति तो देगा, जिससे प्रत्यक्षमें प्रामाणिकता पायी जाए उस युक्तिसे यदि पक्षसमर्थन किया तो 'साधनात् साध्यविज्ञानम्' रूप अनुमान-

प्रमाणसे चार्वाककी 'प्रत्यक्ष ही प्रमाण है' इस मान्यताका मूलोच्छेद हुए विना न रहेगा[1]।

इस विचारप्रणालीवाले धर्मका उपहास करते हुए कहते हैं– 'बाँसके विना जैसे बाँसुरी नहीं बनती, उसी प्रकार आत्मतत्त्वके अभावमें धर्मकी अवस्थिति भी कैसे हो सकती है।' ऐसी स्थितिमें धर्म द्वारा उस काल्पनिक आत्माके लिए शान्ति तथा सुखकी साधनसामग्री एकत्रित करना ऐसा ही है जैसे किसी कविका यह कहना—"देखो, वंध्याका पुत्र चला आ रहा है, उसके मस्तकपर आकाश-पुष्पोंका मुकुट लगा हुआ है, उसने मृग-तृष्णाके जलमें स्नान किया है, उसके हाथमें खरगोशके सींगका बना धनुष है।"

इसलिए, आधिभौतिक पण्डित इन्द्रियोंको सन्तुष्ट करते हुए जीवन व्यतीत करनेकी सलाह देते हैं। जब मरणके उपरान्त शरीर भस्म हो जाता है, तब आत्माके पुनरागमनका विचार व्यर्थ और कल्पनामात्र है।[2] अत एव, यदि पासमें सम्पत्ति न हो तो भी "ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्" कर्जा लेकर भी घी पिओ। स्व० लोकमान्य तिलकने पश्चिमी आधिभौतिक पण्डितोंको लक्ष्य करके 'घृतं पिवेत्' के स्थानपर 'सुरां पिवेत्' का पाठ सुझाते हुए यूरोपियन लोगोंकी मद्य-लोलुपताका मधुर उपहास किया है।[3]

---

१ प्रत्यक्षं प्रमाणम् अविसंवादित्वात्, अनुमानादिकमप्रमाणं विसंवादित्वादिति लक्षयतोऽनुमानस्य बलात् व्यवस्थितेर्न प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति व्यवतिष्ठते।"

—अष्टसहस्री विद्यानन्दि पृ० ९५।

२ 'While life is yours, live joyously,
None can escape Death's searching eye,
When once this frame of ours they burn,
How shall it e'er again return?

३ देखो 'गीतारहस्य'।

धर्म-तत्त्वके आश्रयस्वरूप आत्माको आधिभौतिक पण्डित जड़-तत्त्वोंके विशेष सम्मिश्रणरूप समझते हैं। उन्हें इस बातका पता नहीं है कि अनुभव और प्रबल युक्तिवाद आत्माके सद्भावको सिद्ध करते हैं। ज्ञान आत्माकी एक ऐसी विशेषता है जो उसके स्वतंत्र अस्तित्वको सिद्ध करती है।

पञ्चाध्यायीमें लिखा है कि प्रत्येक आत्मामें जो 'अहम्' प्रत्यय—'मैं'पनेका बोध है वह जीवके पृथक् अस्तित्वको सूचित करता है।[1] डीकार्टे कहता है—"Cogito ergo Sum." I think, therefore I am—मैं विचारता हूँ, इस कारण मेरा अस्तित्व है। प्रो० **मैक्समूलर** ठीक इसके विपरीत शब्दों द्वारा आत्माका समर्थन करते हुए कहते हैं—'मेरा अस्तित्व है अत एव मैं सोचता हूँ—I am, therefore I think.' जीवकी प्रत्येक अवस्थामें उसका ज्ञान-गुण उसी प्रकार सदा अनुगमन करता है, जिस प्रकार अग्निके साथ-साथ उष्णताका सद्भाव पाया जाता है। सोते-जागते प्रत्येक अवस्थामें इस आत्मामें 'अहं प्रत्यय'—मैं-पनेका बोध पाया जाता है। यही कारण है कि निद्रामें अनेक व्यक्तियोंके समुदायमें से व्यक्ति-विशेषका नाम पुकारा जानेपर वह व्यक्ति ही उठता है, कारण, उसकी आत्मामें इस बातका ज्ञान विद्यमान है कि मेरा अमुक नाम है।

जो व्यक्ति, महुआ आदि मादक वस्तुओंके सन्धानमें विशेष उन्मादिनी शक्तिकी उद्भूति देख पृथ्वी, जल आदि तत्त्वोंके सम्मिश्रणसे चैतन्यके प्रकाशका आविर्भाव मानते हैं, वे इस बातको भूल जाते हैं कि जब व्यक्तिशः जड़तत्त्वोंमें चैतन्यका लव-लेश नहीं है, तब उनकी

---

१ "अहं प्रत्ययवेद्यत्वात् जीवस्यास्तित्वमन्वयात्।"

समष्टिमें अद्भुत चैतन्यका उदय कहाँसे होगा ? एक प्राचीन जैन आचार्यका कथन है कि आत्मा शरीरोत्पत्तिके पूर्व था एवं शरीरान्तके पश्चात् भी विद्यमान रहता है "तत्काल उत्पन्न हुए बालकमें पूर्व जन्मगत अभ्यासके कारण माताके दुग्ध-पानकी ओर अभिलाषा तथा प्रवृत्ति पायी जाती है। मरणके पश्चात् व्यन्तर आदि रूपमें कभी-कभी जीवके पुनर्जन्मका बोध होता है। जन्मान्तरका किसी-किसीको स्मरण होता है। जड़-तत्त्वका जीवके साथ अन्वय-सम्बन्ध नहीं पाया जाता। इसलिए, अविनाशी आत्माका अस्तित्व माने बिना अन्य गति नहीं है।[1]"

'न्याय-सूत्र' के रचयिता कहते हैं—यदि जन्मके पूर्वमें आत्माका सद्भाव न होता, तो वीतराग-भाव सम्पन्न शिशुका जन्म होना चाहिए था; किन्तु अनुभवसे ज्ञात होता है कि शिशु पूर्व अनुभूत वासनाओंको साथ लेकर जन्म-धारण करता है।"[2]

आत्माके विषयमें एक बात उल्लेखनीय है, कि वह अपनेको प्रत्येक वस्तुका ज्ञाताके रूपमें (Subjectively) अनुभव करता है और अन्य पदार्थोंको केवल ज्ञेयरूपसे (Objectively) ग्रहण करता है। भाषा-विज्ञानकी दृष्टिसे भी आत्माका अस्तित्व अङ्गीकार करना आवश्यक है, अन्यथा उत्तम पुरुष (First Person) के स्थानमें अन्य-पुरुष या मध्यमपुरुष रूप शब्दोंके द्वारा ही लोक-व्यवहार होता। अंग्रेजी भाषामें आत्माका वाचक 'I' शब्द सदा बड़े अक्षरोंमें

---

१ "उक्तञ्च--तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः।
भूतानन्वयात्सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥" —प्रमेयरत्नमाला पृ० १८१।

२ "वीतरागजन्मादर्शनात्" —न्यायसू० ३।१।२५।

(Capital letter) लिखा जाता है । क्या यह आत्माकी विशेषताकी ओर संकेत नहीं करता है ?

विख्यात वैज्ञानिक **सर ओलिवर लॉजने** अपने गम्भीर प्रयोगों द्वारा मरणके उपरान्त आत्माके अस्तित्वको प्रमाणित किया है[१] । **टैरटूलियन** (Tertulian) नामक यूरोपियन पण्डित लिखता है—कि आत्मा एक मौलिक खण्ड-विहीन (Simple and indivisible) वस्तु है । अत एव उसे अविनाशी होना चाहिए ; कारण अखण्ड तथा मूल-भूत असंयुक्त पदार्थ विनाश-विहीन होता है । आत्मामें जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह खण्ड खण्ड रूप न होकर अखण्ड समष्टि रूपमें पाया जाता है । उदाहरणार्थ हम कहते हैं 'आम एक मधुर फल है' इस शब्दमालिकामें परस्परमें भेद होते हुए भी हमें 'आ' 'म' 'ए' 'क' आदिका पृथक्-पृथक् बोध न होकर समष्टिरूपसे आम वस्तुका परिज्ञान होता है । यह ज्ञान भौतिक मस्तिष्कसे उत्पन्न नहीं होता । इस ज्ञानकी पुनरावृत्ति भी की जा सकती है । इस कारण, जड़तत्त्वसे भिन्न (Immaterial) तत्त्वका सद्भाव मानना चाहिए[२] । **मैकडानल, शॉपन हॉयर, लेसिंग, हर्डर** आदि पश्चिमके चिन्तकोंने आत्माकी मौलिकताको एवं अविनाशिताको स्वीकार किया है । अमूर्तिक आत्माका विचार अनुभवका विषय है, वह भौतिक विज्ञानकी परिधिके बाहरकी वस्तु है ।

महाकवि **कालिदास** अपने अभिज्ञानशाकुन्तलमें लिखते हैं— "कभी-कभी सुखी प्राणी भी मनोरम पदार्थोंका दर्शन, मधुर शब्दोंका श्रवण करते हुए भी अत्यन्त उत्कण्ठित हो जाता है ; इससे प्रतीत होता

---

१ Hindustan Review.

२ A Scientific Interpretation of Christianity by Dr. Elizabeth Fraser. p. 20.

है कि वह अंतःकरणमें अंकित पूर्व-जन्मके प्रेमको स्मरण करता है[१]।" कविका भाव यह है कि अनुकूल तथा प्रिय वातावरणमें विद्यमान सुखी व्यक्तिकी मनोवृत्तिमें परिवर्तन होनेका कारण जन्मान्तरके संस्कारोंका प्रभाव है।

पश्चिमका सन्तकवि वर्डस्वर्थ (Wordsworth) कहता है—"हमारा जन्म एक ऐसी निद्रित अवस्था है, जिसमें पूर्व जन्मके अस्तित्वकी अनुभूति विस्मृत हो जाती है। जिस आत्माका शरीरके साथ जन्म होता है वह हमारे जीवनका एक ऐसा नक्षत्र है जो पूर्वमें दूसरी जगह अस्तङ्गत हुआ था। और, जो बड़ी दूर से आता है[२]।"

ड्रायडनका कथन भी बड़ा मार्मिक है—"अविनाशी आत्माका विनाश करनेकी क्षमता मृत्युमें नहीं है। जब विद्यमान शरीरका मृत्तिकारूप परिणमन होता है, तब आत्मा अपने योग्य नवीन आवास-स्थलका अन्वेषण कर लेता है एवं अबाध गतिसे अन्य शरीरमें जीवन तथा ज्योति भर देता है[३]।"

---

१ "रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरसि नूनमबोधपूर्वम्
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥"—अंक ५, पृ० १४०।

२ Our birth is but a sleep and a forgetting,
The soul that rises with us, our life's star
Hath had elsewhere its setting,
And cometh from afar—Ode on Intimations of immortality

३ Death had no power the immortal soul to stay.
That when its present body turns to clay,
Seeks a fresh home and with unlessened might,
Inspires another frame with life and light,

तार्किक-शिरोमणि अकलङ्क स्वामीसे इस विषयमें अत्यन्त विमल प्रकाश प्राप्त होता है। उनका युक्तिवाद इस प्रकार है—"आत्माके विषयमें उत्पन्न होनेवाले ज्ञानके विषयमें सभी विकल्पों द्वारा आत्माकी सिद्धि होती है। आत्माके विषयमें यदि सन्देह है तो भी आत्माका सद्भाव सिद्ध होता है, क्योंकि, सन्देह अवस्तुको विषय नहीं करता। संशय-ज्ञान उभय कोटिको स्पर्श किया करता है। आत्माका यदि अभाव हो तो दो विकल्पोंकी ओर झुकनेवाले ज्ञानका उदय कैसे होगा? अनध्यवसाय-ज्ञान भी जात्यन्धको रूपके समान प्रकृतमें बाधक नहीं है, कारण अनादिसे आत्माका परिज्ञान होता आया है। विपरीत-ज्ञानके मानने पर भी आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है, पुरुषको देखकर उसमें स्थाणु-ठूँठ-रूप विपरीत बोधके द्वारा जैसे स्थाणुकी सिद्धि होती है, उसी प्रकार आत्माका यथार्थ बोध होगा। आत्माके विषयमें समीचीन बोध मानने पर उसका अस्तित्व अबाधित सिद्ध होता ही है।" (तत्त्वार्थराज-वार्तिक २।८)

स्वामी समन्तभद्रका युक्तिवाद इस विषयको और भी हृदय-ग्राही बनाता है—"जैसे 'हेतु' शब्द से 'हेतु' रूप अर्थका बोध होता है, क्योंकि हेतुशब्द संज्ञारूप है, इसी प्रकार 'जीव' शब्द अपने वाच्य रूप 'आत्मा' नामक बाह्य पदार्थको स्पष्ट करता है, क्योंकि 'जीव' शब्द भी संज्ञा रूप है। संज्ञारूप वाचकका विषय-भूत वाच्य पदार्थ होना चाहिए। जैसे 'प्रमाण' शब्द प्रत्यक्ष आदि प्रमाण रूप प्रमाणको बताता है, वैसे ही माया आदि भ्रान्तिपूर्ण शब्द अपने-अपने वाच्य-भूत माया आदि पदार्थोंका परिज्ञान कराते हैं[1]।"

सबाह्यार्थः सञ्ज्ञात्वात् हेतुशब्दवत्।
मायाद्यैः स्वैः प्रमोक्तिवत् ॥"—आप्तमीमांसा श्लो० ८४।

स्याद्वाद-विद्यापति आचार्य **विद्यानन्दिका** कथन है—"यह 'जीव' शब्दका व्यवहार आत्मतत्त्वको छोड़कर शरीरके विषयमें प्रसिद्ध नहीं है; कारण शरीर अचेतन है और वह आत्माके भोगका आश्रय रूपसे प्रसिद्ध है, आत्मा तो भोक्ता है। इन्द्रियोंमें भी 'जीव' व्यवहार नहीं होता, कारण उनकी उपभोगके साधन रूपसे प्रसिद्धि है—जैसे हम कहते हैं 'मैं' 'आंखों' 'से' 'देखता' 'हूं' यहां 'देखना' रूप क्रियाका साधन नेत्र इन्द्रिय है, देखनेवाला आत्मा पृथक् पदार्थ है।

रूप-रस-गंध-शब्द आदि इन्द्रियोंके विषयोंमें 'जीव' शब्दका व्यवहार करना उचित नहीं है, कारण वे भोग्यरूपसे विख्यात हैं—जैसे 'मैं' 'पानी' 'पीता' 'हूं'। यहाँ पीना क्रियाके विषयमें पानी रूप भोग्य पदार्थका ग्रहण किया जाता है तथा "मैं" शब्द कर्त्ता आत्माको बताता है। अत एव भोक्ता आत्मा ही 'जीव' पद वाच्य है। चैतन्यको शरीर आदिका कार्य मानने पर आत्मामें भोक्तापनेकी बुद्धिका औचित्य सिद्ध नहीं होता।"

अकलङ्क स्वामी भाषा-शास्त्रियोंके इस सन्देहका भी निराकरण करते हैं कि 'जीव' शब्दके सद्भावमें भी जीव रूप अर्थ न मानें तो क्या बाधा है? कारण प्रत्येक शब्दका अपने वाच्यार्थके साथ निश्चित सम्बन्ध हो, ऐसा विदित नहीं होता। इस भ्रमके निराकरणमें आचार्य कहते हैं—'जीव' शब्दसे उत्पन्न होनेवाला जीव अर्थका बोध अबाधित है। जैसे, धूमदर्शनसे अग्निका परिज्ञान किया जाता है और अबाधित होनेसे उस ज्ञान पर विश्वास किया जाता है उसी प्रकार प्रकृत प्रसङ्गमें समझना चाहिए। मरीचिकामें उत्पन्न होने वाला जलका ज्ञान बाधित होनेसे दोषयुक्त है। जो ज्ञान अबाधित है उसे निर्दोष मानना

होगा। इस नियमानुसार 'जीव' शब्द वास्तविक 'जीव' अर्थको द्योतित करता है।

उस जीवकी हर्ष-विषाद आदि अवस्थाएँ हैं। यह प्रत्येक व्यक्तिके अनुभव-गोचर है और प्रत्येक शरीरमें पृथक्-पृथक् अनुभवमें आता है। इस अनुभवका परित्याग भी नहीं किया जा सकता। यही अनुभव अपना निषेध करनेवाले व्यक्तिको स्वयं अपना परिचय कराता है[१]।

इस प्रकार युक्ति, अनुभव आदि जिस आत्म-तत्त्व को सिद्ध करते हैं, उसके धर्म आदिकी अभिव्यक्ति करनेमें प्रयत्नशील होना प्रत्येक चिन्तक तथा समीक्षकका परम कर्तव्य है।

सृष्टि-स्वातन्त्र्य

आत्मा नामक पदार्थके स्वतन्त्र अस्तित्वके सिद्ध होनेपर चित्तमें यह सहज शंका उद्भूत होती है, कि आत्मत्व अथवा चैतन्यकी दृष्टिसे जब सब आत्माएँ समान हैं, तब उनमें दुःख-सुखका तरतम भाव अथवा विविध वृत्तियाँ क्यों दृष्टिगोचर होती हैं? यदि इस समस्याको सुलझानेके लिए लोक-मत का संग्रह किया जाए तो प्रायः यह उत्तर प्राप्त होगा—"जीवोंका भाग्य ईश्वरके अधीन है, वही विश्व-नियन्ता उन्हें उत्पन्न करता है, रक्षण करता है तथा अपने अपने कर्मानुसार विविध योनियोंमें भेज उन्हें दण्डित या पुरस्कृत करता है।" वेद-व्यास महाभारत में लिखते हैं—'यह जीव वेचारा अज्ञानी है, अपने दुःख-सुखके

१ "भावश्चात्र हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तः प्रत्यात्मवेदनीयः, प्रतिशरीरं भेदात्मकोऽप्रत्याख्यानार्हः प्रतिक्षिपन्तमात्मानं प्रतिबोधयतीति कृतं प्रयत्नेन।" —अष्टशती।

विषयमें स्वाधीन नहीं है, यह तो ईश्वरकी प्रेरणानुसार कभी स्वर्गमें पहुँचता है, तो कभी नरकमें[1]।

एक ईश्वर-भक्त अपने भाग्य निर्माणके समस्त अधिकार उस परमात्माके हाथमें सौंपते हुए लोगोंको शिक्षा देता है—

दुनियाके कारखानेका ख़ुदा ख़ुद ख़ानसामा है।
न कर तू फ़िक्र रोटीकी, अगर्चें मर्दाना है॥

इस विचार-धारासे अकर्मण्यताकी पुष्टि देख कोई कोई यह कहते हैं कि कर्म करनेमें प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है, हाँ, कर्मों के फल-विभाजनमें परमात्मा न्याय-प्रदाताका कार्य करता है।

कोई चिन्तक सोचता है कि जब जीव स्वेच्छानुसार कर्म करनेमें स्वतंत्र है और इसमें परमात्माके सहयोगकी आवश्यकता नहीं है तब फलोपभोगमें परत्मात्माका अवलम्बन अङ्गीकार करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। एक दार्शनिक कवि कहता है—

को काको दुख देत है, देत करम झकझोर।
उरझे-सुरझे आपही, ध्वजा पवनके जोर॥—'भैया' भगवतीदास।

अध्यात्म-रामायणमें कहा है—सुख-दुःख देनेवाला कोई नहीं है; दूसरा सुख-दुःख देता है यह तो कुबुद्धि ही है—

"सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।"

इस प्रकार जीवके भाग्यनिर्णयके विषयमें भिन्न भिन्न धारणाएँ विद्यमान हैं। इनके विषयमें गम्भीर विचार करनेपर यह उचित प्रतीत होता है कि अन्य विषयोंपर विचारके स्थानमें पहिले परमात्माके विषयमें ही

---

१ "अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥"—महाभारत वनपर्व ३०।२८

हम समीक्षण कर लें। कारण, उस गुत्थीको प्रारम्भमें सुलझाए बिना वस्तु-तत्त्वकी तहतक पहुँचनेमें तथा सम्यक्-चिन्तनमें बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। विश्वको ईश्वरकी क्रीड़ा-भूमि अङ्गीकार करने पर स्वतन्त्र तथा समीचीन चिन्तनाका स्रोत सम्यक्रूपसे तथा स्वच्छन्द गतिसे प्रवाहित नहीं हो सकता। जहाँ भी तर्कणाने आपत्ति उठायी वहाँ ईश्वरके विशेषाधिकारके नामपर सब कुछ ठीक बन जाता है क्योंकि परमात्माके दरबारमें कल्पनाकी बटन दबायी कि कल्पना और तर्कसे अतीत तथा तार्किकके तीक्ष्ण परीक्षणमें न टिकनेवाली बातें भी यथार्थताकी मुद्रासे अङ्कित हो जाती हैं। जैसे, वाइसराय विशेषाधिकार नामक जादूकी छड़ी हिलाकर अन्याय तथा अनीतिको भारतके नामपर नीति तथा न्याय क्षण-मात्रमें घोषित कर देता है, उसी प्रकार अनन्त आपत्तियों तथा महान् विरोधोंके बीचमें उस लीलामय परमपिता परमात्माकी लोकोत्तर शक्ति आदिके बलपर असम्भव भी सम्भव तथा तर्क-बाह्य भी तर्कसङ्गत बना दिया जाता है। अत एव यह आवश्यक है कि साम्प्रदायिक सङ्कीर्णताको निर्ममतापूर्वक निकालकर निर्मल मनोवृत्तिके साथ परमात्माके विषयमें विचार किया जाए।

ईश्वरको विश्वका भाग्य-विधाता जैन-दार्शनिकोंने न मानकर उसे ज्ञान, आनंद, शक्ति आदि अनंत-गुणोंका पुञ्ज परम-आत्मा (परमात्मा) स्वीकार किया है। इस मौलिक विचार-स्वातन्त्र्यके कारण महान् दार्शनिक-चिन्तनकी सामग्रीके होते हुए भी वैदिकदार्शनिकोंने षट्दर्शनोंकी सूचीमें जैन-दर्शनको स्थान नहीं दिया। अस्तु, प्रसिद्ध षट्-दर्शनोंमें अपना विशिष्ट स्थान रखनेवाला सांख्यदर्शन ईश्वर विषयक जैन-विचार शैलीका समर्थन करता है[1]। सेश्वर सांख्य नामसे विख्यात योगदर्शन

१ "ईश्वरासिद्धेः।" —सांख्यसू० १।९२।

भी ईश्वरको जगत्का कर्त्ता नहीं मानता। वह क्लेश, कर्मविपाकाशयसे असम्बन्धित पुरुष-विशेषको ईश्वर कहता है[1]। न्याय और वैशेषिक सिद्धान्तने मूल परमाणुओं आदिका अस्तित्व मानकर ईश्वरको जगत्का उपादान कारण न मान निमित्तकारण स्वीकार किया है[2]।

पूर्व मीमांसा-दर्शन भी निरीश्वर सांख्यके समान कर्त्ता-वादका निषेध करता है। उत्तर-मीमांसा अर्थात् वेदान्तमें भी ईश्वर कर्तृत्वका तत्त्वतः दर्शन नहीं होता है। उस दर्शनमें इस विश्वको ब्रह्मका अभिव्यक्त विवर्त माना है। इस प्रकार, शान्त भावसे दार्शनिक वाङ्मयका परिशीलन करने पर विदित होता है कि जैनदर्शनके अकर्तृत्व सिद्धान्तमें बहुतसे दार्शनिकोंने हाथ बँटाया है। फिर भी, यह देखकर आश्चर्य होता है कि केवल जैन-दर्शन पर ही नास्तिकताका दोष लादा गया है। इसका वास्तविक कारण यह मालूम होता है कि जैन-धर्म ऋग्वेदादि वैदिक वाङ्मयको अपने लिए पथ-प्रदर्शक नहीं मानता। शुद्ध अहिंसात्मक विचार प्रणालीको अपनी जीवननिधि माननेवाला जैन तत्त्वज्ञान हिंसात्मक बलि-विधानके प्रेरक वैदिक वाङ्मयका किस प्रकार समर्थन करेगा? इसका अर्थ यह नहीं है कि जैन-दार्शनिक वेद (ज्ञान) के विरोधी हैं। जैन-धर्म प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग रूप अपने अहिंसामय विशिष्ट ज्ञानपुञ्जोंका आराधक है। भगवज्जिनसेनने हिंसात्मक वाक्योंको यमकी वाणी बताते हुए अहिंसामय निर्दोष जैनधर्ममें वर्णित द्वादशांगमय महाशास्त्रोंको ही वेद माना है। —(आदिपुराण)

जैन-दर्शन क्रोध-मान-माया-लोभ, हास्य, भय, विस्मय आदि विकारों-

---

१ "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"—योगसूत्र १।२४।

२ देखो-मुक्तावली, The cultural Heritage of India—P. 189-191

से रहित वीतराग, सर्वज्ञ परम-आत्माको ईश्वर मानता है। वह विश्वकी क्रीड़ामें किसी प्रकार भाग नहीं लेता। वह कृतकृत्य है, विकृतिविहीन है तथा सर्व प्रकारकी पूर्णताओंसे समन्वित है। उसी परमात्माको राग, द्वेष, मोह, अज्ञान आदिसे अभिभूत व्यक्ति अपनी भावना और अध्ययन-के अनुसार विचित्र रूपसे चित्रित करते हैं। आत्मत्वकी दृष्टिसे हममें और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं है; केवल इतना ही भेद है कि हममें दैवी शक्तियाँ प्रसुप्त स्थितिमें हैं और उनमें उन गुणोंका पूर्ण विकास होनेसे वे आत्माएँ स्फीत बन चुकी हैं—इतनी निर्मल और प्रकाशपूर्ण हैं कि उनके आलोकमें हम अपना जीवन उज्ज्वल और दिव्य बना सकते हैं। विद्या-वारिधि **वैरिस्टर चम्पतरायजीने** अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'की ऑफ नॉलेज' (Key of Knowledge) में लिखा है—

Man – Passions = God,
God + Passions = Man.
अर्थात् मनुष्य – वासनाएँ = ईश्वर,
ईश्वर + वासनाएँ = मनुष्य।

जैन दार्शनिकोंने परमात्माका पद प्रत्येक प्राणीके लिए आत्म-जागरण द्वारा सरलता पूर्वक प्राप्तव्य बतलाया है। यहाँ ईश्वरका पद किसी एक व्यक्ति-विशेषके लिए सर्वदा सुरक्षित नहीं रखा गया है। अनन्त आत्माओंने पूर्णतया आत्माको विकसित करके परमात्मपदको प्राप्त किया है तथा भविष्यमें प्राप्त करती रहेंगी। सच्ची साधनावाली आत्माओं-को कौन रोक सकता है एवं वास्तविक प्रयत्न-शून्य दुर्बल अपवित्र आत्माओंको किसी विशिष्ट शक्तिकी कृपा द्वारा मुक्तिमें प्रविष्ट नहीं करवाया जा सकता। जैन दर्शनके ईश्वरवादकी महत्ताको हृदयंगम करते हुए एक उदारचेता विद्वान्ने कहा था—"यदि एक ईश्वर माननेके कारण किसी दर्शनको 'आस्तिक' संज्ञा दी जा सकती है, तो

अनन्त आत्माओंके लिए मुक्तिका द्वार उन्मुक्त करने वाले जैन-दर्शनमें अनन्त गुणित आस्तिकता स्वीकार करना न्याय प्राप्त होगा।"

परमात्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति तथा अनन्त दर्शन आदि गुणोंका भण्डार है। वह संसार-चक्रमें परिभ्रमण कर जन्म-जरा-मरणकी यन्त्रणा नहीं उठाता। उस ज्ञान, आनन्द, वीतराग, मोह-विहीन, वीत-द्वेष, निर्भीक, प्रशान्त, परिपूर्ण परमात्माका विश्वके सुख-दुःख-दानमें हस्तक्षेप स्वीकार करने पर वह आत्मा राग-द्वेष, मोह आदि दुर्बलताओंसे पराभूत हो साधारण प्राणीकी श्रेणीमें आ जाएगा।

जब, परमात्मामें परम करुणा, त्रिकालज्ञता और मर्यादातीत शक्तिका भण्डार विद्यमान है, तब ऐसे समर्थ और कुशल व्यक्तिके तत्त्वावधान या सहयोगसे निर्मित जगत् सुन्दरता, पूर्णता तथा पवित्रताकी साकार प्रतिमा बनता और कहीं भी दुःख और अशान्तिका लव-लेश भी न पाया जाता। कदाचित् परिस्थितिविशेषवश कोई पथ-भ्रष्ट प्राणी विनाशकी ओर झुकता, तो वह करुणा-सागर पहिले ही उस पथ-भ्रष्टको सुमार्गपर लगाता और तब इस भूतलका स्वरूप दर्शनीय ही नहीं, सर्वदा वन्दनीय भी होता। विश्वके विधानमें विधाताका हस्तक्षेप होता, तो एक कविके शब्दोंमें सुवर्णमें सुगन्ध, इक्षुमें फल, चन्दनमें पुष्प, विद्वान्में धनाढ्यता और भूपतिमें दीर्घजीवनका अभाव न पाया जाता[1]।

प्रभुकी भक्तिमें निमग्न पुरुष निर्मल आकाश, रमणीय इन्द्रधनुष, विशाल हिमाचल, सुगन्धित तथा मनोरम पुष्प आदि आकर्षक सामग्रीको देखकर प्रभुकी महिमाका गान करते हुए उन सुन्दर पदार्थोंके निर्माणके लिए उस परम पिताके प्रति हार्दिक श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित करता है। किन्तु जब उसी भक्तकी दृष्टिमें इस जगत्की भीषण गन्दगी, बाह्य

---

१ "गन्धः सुवर्णे फलमिक्षुकाण्डे, नाकारि पुष्पं खलु चन्दनेषु।
विद्वान् धनी भूपतिदीर्घजीवी धातुः पुरा कोऽपि न बुद्धिदोऽभूत्॥"

तथा आन्तरिक अपवित्रता, अनन्त-विषमताएँ आती हैं, तब उन पदार्थों-से परमात्माका न्याय-प्राप्त सम्बन्ध स्वीकार करनेमें उसकी आत्माको अत्यधिक ठेस पहुँचती है। कौन ज्ञानवान् मांस-पीप-रुधिर-मल-मूत्र सदृश वीभत्स वस्तुओंमें जीवोंकी उत्पत्ति करनेके कौशल प्रदर्शनका श्रेय सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमानन्दमय परमात्माको प्रदान करनेका प्रयत्न करेगा!

शान्त भावसे विचार करनेपर यह शंका प्रत्येक चिन्तकके अन्तः-करणमें उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगी कि उस परम प्रवीण पिताने अपनी श्रेष्ठ कृति रूप इस मानव-शरीरको 'पल-रुधिर-राध-मल थैली, कीकस वसादितैं मैली' बनानेका कष्ट क्यों उठाया? यदि विचारक व्यक्ति परमात्माके प्रयत्नके बिना अपवित्र तथा घृणित पदार्थोंका सद्भाव स्वीकार करनेका साहस करता है, तो उसे अन्य पदार्थोंके विषयमें भी इसी न्यायको प्रदर्शित करनेका सत्-साहस दिखानेमें कौन-सी बाधा है?

प्रभुकी महिमाका वर्णन कहते हुए राम-भक्त कवि तुलसी कहते हैं—'सीयराममय सब जग जानी' दूसरा कवि कहता है—"जले विष्णुः स्थले विष्णुः आकाशे विष्णुरेव च'—इन भक्त-जनोंकी दृष्टिमें विश्वके कण-कणमें एक अखण्ड परमात्माका वास है। सुननेमें यह बात बड़ी मधुर मालूम होती है, किन्तु तर्ककी कसौटीपर नहीं टिकती। यदि सम्पूर्ण विश्वमें परमात्मा ठसाठस भरा हुआ हो तो उसमें उत्पाद-व्यय गमनागमन आदि क्रियाओंका पूर्णतया अभाव होगा। क्योंकि, व्यापक वस्तुमें परिस्पन्दन रूप क्रियाका सद्भाव नहीं हो सकता। अतः अनादिसे प्रवाहित-जड़-चेतनके प्राकृतिक संयोग-वियोग रूप इस जगत्के पदार्थोंमें स्वयं संयुक्त-वियुक्त होनेकी सामर्थ्य है, तब विश्व-विधाता नामक अन्य शक्तिकी कल्पना करना तर्कसंगत नहीं है।

वैज्ञानिक जूलियन हक्सले कहता है—"इस विश्वपर शासन करने-वाला कौन या क्या है ? जहाँ तक हमारी दृष्टि जाती है, वहाँ तक हम यही देखते हैं कि विश्वका नियन्त्रण स्वयं अपनी ही शक्तिसे हो रहा है। यथार्थमें देश और उसके शासककी उपमा इस विश्वके विषयमें लगाना मिथ्या है[१]।"

कर्त्तृत्व पक्षवालोंके समक्ष यह युक्ति भी उपस्थित की जाती है कि जब कर्त्ताके अभावमें प्रकृतिसिद्ध सनातन ईश्वरका सद्भाव रह सकता है और इसमें कोई आपत्ति या अव्यवस्था नहीं आती है, तब यही न्याय जगत्के अन्य पदार्थोंके कर्त्तृत्वके विषयमें क्यों न लगाया जाए ? ऐसा कोई प्रकृतिका अटल नियम भी नहीं है कि कुछ वस्तुओंका कर्त्ता पाया जाता है, इसलिए सब वस्तुओंका कर्त्ता होना चाहिए। ऐसा करने-से तर्कशास्त्रगत अल्प-पदार्थसम्बन्धी नियमको सार्वत्रिक पाया जाने वाला नियम मानने रूप दोष (Fallacy) आएगा।

इस प्रसङ्गमें 'की ऑफ नॉलेज'की निम्न पंक्तियाँ उपयुक्त हैं—

"सृष्टिकर्तृत्वके विषयमें यह प्रश्न प्रथम उपस्थित होता है कि ईश्वरने इस विश्वका निर्माण क्यों किया ? एक सिद्धान्त कहता है कि इससे उसे आनन्दकी उपलब्धि हुई, तो दूसरा कहता है कि वह अकेले-पनका अनुभव करता था और इसलिए उसे साथी चाहिए थे। तीसरा सिद्धान्त कहता है कि वह ऐसे प्राणियोंका निर्माण करना चाहता था जो उसका गुणगान करें तथा पूजा करें। चौथा पक्ष कहता है कि वह विनोद-वश विश्वनिर्माण करता है। इस विषयमें यह विचार उत्पन्न होता है

१ Who and what rules the Universe ? So far as you can see, it rules itself and indeed the whole analogy with a country and its ruler is false.—Julian Huxley

कि विश्वकर्त्ताको ऐसा जगत् निर्माण करनेकी इच्छा क्यों हुई जिसमें बहुत बड़ी संख्यामें प्राणियोंको नियमतः दुःख और शोक भोगने पड़ते हैं? उसने अधिक सुखी प्राणी क्यों नहीं बनाए जो उसके साथमें रहते।"

कर्तृत्वका परमात्मामें आरोप करनेसे वह वन्दनीय विभूति राग-द्वेष, मोह आदि विकारयुक्त बन साधारण मानवके धरातल पर आ गिरेगी और ऐसी स्थितिमें वह दिव्यानंदके प्रकाशसे वञ्चित हो पवित्र आत्माओंका आदर्श भी न रहेगी।

कर्तृत्वके फेरमें फँसे हुए उस परमात्माके विरुद्ध विवेकके न्यायालयमें **बैरिस्टर चम्पतरायजीका** यह आरोप विशेष आकर्षक तथा प्रभावक मालूम होता है—"जिसने मलिनताकी मूर्ति अत्यन्त बीभत्स मल-मूत्रकी खानि स्वरूप शरीरमें इस मानवको उत्पन्न करके उस शरीरके ही भीतर इसे कैद कर रखा है, वह परम-पिता, परम-दयालु, बुद्धिमान् परमात्मा जैसी पवित्र वस्तु नहीं हो सकती। ऐसी कृति तो निर्दयता एवं प्रतिशोधके दुर्भावको स्पष्टतया प्रमाणित करती है[१]।"

---

१ "The first question, which arises in connection with the idea of creation is, why should God make the world at all? One system suggests, that he wanted to make the world, because it pleased him to do so, another, that he felt lonely and wanted company, a third, that he wanted to create beings who would praise his glory and worship; a fourth, that he does it in sport and so on.

Why should it please the creator to create a world, where sorrow and pain are the inevitable lot of the majority of his creatures, ? Why should he not make happier beings to keep him company?"—Key of Knowledge P. 135.

पं० जवाहरलाल नेहरू अपने आत्म-चरित्र 'मेरी कहानी' में अपने हृदयके मार्मिक उद्गारोंको व्यक्त करते हुए लिखते हैं—"परमात्माकी कृपालुतामें लोगोंकी जो श्रद्धा है, उस पर कभी-कभी आश्चर्य होता है कि किस प्रकार यह श्रद्धा चोट-पर-चोट खाकर जीवित है और किस तरह घोर विपत्ति और कृपालुताका उल्टा सुबूत भी उस श्रद्धाकी दृढ़ता-की परीक्षाएँ मान ली जाती हैं।"

जे० रार्ड हापकिन्सकी ये पँक्तियां अन्तःकरणमें गूँजती हैं—

"सचमुच तू न्यायी है स्वामी, यदि मैं करूँ विवाद,
किन्तु नाथ मेरी भी है, यह न्याय-युक्त फरियाद।
फलते और फूलते हैं क्यों, पापी कर-कर पाप,
मुझे निराशा देते हैं क्यों सभी प्रयत्न कलाप।
हे प्रिय-बन्धु, साथ मेरे यदि तू करता रिपुका व्यवहार,
तो क्या इससे अधिक पराजय, औ बाधाओंका करता वार।
अरे उठाई भीर वहाँ वे मद्य और विषयोंके दास,
भोग रहे वे पड़े मौजमें हैं जीवनके विभव विलास
और यहाँ मैं तेरी खातिर काट रहा हूँ जीवन नाथ
हाँ, तेरे पथपर हो स्वामी घोर निराशाओंके साथ।"

विश्वका ऐसा अस्त-व्यस्त चित्र चिन्तकको चकित बना कर्तृत्वकी ओरसे पराङ्मुख कर देता है। बिहारके भूकम्पपीड़ित प्रदेशमें पर्यटन द्वारा दुःखी व्यक्तियोंका प्रत्यक्ष परिचय प्राप्तकर पंडित नेहरूजी लिखते हैं—"हमें इसपर भी ताज़ुब होता है, कि ईश्वरने हमारे साथ ऐसी निर्दयतापूर्ण दिल्लगी क्यों की कि पहिले तो हमको त्रुटियोंसे पूर्ण बनाया, हमारे चारों ओर जाल और गड्ढे बिछा दिए, हमारे लिए कठोर

और दुःखपूर्ण संसारकी रचना कर दी, चीता भी बनाया और भेड़ भी। और हमको सजा भी देता है।"[१]

धर्मके विषयमें नेहरूजीके विचारोंसे कितनी ही मतभिन्नता क्यों न हो, किन्तु निष्पक्ष विचारक व्यक्तिकी आत्मा उनके द्वारा आन्तरिक तथा सत्यतासे पूर्ण विचार-धाराका समर्थन किए बिना न रहेगा।

देखिए, मृत्युकी गोदमें जाते-जाते **पञ्जाब-केसरी लाला लाजपतराय** कितनी सजीव और अमर बात कह गए हैं—"क्या मुसीबतों, विषमताओं और क्रूरताओंसे परिपूर्ण यह जगत् एक भद्र परमात्माकी कृति हो सकता है? जब कि हजारों मस्तिष्कहीन, विचार तथा विवेकशून्य, अनैतिक, निर्दय, अत्याचारी, जालिम, लुटेरे, स्वार्थी मनुष्य विलासिताका जीवन बिता रहे हैं और अपने अधीन व्यक्तियोंको हर प्रकारसे अपमानित, पद-दलित करते हैं और मिट्टीमें मिलाते हैं, इतना ही नहीं, चिढ़ाते भी हैं। ये दुःखी लोग अवर्णनीय कष्ट, घृणा तथा निर्दयतापूर्ण अपमान-सहित जीवन व्यतीत करते हैं, उन्हें जीवनके लिए अत्यन्त आवश्यक वस्तुएँ भी नहीं मिल पातीं। भला, ये सब विषमताएँ क्यों हैं? क्या ये न्यायशील और ईमानदार ईश्वरके कार्य हो सकते हैं?।" आगे

---

१ Thou art indeed just, Lord if I contend
With thee, but, sir, so what I plead is just,
Why do sinner's ways prosper? and why must
Disappointment all I endeavour end?
Wert thou my enemy, O, thou my friend,
How woudst thou worse, I wonder, than thou dost
Defeat, thwart me? Oh, the sots and thrills of lust
Do inspare hours more thrive than I that spend
Sir. life upon thy cause............

—नेहरूजीकी पुस्तक 'मेरी कहानी'से।

चलकर पञ्जाब-केसरी कहते हैं—"मुझे बताओ—तुम्हारा ईश्वर कहाँ है। मैं तो इस निस्सार जगत्में उसका कोई भी निशान नहीं पाता।"[१]

स्व० लालाजीके अमर उद्‌गारोंके विरुद्ध शायद कर्तृवादका प्रगाढ़ पोषक यह कहे, कि यह तो सफल राजनीतिज्ञकी जोशभरी वाणी है, जो प्रशान्त दार्शनिक चिन्तनके विमल प्रकाशसे बहुत दूर है। ऐसे व्यक्तियोंको पाश्चात्त्य तर्क-विद्याके पिता अरस्तू महाशय जैसे शान्त, विचारवान् चिन्तककी निम्नलिखित पंक्तियोंको पढ़कर अपने व्यामोहको दूर करना चाहिए—"ईश्वर किसी भी दृष्टिसे विश्वका निर्माता नहीं है। सब अविनाशी पदार्थ परमार्थिक हैं। सूर्य, चन्द्र तथा दृश्यमान आकाश सब सक्रिय हैं। ऐसा कभी नहीं होगा कि उनकी गति अवरुद्ध हो जाए। यदि हम उन्हें परमात्माके द्वारा प्रदत्त पुरस्कार मानें तो या तो हम उसे अयोग्य न्यायाधीश अथवा अन्यायी न्याय-कर्ता बना डालेंगे।

---

१ "Can this world full of miseries, inequalities, cruelities & barbarities be the handiwork of a good God, while hundreds and thousands of wicked people, people without brains, without head or heart, immoral and cruel people, tyrant, oppressors, exploiters and selfish people living in luxury, and in every possible way insulting trampling under foot, grinding into dust and also mocking their victims, these latter are lives of untold misery, degradation disgrace of sheer want ? They do not even get the nacessities of life. Why all this inequality ? Can this be the handiwork of a just and true God ?

Where is thy God ? I can find no trace of him in this absurd world.

—Lala Lajpatarai in Mahratta 1933

यह बात परमात्माके स्वभावके विरुद्ध है। जिस आनन्दकी अनुभूति परमात्माको होती है वह इतना महान् है कि हम उसका कभी रसास्वाद कर सकते हैं। वह आनन्द आश्चर्यप्रद है।"[१]

ईश्वर-कर्तृत्वके सम्बन्धमें अत्यन्त आकर्षक युक्ति यह उपस्थित की जाती है—"क्या करें, परमात्मा तो निष्पक्ष न्याय-दाता हैं, जिन्होंने पाप की पोटली बाँध रखी है, उनके कर्मानुसार वह दण्ड देता है। दयाकी अपेक्षा न्यायका आसन ऊँचा है।"

ऐसे कर्तृत्वसमर्थक व्यक्तिको सोचना चाहिए, कि अनन्त ज्ञान, अनन्तशक्ति तथा अनन्त करुणापूर्ण परमपिता परमात्माके होते हुए दीन-प्राणी पापोंके संचयमें प्रवृत्ति करे उस समय तो वह प्रभु चुपचाप इस दृश्यको देखता रहे और दण्ड देनेके समय सतर्क और सावधान हो अपने भीषण न्यायास्त्रका प्रयोग करनेके लिए उद्यत हो उठे। यह बड़ी विचित्र बात है! क्या सर्व-शक्तिमान् परमात्मा अनर्थ अथवा अनीतिके मार्गमें जानेवाली अपनी सन्ततिसमान जीवराशिको पहिलेसे नहीं रोक सकता? यदि ऐसा नहीं है तो सर्वशक्तिमान् क्या अर्थ रखता है?

गांधीजीके द्वारा अत्यन्त पूज्य गुरु तुल्य आदरणीय माने गए

---

१ God is in no sense the Creator of the universe. All imperishable things are actual sun, moon, while visible heaven is always active. There is no time that they will stop. If we attribute these gifts to God, we shall make him either an incompetent judge or an unjust one and it is alien to his nature. Happiness which God enjoys is as great as that, which we can enjoy sometimes. It is marvellous.

—Aristotle.

महानुभाव **शतावधानी राजचंद्रजी** लिखते हैं–'जगत्कर्त्ताने ऐसे पुरुषको क्यों जन्म दिया ? ऐसे नाम डुबानेवाले पुत्रको जन्म देनेकी क्या जरूरत थी जो विषयादिकोंमें निमग्न हो अपनी आत्माको ईश्वरीय प्रकाशसे पूर्णतया वंचित रखनेके प्रयत्नमें संलग्न रहता है[1] ?"

इस प्रकार बहुजन-समाज-सम्मत जगत्-कर्तृत्वकी मान्यताके विरुद्ध तर्क और अनुभवोंके[2] आधार पर विषयका विवेचन किया जाए तो वह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बन जाएगा और प्रस्तुत रचनाकी समस्त परिधिको आत्मसात् कर लेगा। विशेष जिज्ञासुओंको **प्रमेयकमलमार्त्तण्ड,**[3] **अष्टसहस्री,**[4] **आप्त परीक्षा** आदि जैन न्याय तथा दर्शनके ग्रन्थोंका परिशीलन करना चाहिए। हमारा तो ऐसा विचार होता है कि कर्तृवादी साहित्यका भी सम्यक् प्रकार मनन और चिन्तन किया जाए तो उसीमें

---

१ श्रीमद् राजचंद्र पृ० ९६।

२ अनुभवके आधारपर साधुचेतस्क कवि भूधरदासकी वाणीसे क्या ही सुन्दर तर्क विधाताके सम्मुख उपस्थित हुआ है—

सज्जन जो रचे तो सुधारस सौं कौन काज,
दुष्ट जीव किये काल-कूट सों कहा रही।
दाता निरमापे फिर थापे क्यों कलप-वृच्छ,
याचक विचारे लघु तृण हू तैं हैं सही॥
इष्ट के संयोग तैं न सीरो घनसार कछु,
जगत को ख्याल इन्द्रजाल सम है वहीं।
ऐसी दोय-दोय बात दीखैं विधि एक ही सी,
काहे को बनाई मेरे धोखो मन है यही॥ ८०॥

—जैन-शतक।

३ तार्किक प्रभाचन्द्राचार्य।

४ आचार्य विद्यानन्दि।

इस बातको सिद्ध करनेवाली पर्याप्त सामग्री प्राप्त होगी कि परमात्मा सत्+चित्+आनन्द स्वरूप है। जगत्का उद्धार करने और धर्मका संस्थापन करनेके लिए अवतार धारण करनेवाले, कवि वेदव्यासकी गीताके प्रमुख पुरुष श्रीकृष्णचन्द्रकी वाणीसे ही यह सत्य प्रकट होता है कि—"परमात्मा न लोकका कर्त्ता है, और न कर्म अथवा कर्मफलोंका संयोग करानेवाला है ; प्रकृति ही इस प्रकार प्रवृत्ति करती है, वह परमात्मा पाप या पुण्यका अपहरण भी नहीं करता। ज्ञानपर अज्ञानका आवरण पड़ा है इसलिए प्राणी विमुग्ध बन जाते हैं[1]।"

प्रकाण्ड तार्किक जैनाचार्य अकलङ्कने अपने अकलङ्कस्तोत्रमें न्यायकी कसौटीपर कसी गयी पूजनीय विभूति परमात्मापर प्रकाश डालते हुए उन्हें महान् देवताके रूपमें मान इन उद्बोधक शब्दोंमें निर्दोष, वीतराग परमात्माको प्रणाम किया है—

"त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकितम्
साक्षात् येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं साङ्गुलि।
रागद्वेषभयामयान्तकजरा-लोलत्वलोभादयो
नालं यत्पदलङ्घनाय स महादेवो मया वन्द्यते[2] ॥

---

१ "न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥"—गीता ५–१४, १५।

२ जय सरवग्य अलोक-लोक इक उडुवत देखैं।
हस्तामल ज्यों हाथलीक ज्यों, सरव विसेखैं॥
छहों दरव गुन परज, काल त्रय वर्तमान सम।
दर्पण जेम प्रकास, नास मल कर्म महातम॥
परमेष्ठी पाँचों विघनहर, मंगलकारी लोक में।
मन वच काय सिर लाय भुवि, आनंद सौं द्यों धोक में॥ १ ॥
—द्यानतराय—चर्चाशतक।

—जो त्रिकालवर्ती लोक तथा अलोकके समस्त पदार्थोंका हस्तगत अंगुलियों तथा रेखाओंके समान साक्षात् अवलोकन करते हैं तथा राग-द्वेष, भय, व्याधि, मृत्यु, जरा, चंचलता, लोभ आदि विकारोंसे विमुक्त हैं, उन महादेव–महान् देवकी मैं वन्दना करता हूँ।

परमात्मा और सर्वज्ञता

परमात्माके कर्तृत्वको विविध दोष-मालिकासे ग्रसित देख कोई-कोई विचारक परमात्माके अस्तित्वपर ही कुठाराघात करनेमें अपने मनोदेवताको आनन्दित मानते हैं। वे तो परमात्मा अथवा धर्म आदि जीवनोपयोगी तत्त्वोंको मानव-बुद्धिके परेकी वस्तु समझते हैं। एक विद्वान् कहता है, जिस तर्कके सहारे तत्त्वव्यवस्था की जाती है वह सदा सन्मार्गका ही प्रदर्शन करता हो, यह नहीं है। कौन नहीं जानता कि युक्तिका आश्रय ले अतत्त्वको तत्त्व अथवा अपरमार्थको परमार्थ-सत्य सिद्ध करनेवाले व्यक्तियोंका इस युगमें बोलबाला दिखायी देता है। जैसे द्रव पदार्थ अपने आधारगत वस्तुओंके आकारको धारण करता है, उसी प्रकार तर्क भी व्यक्तिकी वासना, स्वार्थ, शिक्षा-दीक्षा आदिसे प्रभावित हो कभी तो ऋजु और कभी वक्र मार्गकी ओर प्रवृत्ति करनेसे मुख नहीं मोड़ता। इसलिए तर्क सदा ही जीवन-नौकाको व्यामोहकी चट्टानोंसे बचानेके लिए दीप-स्तम्भका कार्य नियमसे नहीं करता।

कदाचित् धर्म-ग्रंथोंके आधारपर ईश्वर-जैसे गम्भीर तथा कठिन तत्त्वका निश्चय किया जाए तो बड़ी विचित्र स्थिति उत्पन्न हुए बिना न रहेगी। कारण, उन धर्म-ग्रंथोंमें मत-भिन्नता पर्याप्त मात्रामें पद-पद पर दिखायी देती है। यदि मत-भिन्नता न होती तो आज जगत्में धार्मिक

स्वर्गका साम्राज्य स्थापित न हो जाता ? जो धर्म-ग्रन्थ अहिंसाकी गुण-गाथा गानेमें अपनेको कृतकृत्य मानता है वही कभी-कभी जीव-वधको आत्मकल्याणका अथवा आध्यात्मिक विकासका विशिष्ट निमित्त बतानेमें तनिक भी सङ्कोच नहीं करता। ऐसी स्थितिमें घबड़ाया हुआ मुमुक्षु कह बैठता है—भाई, धर्म तो किसी अँधेरी गुफाके भीतर छुपा है, प्रभावशाली अथवा बुद्धि आचरण आदिसे बलसम्पन्न व्यक्तिने अपनी शक्तिके बलपर जो मार्ग सुझाया, भोले जीव उसे ही जीवन-पथ-प्रदर्शक दिव्य ज्योति मान बैठते हैं। कविने ठीक कहा है—

"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः
नैको मुनिः यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥"

गम्भीर चिन्तनसे समीक्षक इस निष्कर्षपर पहुँचेगा कि पूर्वोक्त विचार-शैलीने अतिरेकपूर्ण मार्गका अनुसरण किया है। सुव्यवस्थित तर्क सर्वत्र सर्वदा अभिवन्दनीय रहा है, इसीलिए पशुजगत्से इस मानवका पृथक्करण करनेके लिए ज्ञानवानोंको कहना पड़ा कि—Man is a rational being—मनुष्य तर्कणाशील प्राणी है। यह विशिष्ट विचारकता ही पशु और मनुष्यके बीचकी विभेदक रेखा है। जिस नैसर्गिक विशेषतासे मानव-मूर्ति विभूषित है उस तर्ककी कभी-कभी असत् प्रवृत्तिको देख तर्कमात्रको विष खिला मृत्युके मुखमें पहुँचानेसे हम मानव-जीवनकी विशिष्टतासे वञ्चित हो जाएँगे। जैसे कोई विचित्र आदमी यह कहे कि मैं श्वाँस तो लेता हूँ किन्तु श्वाँस लेनेके उपकरण मेरे पास नहीं हैं। इसी प्रकार सारा जीवन तर्कपर प्रतिष्ठित रहते हुए मानवके मुखसे तर्क-मात्रके तिरस्कारकी बात सत्यकी मर्यादाके बाहर है

तथा विवेकी व्यक्तियोंके लिए पर्याप्त विनोदप्रद है। इसलिए हमें इस निष्कर्षपर पहुँचना होगा कि जहाँ कुतर्क गन्दे जलके सदृश मलिनता तथा अशुद्धताको बढ़ाता है, वहाँ समीचीन तर्क जीवनकी महान विभूति है। और उसका रस पिए बिना मानवका क्षण-भर व्यतीत होना भी कठिन है। असत्यके फेरमें फँसे हुए सत्यको विश्लेषण करनेका तथा उसकी उपलब्धि करानेका श्रेय समीचीन तर्कको ही तो है; अतः समीचीन तर्कके द्वारा हमें परमात्मा और परमात्मा के स्वरूपके विषयमें वह प्रकाश मिलेगा जिससे अन्वेषककी आत्मामें नवीन विचारोंका जागरण होगा।

समीचीन तर्कके अग्नि-परीक्षणमें विश्वनियन्ता परमात्माकी अवस्थिति नहीं रहती। किन्तु, उसी परीक्षणसे परमात्माका ज्ञान, आनन्द, शान्त, वीतराग स्वरूप अधिक विमल बन विश्व तथा वैज्ञानिक विचारकोंको अपनी ओर विवेकपूर्वक आकर्षित करता है। स्वामी **समन्तभद्र** परमात्माकी मीमांसा करते हुए लिखते हैं—"विश्वके प्राणियोंमें रागादि दोष तथा ज्ञानके विकास और ह्रासमें तरतमताका सद्भाव पाया जाता है—कोई आत्मा राग-द्वेष-मोह-अज्ञानसे अत्यधिक मलीन होता है तो किसीमें उन विकारोंकी मात्रा हीयमान तथा अल्पतर होती जाती है। इससे इस तर्कका सहज उदय होता है कि कोई ऐसा भी आत्मा हो सकता है जो राग, द्वेष, मोह आदि विकारोंसे पूर्णतया विमुक्त हो, वीतराग बन सर्वज्ञताकी ज्योतिसे अलंकृत हो। खानिसे निकाला गया सुवर्ण किट्ट-कालिमादिसे इतना मलिन दिखता है, कि परिशुद्ध सुवर्णका दर्शन करनेवालेका अन्तःकरण उस मलिन अपरिष्कृत सुवर्णमें सु-वर्णवाले सोनेके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करना चाहता। यह तो उस अग्नि आदिका कार्य है, जो दोषोंको नष्ट कर नयनाभिराम बहुमूल्य सुवर्णका

दर्शन या उपलब्धि कराती है। इसी प्रकार तपश्चर्या, विवेकपूर्वक अहिंसाकी साधना, आत्म-विश्वास तथा स्वरूपबोधसे समन्वित आत्मा अपनी अनादिकालीन राग-द्वेष, मोह, अज्ञान आदि विकृतिका विध्वंस कर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्तिसम्पन्न परिशुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है। ऐसे चैतन्य, आनन्द आदि अगणित विशेषताओंसे अलङ्कृत श्रेष्ठ आत्माको परमात्मा कहते हैं। समीचीन तर्कवालोंकी दृष्टिमें यही ईश्वर है, यही भगवान् है। यही परम-पिता, महादेव, विष्णु, विधाता, शिव आदि विभिन्न पुण्य नामोंसे सङ्कीर्तित किया जाता है। इसी दिव्य ज्योतिके आदर्श प्रकाशमें अनन्त दुःखी आत्माएँ अपनी आत्म-शक्तियोंको केन्द्रित करती हुई अपनी आत्मामें अन्तर्हित परमात्मत्वको प्रकट करनेका समर्थ और सफल प्रयास कर सच्ची साधना द्वारा एक समय कृतकृत्य, परिशुद्ध, परिपूर्ण बन जाती हैं। आचार्य **सिद्धसेन दिवाकरकी** यह धारणा है कि—इस परम-पवित्र, परिपूर्ण, परिशुद्ध परमात्माको ही विविध साम्प्रदायिक दृष्टिवाले अपनी-अपनी मान्यतानुसार पूजा करते हैं[1]। क्या धवलवर्णका शङ्ख विविध काचकामलादि रोगवालेको अनेक प्रकारके रंगोंवाला नहीं दिखाई देता?

भारतीय दार्शनिकोंमें तत्त्व-मीमांसासे अधिक ममत्व द्योतित करनेके लिए ही अपनेको मीमांसक कहनेवाला इस परमात्मतत्त्वकी गुत्थीको

---

१ 'त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि
नूनं प्रभो हरिहरादिधिया प्रपन्नाः।
किं काचकामलिमिरीश सितोऽपि शङ्खो।
नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण ॥ १८ ॥"—कल्याणमन्दिर।

सुलझानेमें अक्षम बन, उसे सर्वज्ञ स्वीकार करनेमें अपने आपको असमर्थ पाता है। आज भी उस दार्शनिक विचारधारासे प्रभावित पुरुष कह बैठते हैं कि परम पवित्र, परिशुद्ध आत्माको हम परमात्मा सहर्ष स्वीकार करते हैं, किन्तु, उसकी सर्वज्ञता—युगपत् त्रिकाल-त्रिलोक-दर्शीपनेकी बात हृदयको नहीं लगती। यह हो सकता है कि तपश्चर्या, आत्मसाधना, आत्मोत्सर्ग आदिके द्वारा कोई पुरुष अपनेमें असाधारण ज्ञानका विकास कर ले; किन्तु, सकल विश्वका एक साथ एक क्षणमें साक्षात्कार करनेकी बात तो कवि-जगत्की एक सु-मधुर कल्पना है जो तर्ककी तीक्ष्ण ज्वालाको सहन नहीं कर सकती। जिस प्रकार कोई आदमी चार गज कूद सकता है तो दूसरा इसमें कुछ अधिकता कर सकता है; परन्तु, किसी आदमीके हजार मील एक क्षणमें कूदनेकी बात स्वस्थ मस्तिष्ककी उद्भूति नहीं कही जा सकती। उसी प्रकार संपूर्ण विश्वके चर-अचर अनन्तानन्त पदार्थोंके परिज्ञाताकी बात तीन कालमें भी सम्भव नहीं हो सकती। क्योंकि, जीवन अत्यल्प है उसमें अनन्त और अपार तत्त्वोंका दर्शन नहीं हो सकता।

ऐसे मीमांसकोंका तर्क साधारणतया बड़ा मोहक मालूम पड़ता है; किन्तु, समीचीन विचार-प्रणालीसे इसकी दुर्बलताका स्पष्ट बोध हो जाता है। शरीरसे हीनाधिक कूदने-जैसी कल्पना अ-भौतिक, अमर्यादित, सामर्थ्यसम्पन्न आत्माके विषयमें सु-सङ्गत नहीं है। जिसने अन्धलोकमें रह केवल जुगनूके प्रकाशका परिचय पाया है वह त्रिकालमें भी इसे स्वीकार करनेमें अ-समर्थ रहेगा कि सूर्य नामकी प्रकाशपूर्ण कोई ऐसी भी वस्तु है जो हजारों मीलोंके अन्धकारको क्षणमात्रमें दूर कर देती है। जुगनूसदृश आत्मशक्तिको ससीम, दुर्बल, प्राणहीन-सा समझनेवाला अज्ञानताके अन्धलोकमें जन्मसे विचरण करनेवाला अज्ञ व्यक्ति प्रकाशमान तेजःपुञ्ज आत्माकी सूर्य-सदृश शक्तिके विषयमें विकृत

धारणाको कैसे परिवर्तित कर सकता है, जबतक कि उसे इसका (सूर्यका) दर्शन न हो जाए।

इस सर्वज्ञताके रहस्यको हृदयङ्गम करनेके पूर्व मीमांसकको कम-से-कम यह तो मानना होगा ही कि विश्वकी सम्पूर्ण आत्माएँ समान हैं। जैसे खानिसे निकाला गया सुवर्ण केवल सुवर्णकी दृष्टिसे अपनेसे विशेष निर्मल अथवा पूर्ण परिशुद्ध सुवर्णसे किसी अंशमें न्यूनशक्ति वाला नहीं है। यदि अग्नि आदिका संयोग मिल जाए तो वह मलिन सुवर्ण भी परिशुद्धताको प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार इस जगत्का प्रत्येक आत्मा राग, द्वेष, अज्ञान आदि विकारोंका नाशकर परिशुद्ध अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। ऐसी परिशुद्ध आत्माओंमें उनकी निज-शक्तियाँ आवरणोंके दूर होनेसे पूर्णतया प्रकाशमान होंगी। जो तत्त्व या पदार्थ किसी विशिष्ट आत्मामें प्रतिबिम्बित हो सकते हैं, उन्हें अन्य आत्मामें प्रतिबिम्बित होनेमें कौनसी बाधा आ सकेगी? यह तो विकृत वैभाविकशक्ति तथा साधनोंका अत्याचार है—अतिरेक है—जो आत्माओंमें विषमता एवं भेद उपलब्ध होता है, अन्यथा स्वतन्त्र, विकासप्राप्त आत्माके गुणोंकी अभिव्यक्ति समान रूपसे सब आत्माओंमें हुए बिना न रहती।

इस सम्बन्धमें यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिए कि विश्वके पदार्थोंके अस्तित्वका बोध आत्माकी ज्ञानशक्ति द्वारा होता है। जो पदार्थ ज्ञानकी ज्योतिमें अपना अस्तित्व नहीं बताता उसका अभाव मानना ही न्यायसङ्गत होगा। हर्बर्ट स्पेन्सरके समान 'अज्ञेयवाद'का समर्थन नहीं किया जा सकता। भला, उस पदार्थके सद्भावको कैसे स्वीकार किया जाए जो इस अनन्त जगत्में किसी भी आत्माके ज्ञानका विषयभूत नहीं हुआ, नहीं होता है अथवा अनन्त भविष्यमें भी नहीं

होगा। पदार्थोंके अस्तित्वके लिए यह आवश्यक है, कि वे विज्ञान-ज्योतिके समक्ष अपने स्वरूपको बतानेमें सङ्कोच न खाएँ; अन्यथा उन पदार्थोंको रहनेका कोई अधिकार नहीं है। यों तो पदार्थ अपनी सहज शक्तिके बल पर रहते ही हैं, उनके भाग्य-विधानके लिए कोई अन्य विधाता नहीं है, किन्तु उनके सद्भावके निश्चयार्थ ज्ञान-ज्योतिमें प्रतिबिम्बित होना आवश्यक है। इसका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक पदार्थ किसी-न-किसी ज्ञाताके ज्ञानका ज्ञेय अवश्य था, है तथा रहेगा।

जब पदार्थोंमें ज्ञानके विषय बननेकी शक्ति है, आत्मामें पदार्थोंको जाननेकी सहज शक्ति है और जब आत्म-साधनाके द्वारा चैतन्य सूर्यका पूर्ण उदय हो जाता है तब ऐसी कौनसी वस्तु है जो उस आत्माके अलौकिक ज्ञानमें प्रतिबिम्बित न होती हो और जिसे स्वीकार करनेमें हमारे तार्किकको पीड़ा होती है। जिस तरह चलने-फिरने-दौड़नेमें शरीरकी मर्यादित शक्ति बाधक बन मर्यादातीत शारीरिक प्रवृत्तिको रोकती है, उस तरहका प्रतिबन्ध ज्ञानशक्तिके विषयमें नहीं है। पदार्थोंका परिज्ञान करनेमें परम-आत्माको कोई कष्ट नहीं होता। जैसे, बाधक सामग्रीविहीन अग्निको पदार्थोंको भस्म करनेमें कोई रुकावट नहीं होती, उसी प्रकार राग-मोहादि बाधक-सामग्रीविहीन आत्माको समस्त पदार्थोंको एक ही क्षणमें साक्षात्कार करनेमें कोई आपत्ति नहीं होती[1]।

---

१ The argument that proves omniscience to be an attribute of the pure soul is very simple. It is based on the uniformity of nature, as all science is. Nature is constant; so that the attributes and properties of substances cannot vary; they are always the same. It is a natural law that all things belonging to the same species, class, genus etc. have

a common nature. Gold, for instance, will always be found to be gold. That is to say, one piece of gold is always like any other piece of gold. There are no differencs in the pure matter. This is the case with all substances. The soul being a substance cannot be an exception to the law. Therefore, the properties of the soul—the intelligent substances are alike in every case; so it must be that all souls are alike in respect of their knowing capacity. This is tantamount to saying that every soul has within itself the ability to manifest the entirety of knowledge. The soul can know all things and all conditions of things, of all places, of all times, for what one soul knows or knew or will ever know, can be known by any other soul. All knowledge acquired by me on in the past can be known by any one living today, Similarly all knowledge known by any one living and all the knowledge which will be ever acquired by any knowing living being in the future can be known by every one of us. Thus knowledge of the three periods of times is possible for all. Now can localisation in space set a limit to our knowledge......? that every soul in short is capable of omniscience......? Many things remain unknown at the present time. That does not mean that it is to be inferred that they will always remain unknown. It is indisputable that what can never be known by capable minds engaged in investigating the truth will never be proved to have an existence, and is 'therefore' non-existant.

—A Scientific Interpretation of Christianity. pp. 44-45

और अन्तमें जैनधर्मको स्वीकार करनेवाली अंग्रेज बहिन डॉ० एलिजाबेथ फ्रेज़रने बड़े सरल शब्दोंमें मार्मिक प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि—

"[1]सर्वज्ञता विशुद्ध आत्माका गुण है। इसे सिद्ध करना सरल बात है। इसका मूल आधार इतर विज्ञानोंके समान प्रकृतिकी एकविधता (= Uniformity of Nature) है। प्रकृति अविनाशी है क्योंकि पदार्थोंके गुण-धर्म नहीं बदलते, वे सदा वैसे ही रहते हैं। यह प्रकृतिका नियम है कि एक जातीय पदार्थोंमें सर्व-अनुगत-समान धर्म पाया जाता है। जैसे सोना सदा 'सोना' रूप हीमें पाया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि सोनेका एक टुकड़ा सोनेके दूसरे टुकड़ेके समान सदा होगा। शुद्ध पदार्थमें भिन्नता नहीं पायी जाती। सब पदार्थोंमें यही नियम है। आत्मा भी एक द्रव्य है, अत एव वह इस नियमके बाहर नहीं है। इस कारण, ज्ञानात्मक आत्म-द्रव्यके गुण प्रत्येक अवस्थामें समान हैं। इससे ज्ञान-शक्तिकी अपेक्षा सब आत्माएँ समान हैं। इसका यह तात्पर्य हुआ कि प्रत्येक आत्मामें इस प्रकारकी शक्ति है कि सम्पूर्ण ज्ञानको अभिव्यक्त करे। आत्मा सर्व जगत् और सर्वकालके पदार्थोंको तथा उनकी अवस्थाओंको जान सकता है, जो विषय कोई एक आत्मा जानता है, अतीतमें जिसे जाना था, अथवा भविष्यत्में जिसे जानेगा, उसे दूसरा आत्मा भी जान सकता है। भूतकालमें किसी एकने जितना ज्ञान प्राप्त किया होगा उसे कोई भी आज विद्यमान प्राणी जान सकता है। इसी प्रकार वर्तमानमें किसीके द्वारा जाना गया पूर्ण ज्ञान तथा भविष्यत्में किसी प्राणीके द्वारा ज्ञानकी विषय-भूत बनायी जाने वाली वस्तुको हममें से कोई भी जान सकता है। इस प्रकार कालत्रयसम्बन्धी ज्ञान सब आत्माओंमें सम्भव हो सकता है। क्या आकाश हमारे ज्ञानको मर्यादित

कर सकता है ? संक्षेपमें कहना होगा कि सर्वज्ञ बननेकी क्षमता सब आत्माओंमें है—वर्तमान कालमें अनेक पदार्थ अज्ञात रहते हैं पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वे सदा अज्ञात ही रहेंगे । यह निर्विवाद है कि जो पदार्थ सत्यान्वेषी समर्थ हृदयोंमें प्रतिभासित नहीं होते हैं, उनका अस्तित्व कभी भी सिद्ध नहीं किया जाता और इसलिए उनका अभाव हो जायगा ।”

उपर्युक्त अवतरणसे आत्माकी सकल पदार्थोंको साक्षात् ग्रहण करनेकी शक्ति स्पष्ट होती है । त्रिकालवर्ती अनन्त पदार्थोंको क्रम-क्रम से जानना असम्भव है, अतः सर्वज्ञताके तत्त्वको स्वीकार करनेपर युगपत् ही सर्व पदार्थोंका ग्रहण स्वीकार करना होगा । मर्यादापूर्ण क्रमवर्ती अल्पज्ञ भी विशेष आत्मशक्तिके बल पर स्व० राजचंद्र भाईके समान शतावधानी–एक साथ सौ बातोंको अवधारण करनेकी जब क्षमता दिखाता है, तब संपूर्ण मोहनीय तथा ज्ञानावरणादि विकारोंके पूर्णतया क्षय होनेसे यदि आत्म-शक्ति पूर्ण विकसित हो एक क्षणमें त्रैकालिक समस्त पदार्थोंको जान ले तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । हां, आत्मशक्ति और उसके वैभवको भूलकर मोह-पिशाचसे परतन्त्र किये गये प्राणियोंकी दुर्बलताकी छाप (छाया) समर्थ आत्माओंपर लगाना यथार्थमें आश्चर्यकारी है । भौतिकताके भयङ्कर भारसे अभिभूत जगत् जहां आत्मतत्त्वके अस्तित्वको स्वीकार करनेमें कठिनताका अनुभव करता है, वहाँ त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको युगपत् ग्रहण करनेकी बात उसके अन्तःकरणमें बड़े कष्टसे प्रविष्ट हो सकेगी । किन्तु सूक्ष्म चिन्तक और यौगिक साधनाओंके बलपर चमत्कारपूर्ण आत्मविकासको स्वीकार करनेवाले सर्वज्ञताको सहज शिरोधार्य कर उसे जीवनका चरम लक्ष्य स्वीकार करेंगे । इस सर्वज्ञता (Omniscience) के

उत्पन्न होनेके पूर्व आत्मासे राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादि विकारोंका पूर्णतया विनाश हो जाना आवश्यक है। बिना इनके पूर्ण विनाश हुए आत्माका विकास नहीं हो सकता। निर्विकार परम ज्योति परमात्मा अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य सदृश गुणोंसे अलङ्कृत होता है। वह संसारके राग-द्वेषमय प्रपंचसे पृथक् रह स्वरूपमें निमग्न रहते हुए प्रेक्षकका कार्य करता है। सन्मार्गका प्रकाशन ऐसी आत्माके द्वारा विशेष समयपर होता है। उनका जीवन ही विश्वके लिए धर्मका महान् उपदेष्टा होता है।

जगदुद्धारके लिए यह परमात्मा मानवरूपमें अवतार धारण करने आता है यह मान्यता उचित नहीं है। कारण, यदि जगत्के प्रति तनिक भी मोह रहा तो सर्वज्ञताका परम प्रकाश उस परम आत्माको नहीं मिलेगा। अवतारवादके विषयमें यह बात जाननी चाहिए कि विशेष परिस्थितिमें आवश्यकतानुसार धर्मसंस्थापन तथा अधर्म-उन्मूलनके लिए कोई सच्ची लगनवाला साधारण मानव अपनी आत्मशक्तियोंका विकासकर विश्वोपदेष्टाका कार्य करता है और उसी समर्थ एवं पूर्ण आत्माको जगत् दिव्यात्माके रूपमें देखता है, मानता है तथा अर्चना करता है।

देखिए, आचार्य **अमितगति** कितने मार्मिक शब्दोंमें ऐसे स्वपुरुषार्थके द्वारा बने परमात्माका मंगलमय स्मरण करते हैं और जिससे जैन-धर्मके मान्य परमात्म-स्वरूपका भी स्पष्टीकरण सुन्दर रूपमें प्रत्यक्ष हो जाता है—

"यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैर्यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥ १२॥
यो दर्शनज्ञानसुखस्वभावः समस्तसंसारविकारबाह्यः।
समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥ १३॥

निषूदते यो भवदुःखजालं निरीक्षते यो जगदन्तरालम् ।
योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीयः स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१४॥
विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो यो जन्ममृत्युव्यासनाद्यतीतः ।
त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्कः स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १५ ॥
क्रोडीकृताशेषशरीरिवर्गाः रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः ।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १६ ॥
यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तेः सिद्धो विबुद्धो धुतकर्मबन्धः ।
ध्यातो धुनीते सकलं विकारं स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१७॥"

—भावनाद्वात्रिंशतिका ।

विश्व-स्वरूप

जो विश्व सर्वज्ञ, वीतराग परमात्माकी ज्ञान-ज्योतिके द्वारा आलोकित किया जाता है उसके स्वरूपके सम्बन्धमें विशेष विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। जब तत्त्व-ज्ञानके उदय तथा विकासके लिए सात्त्विक भावापन्न व्यक्ति यह सोचता है—

"को मैं? कहा रूप है मेरा? पर है कौन प्रकारा हो?
को भव-कारन? बंध कहा? को आस्रव-रोकनहारा हो?
खिपत बंध-करमन काहे सों? थानक कौन हमारा हो?

—कविवर भागचन्द्र

तब आत्म-स्वरूपके साथ-साथ जगत्के अन्तस्तलका सम्यक् परिशीलन भी अपना असाधारण महत्त्व रखता है। साधारणतया सूक्ष्म चर्चाकी कठिनतासे भीत व्यक्ति तो यह कहा करता है कि विश्वके परिचयमें क्या धरा है, अरे, लोक-हित करो और प्रेमके साथ रहो ; इसीमें

सब कुछ है। ऐसे सत्त्व-शून्य व्यक्तियोंको पथप्रदर्शक यदि माना जाए तो जगत्में ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल आदिके विकासादिका अभाव होगा। यह सत्य है कि कृतिमें पवित्रताका प्रवेश हुए बिना परमधामकी प्राप्ति नहीं होती; किन्तु उस कृतिके लिए सम्यक् ज्ञानका दीप आवश्यक है, जो अज्ञान-अंधकारको दूर करे ताकि मार्ग और अमार्गका हमें सम्यक्बोध हो। जगत्की विशालता और उसके रंगमंचपर प्रकृति नटीकी भाँति-भाँतिकी लीलाओंके अध्ययनसे सम्यक् आचरणको जितना बल और प्रेरणा प्राप्त होती हैं, उतनी अन्य उपायोंसे नहीं। रेलका एंजिन जिस तरह वाष्पके बिना अवरुद्ध-गति हो जाता है, उसी तरह विश्व क्या है, उसमें मेरा क्या और कौनसा स्थान है, आदि समस्याओं के समाधानरूपी बलके अभावमें जीवनकी रेल भी मुक्ति-पथमें तनिक भी नहीं बढ़ती।

जिस प्रकार आजका शिक्षित भौतिक शास्त्रोंके विषयमें सूक्ष्म-से-सूक्ष्म गवेषणा और शोधका कार्य करता है तथा अपने कार्यमें अधिक संलग्नताके कारण वह अपने प्राणोंका खेल करनेसे भी मुख नहीं मोड़ता, यदि उस प्रकारकी निष्ठा और तत्परता आत्म-विकासके अङ्ग-भूत विश्वके रहस्य-दर्शनके लिए दिखाए तो कितना हित न हो? समय और शक्तिके अपव्ययकी विचित्र सूझ आत्माके सच्चे कल्याणकी बात सोचने-समझनेके मार्गमें उपस्थित की जाती है। किन्तु आत्माको विषय-भोगोंमें फंसा परतन्त्र और दु:खी बनानेवाली सामग्रीका संग्रह करना अथवा चर्चामें समस्त जीवनकी आहुति करना भी जीवनका सद्व्यय समझा जाता है—कैसी विचित्र बात है यह!

यदि इस विश्वका वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाए तो विदित होगा कि दृश्य-जगत्में सचेतन तत्त्व (इसे उपनिषदोंमें 'आत्मा' कहा गया है)

और अचेतन तत्त्वोंका सद्भाव है। 'सत्यं ब्रह्म, जगन्मिथ्या'—एक ब्रह्म ही तो सत्य है और शेष जगत् काल्पनिक सत्य है—स्पष्ट शब्दोंमें मिथ्या है। यह वेदान्तियोंकी मान्यता वास्तविकतासे समन्वय नहीं रखती। आत्म-तत्त्वका सद्भाव जितने रूपमें परमार्थ है, उतने ही रूपमें अचेतन तत्त्व भी वास्तविक है। दार्शनिक विश्लेषणकी तुलापर सत्यकी दृष्टिसे सचेतन-अचेतन[1] दोनों तत्त्व समान हैं। अतः जगत्को मिथ्या माननेपर ब्रह्मकी भी वही गति होगी।

तत्त्वमें उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश स्वभाव पाया जाता है। ऐसी कोई सदात्मक वस्तु नहीं है, जो केवल स्थितिशील ही हो तथा उत्पत्ति और विनाशके चक्रसे बहिर्भूत हो। जैन सूत्रकार आचार्य उमास्वामीने लिखा है—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'[2]। इस विषयमें पञ्चाध्यायीकार लिखते हैं कि—'तत्त्वका लक्षण सत् है। अभेद दृष्टिसे तत्त्वको सत्स्वरूप कहना होगा। यह सत् स्वतः सिद्ध है—इसका अस्तित्व अन्य वस्तुके अवलम्बनकी अपेक्षा नहीं करता। इसी कारण, यह तत्त्व अनादि निधन है—स्वसहाय और विकल्प-रहित भी है।[3]

साधारण दृष्टिसे एक ही वस्तुमें उत्पत्ति-स्थिति-व्ययका कथन असम्भव बातोंका भाण्डार प्रतीत होगा। किन्तु सूक्ष्मविचार भ्रमका क्षणमात्रमें उन्मूलन किए बिना न रहेगा। यदि 'आम' को पदार्थ (तत्त्व) का स्थानापन्न समझा जाए, तो कहना होगा कि कच्चे आममें पकनेके समय हरेपनका विनाश हुआ, पीले रंगवाली पकी

---

१ पं० राहुलजीने इस विषयको असत्य रूपसे 'दर्शन-दिग्दर्शन'में लिखा है।

२ तत्त्वार्थसूत्र ५।३०।

३ "तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च॥"

अवस्थाका उसी समय प्रादुर्भाव हुआ और इन दोनों अवस्थाओंको स्वीकार करनेवाले आमका स्थायित्व-ध्रौव्यत्व बना रहा। यह तो उस 'सत्' के दर्शनकी दृष्टिका भेद है जो एक सत् अथवा तत्त्व त्रिविध रूपसे ज्ञान-गोचर बनता है। आमकी पीली अवस्थापर दृष्टि डालनेसे सत्का उत्पाद हमारे दृष्टि-बिन्दुमें प्रधान बनता है। विनाश होनेवाले हरे रंगको लक्ष्य-गोचर बनानेपर सत्का विनाश हमें दिखता है। आम-सामान्यपर दृष्टि डालनेपर न तो उत्पाद मालूम होता है और न व्यय। इस आमके समान विश्वके सम्पूर्ण पदार्थ उत्पाद, व्यय, तथा ध्रौव्य युक्त हैं। तार्किक समन्तभद्रने इसीलिए तत्त्वको पूर्वोक्त त्रिविधताओंसे समन्वित स्वीकार किया है—'तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम्'[१]।

इस त्रिविध तत्त्वदृष्टिमें किन्हींको तीव्र विरोधका दर्शनरूपी तर्काभास चैन नहीं लेने देता। उन्हें इस बातको ध्यानमें रखना होगा, कि तत्त्व-दर्शनकी तीन दृष्टियोंके परिणाम-स्वरूप वह सत् त्रयात्मक प्रतीत होता है। विरोध तो तब हो जब एक ही दृष्टिसे तीनों बातोंका वर्णन किया जाए। नवीन पर्यायकी अपेक्षा उत्पाद कहा है और पुरातन पर्यायकी दृष्टिसे व्यय बतलाया है। नवीन पर्यायकी दृष्टिसे उत्पादके समान व्यय कहा जाए अथवा पुरातन पर्यायकी अपेक्षासे ही व्ययके समान उत्पाद माना जाए अथवा ध्रौव्यता स्वीकार की जाए तो विरोध तत्त्वकी अवस्थितिको संकटापन्न बनाए बिना न रहेगा। स्याद्वादकी सञ्जीवनीके संस्पर्शको प्राप्त करनेपर विरोधादि विकारोंका विष तत्त्वका प्राणापहरण न कर उसे अमर-जीवन प्रदान करता है। इस स्याद्वाद विद्याके विषयमें विशद विवेचन आगे किया जाएगा। इस प्रसंगमें इतनी बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि कोई

१ आप्तमीमांसा श्लो० ६०।

वस्तु एकान्तसे स्थितिशील उत्पत्ति अथवा विनाशात्मक नहीं पायी जाती। अत एव वेदान्तियोंका ब्रह्म जितना अधिक सत्य है, उतने ही सत्य अन्य तत्त्व भी हैं।

विज्ञान-विचारसम्पन्न दार्शनिकचिन्तन तो यह बताता है कि सम्पूर्ण विश्वपर्याय अवस्था (Modification) की दृष्टिसे क्षण-क्षणमें परिवर्तनशील है। इस दृष्टिसे तत्त्वको क्षणिक विनाशीक अथवा असत्‌रूप धारण करनेवाला भी कह सकते हैं। यदि उस तत्त्वपर द्रव्य (Substance) की अपेक्षा विचार करें तो तत्त्वको आदि और अन्तरहित अङ्गीकार करना होगा। सर्वथा असत् या अभावरूप होनेवाली वस्तुको आधुनिक-विज्ञानका पण्डित भी तो नहीं मानता। वस्तु कितने ही उपायों द्वारा मृत्यु अथवा विनाशके मुखमें प्रविष्ट करायी जाए, उसका समूल नाश न होकर मूलभूत तत्त्व अवश्य अवस्थित रहेगा। इस महान् सत्यको स्वीकार करने पर विश्व-निर्माण-कर्त्ता ईश्वरको न मानते हुएभी जगत्‌की सुव्यवस्था आदिमें बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि यह जगत् सत्‌स्वरूप होनेसे अनादि और अनिधन है—अनन्त है। भला, जिन तत्त्वोंकी अवस्थितिके लिए स्वयंका बल प्राप्त है, दूसरे शब्दोंमें जो स्वका अवलम्बन करनेवाले आत्म-शक्तिका आश्रय तथा सहयोग प्राप्त करनेवाले हैं, उनके भाग्य-निर्माणकी बात अन्य विजातीय वस्तुके हाथ सौंपना अनावश्यक नहीं, वस्तु स्वरूपकी दृष्टिसे भयङ्कर अत्याचार होगा। एक द्रव्य जो स्वयं निसर्गतः समर्थ, स्वावलम्बी, स्वोपजीवी है, उसपर किसी अन्य शक्तिका हस्तक्षेप होना न्यायानुमोदित नहीं कहा जा सकता। वास्तवमें देखा जाए तो जगत् प्रदार्थोंके समुदायका ही नाम है—पदार्थपुञ्जको छोड़ विश्व नामकी और कोई वस्तु ही नहीं जो अपने स्रष्टाका सहारा चाहे। वस्तुका स्वाभाविक

स्वरूप ऐसा है कि उन्हें अन्य भाग्य-विधाताकी कोई आवश्यकता नहीं है, जिसकी इच्छानुसार वस्तुको विविध परिणमनरूप अभिनय करनेके लिए बाध्य होना पड़े। विधाताके भक्तोंके मस्तिष्कमें आदि तथा अन्त-रहित स्रष्टाके लिए जिस युक्ति तथा श्रद्धाके कारण स्थान प्राप्त है वही औदार्य अन्य वस्तुओंको अनादि निधन माननेमें प्रदर्शित करना चाहिए। इस प्रकार जब विश्व अनादि-निधन है, तब बाइबिलकी यह मान्यता कि "परमात्माने छह दिनमें सम्पूर्ण जगत्को बनाया, मनुष्यके आकारको बना फूंक मारकर उसमें रूह पैदा कर दी, इस महान् कार्यके करनेसे श्रान्त होनेके कारण रविवारको वह विश्राम करता रहा।" तार्किकताकी कसौटीपर अथवा दार्शनिक परीक्षण-अग्निमें नहीं टिक पाती।

जिस प्रकार सचेतन तत्त्व अनादि-निधन है, उसी प्रकार अचेतन तत्त्व भी है। ब्रह्मरूप अण्डसे विश्वकी उत्पत्ति जिस तरह एक मनोहर कल्पना मात्र है, जिसका सत्यसे कोई सम्बन्ध नहीं है, उसी तरह पश्चिमके पण्डित लाप्लास महाशयका यह कहना, कि पहिले जगत्में सचेतन-अचेतन नामकी वस्तु नहीं थी; न पशु-पक्षी थे, न मनुष्य थे और न दृश्यमान पदार्थ ही। पहिले सम्पूर्ण सौर-मण्डल प्रकाशमान गैस रूपमें पिण्डित था, जिसे नेबुला (Nebula) कहते हैं। धीरे-धीरे शीतके निमित्तसे वह वाष्प द्रव और दृढ़ पदार्थ बन चला; उसका ही एक अंश हमारी पृथ्वी है। सचेतन जगत्के विषयमें कल्पनाका आश्रय लेनेवाले यह पश्चिमी विद्वान् कहते हैं कि 'अमीबा' नामक तत्त्व विकास करते हुए पशु-पक्षी, मनुष्य आदि रूपमें प्रस्फुटित हुआ। एक ही उपादानसे बननेवाले प्राणियोंकी भिन्नताका कारण डारविन अकस्मात्वादको बताता है; किन्तु ले मार्कका अनुमान है कि बाह्य परिस्थितियोंने परिवर्तन और

परिवर्धनका कार्य किया है, जिसमें अभ्यास, आवश्यकता, परम्परा आदि विशेष निमित्त बनते हैं। विकास सिद्धान्तके महान् पण्डित डारविन महाशयने ही यह नवीन तत्त्व खोजकर बताया, कि मनुष्य बन्दरका विकास-युक्त रूप है। प्रतीत होता है कि यूरोपियन होनेके कारण डारविनको सन्तुलनके लिए अपने देशवासी बन्दर और मनुष्योंके विषयमें चिन्तना करनी पड़ी होगी। इसीलिए, विनोद-शील शायर अकबर कहते हैं—

वकौले डारविन हजरते आदम थे बुज़ना (बन्दर)।
हो यकीं हमको गया यूरोपको इंसां देखकर ॥

यह बताया जा चुका है कि विश्वमें सचेतन-अचेतन तत्त्वोंका समुदाय विश्व-विविधता तथा ह्रास अथवा विकासका कार्य किया करता है। आत्मतत्त्वके स्वतन्त्र अस्तित्वके विषयमें पर्याप्त विचार हो चुका; अतः जड़तत्त्वके विषयमें विशेष विचार करना आवश्यक है। जिस जड़-तत्त्वका हम स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा कर्ण इन पाँच इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण अथवा उपभोग करते हैं, उस जड़तत्त्वको जैन दार्शनिकोंने 'पुद्गल' संज्ञा दी है। इसमें स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण पाये जाते हैं उसे पुद्गल (Matter) या मैटर कहते हैं। सांख्य दर्शनके शब्दकोशका 'प्रकृति' शब्द पुद्गलको समझनेमें सहायक हो सकता है। अन्तर इतना है कि प्रकृति सूक्ष्म है और जिस प्रकार पुद्गलका प्रत्येकको अनुभव होता है इस प्रकार प्रकृतिका बोध तब तक नहीं होता जब तक कि वह महत् अहंकार आदि रूपमें विकसित होती हुई बृहत् मूर्तिमान् रूपको धारण न कर ले।

पुद्गलमें स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्णका सद्भाव अवश्यम्भावी है[1]।

---

१ "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।" –त० सूत्र, उमास्वामी, अ० ५ सू० २३।

ये चारों गुण प्रत्येक पुद्गलके छोटे-बड़े रूपमें अवश्य होंगे। ऐसा नहीं है कि किसी पदार्थमें केवल रस अथवा गन्ध आदि पृथक् पृथक् हों। जहाँ स्पर्श आदिमेंसे एक भी गुण होगा, वहाँ अन्य गुण प्रकट या अप्रकट रूपमें अवश्य पाये जाएँगे। वैशेषिक दर्शनकारकी दृष्टिमें वायुमें केवल स्पर्श नामका गुण दिखायी देता है। यथार्थ बात यह है कि पवनमें स्पर्शके समान रस, गंध, वर्ण आदि भी हैं पर वे अनुद्भूत अवस्थामें हैं। यदि केवल स्पर्श ही पवनका गुण माना जाए तो हाइड्रोजन, ऑक्सीजन नाम की पवनोंके संयोगसे उत्पन्न जलमें भी पवनके समान रूपका बोध नहीं होना चाहिए था। जब जलपर्यायमें रूप आदिका बोध होता है तब उसके बीजरूप पवनमें भी स्पर्श आदिके समान रूप आदिका भी सद्भाव स्वीकार करना चाहिए। इसी प्रकार जड़-तत्त्वके विषयमें अनेक दार्शनिकोंकी भ्रान्त धारणाएँ हैं। वस्तुतः देखा जाए तो पुद्गल अगणित रूपसे परिवर्तनका खेल दिखाकर जगत्को चमत्कृत किया करता है। चार्वाकके समान पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुरूप भूतचतुष्टय पृथक् अस्तित्व नहीं रखते। जो पुद्गल-परमाणु पृथ्वीरूपमें परिणत होते हैं, अनुकूल सामग्री पाकर उनका जल पवनादिरूप परिवर्तन हुआ करता है। दृश्यमान जगत्में जो पौद्गलिक खेल है उसके आधारभूत प्रत्येक [1]पुद्गलमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण पाया जाएगा।

वैशेषिक दर्शन अग्निके तेजस्वी रूपके समान सुवर्णके तेजपूर्ण वर्ण-को देख उसमें अनुद्भूत अग्नि तत्त्वकी अद्भुत कल्पना करता है।[2]

---

१ "भेदात् संघातात् भेदसंघाताभ्यां च पूर्यन्ते गलन्ते वेति पूरणगलनात्मिका क्रियामन्तर्भाव्य पुद्गलशब्दोऽन्वर्थः·· "–तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ० १९०। अ० ५ सू० ११।

२ "सुवर्णं तैजसं, असति प्रतिबन्धकेऽत्यन्ताग्निसंयोगेऽपि अनुच्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणत्वात्"—तर्कसंग्रह पृ० ८।

यदि शक्तिकी अपेक्षा कहा जाए तो जलीय परमाणुओं तकमें अग्निरूप परिणत होनेकी भी सामर्थ्य है। इतना ही क्यों, वह तो अनन्त प्रकारका परिणमन दिखा सकते हैं। ऐसी स्थितिमें सुवर्णमें अनुद्भूत अग्नितत्त्वसदृश विचित्र वैशेषिक मान्यताएँ सत्यकी भूमिपर प्रतिष्ठा नहीं पातीं।

सांख्यदर्शन जड़ प्रकृतिको अमूर्तीक मान मूर्तिमान् विश्वकी सृष्टिको उसकी कृति स्वीकार करता है। पर वैज्ञानिकोंको इसे स्वीकार करनेमें कठिनता पड़ेगी कि अमूर्तीकसे मूर्तीककी निष्पत्ति किस न्यायसे सम्भव होगी? जैन दार्शनिक पुद्गलके परमाणुतकको मूर्तिमान् मानकर मूर्तिमान् जगत्के उद्भव को बताते हैं।

रेडियो, ग्रामोफोन, अणुबम आदि जगत्को चमत्कृत करनेवाली वैज्ञानिक शोध और कुछ नहीं पुद्गलकी अनन्त शक्तियोंमेंसे कतिपय शक्तियोंका विकासमात्र है। वैज्ञानिक लोग एक स्थानके संवादको 'ईथर' नामके काल्पनिक माध्यमको स्वीकार कर सुदूर प्रदेशमें पहुँचाते हैं। इस विषयमें हजारों वर्ष पूर्व जैन वैज्ञानिक ऋषि यह बता गये हैं कि पुद्गल-पुंज (स्कन्ध) की एक सबसे बड़ी महास्कन्ध[1] नामकी सम्पूर्ण लोकव्यापी अवस्था है। वह अन्य भौतिक वस्तुओंके समान स्थूल नहीं है। उस सूक्ष्म किन्तु जगत्-व्यापी माध्यमके द्वारा सुदूर प्रदेशके संवाद आदि प्राप्त होते हैं। शब्द उस पुद्गलकी ही परिणति है। आज भौतिकविज्ञानके पण्डितोंने शब्दका संग्रह करना, यन्त्रोंके द्वारा घटाने-बढ़ाने आदि कार्योंसे उसे भौतिक या पौद्गलिक माननेका मार्ग सरल कर दिया है, अन्यथा वैशेषिक दर्शनवालोंको यह समझाना अत्यन्त

---

१ "तत्रान्त्यं (स्थौल्यं) जगद्व्यापिनि महास्कन्धे।" —पूज्यपादः सर्वार्थसिद्धि ५–२४।

कठिन था कि शब्दको आकाशका गुण कहनेवाली उनकी मान्यता संशोधनके योग्य है। शब्दको अनादि आकाशका गुण मान मीमांसक लोग भी वेदको अपौरुषेय सिद्ध करनेमें एड़ीसे चोटी तक पसीना बहाया करते थे। इस तरह शब्दको पुद्गलकी पर्याय माननेपर अनेक पुरातन भारतीय दार्शनिकोंकी भ्रान्त धारणाएँ धराशायी हो जाती हैं।

पुद्गलकी अचिन्त्य शक्ति जैन सन्तोंके प्रकृतिके सूक्ष्म अध्ययनकापरिणाम है। पार्थिव पत्थरका कोयला अग्निरूप परिणत होते देखा जाता है, सीपके आधारको पाकर जलविन्दुका पार्थिव मोतीरूपमें परिणमन होता है। इस प्रकार विचित्र पौद्गलिक परिणतिको हृदयंगम करते हुए दर्शन शास्त्रकी भूल-भुलैयासे मुमुक्षुको अपने मस्तिष्ककी रक्षा करनी चाहिए।

इस पुद्गलसे सम्बद्ध जीव जगत्में अगणित रूप धारण करता है। ज्ञान और आनन्दस्वरूप आत्माको पौद्गलिक शक्तियाँ ही इस शरीररूपी कारागारमें बन्दी बना अपनी विचित्र शक्तिका प्रदर्शन करती हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वृक्ष, पवन आदि शरीरोंको धारण कर यह जीव पृथ्वी आदि नामसे पुकारा जाता है—तत्त्वतः सब आत्माएँ समान हैं। यह पुद्गलकी पोशाक ही उनमें पार्थक्यकी प्रतीति कराती है। पृथ्वी, जल अदि रूपमें पुद्गलके निमित्तसे जीवकी परिणति जानकर तथा उसका यथार्थ रहस्य न समझ कुछ शोधक विद्वान्[1] यह विचित्र धारणा

---

१ "This doctrine is...entirely misunderstood by oriental scholars, who go to the extent of attributing to Jain Philosophy a primitive doctrine of animism, that earth, water, air, ets. have their own souls."

Prof. A. Chakravarty in the cultural Heritage of India -P, 202

कर बैठे कि जैनियोंने संपूर्ण पृथ्वी, जल, पवनरूप स्वतंत्र एक-एक जीवात्मा स्वीकार किया है। उन्हें मालूम होना चाहिए कि पाषाण, मृत्तिका, जल, हिम, अग्नि आदिमें अनन्त विकास-शून्य आत्माओंका सद्भाव जैन दार्शनिकोंने माना है। [1]उत्तररामचरित्रमें वर्णित देवी सीताका पृथ्वी माताकी गोदमें समा जानेवाली बात यहाँ नहीं स्वीकार की गयी है। इस विशाल पृथ्वीको पुद्गलकी स्थूल पर्याय मात्र माना गया है; उसमें मातृत्व अथवा देवीपनेकी कल्पना जैन वैज्ञानिकोंने स्वीकार नहीं की।

इस पुद्गलका सबसे छोटा अंश जिसका दूसरा भाग न हो सके परमाणु कहलाता है। यह परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होता है। जब स्निग्धता और रूक्षताके कारण दो या अधिक परमाणु मिलकर बँधते हैं, तब पुंजीभूत परमाणुपिण्डको 'स्कन्ध' कहते हैं। वैशेषिक दर्शन अपनी स्थूल दृष्टिसे सूर्यके प्रकाशमें चलते फिरते धूलि आदिके कणोंको परमाणु समझता है। ऐसे कथित तथा विभागरहित कहे जानेवाले वैशेषिकके परमाणुओंके वैज्ञानिकोंने विद्युत् शक्तिकी सहायतासे अनेक विभाग करके अणुवीक्षण यंत्रसे दर्शन किए हैं। जैन दार्शनिकोंकी सूक्ष्मचिन्तना तो यह बताती है कि किसी भी यंत्र आदिकी सहायतासे परमाणु हमारे नयन-गोचर नहीं हो सकता। जो पदार्थ चक्षु-इन्द्रियके द्वारा ग्रहीत होते हैं, वे अनन्त परमाणुओंके पिण्डीभूत स्कन्ध हैं। वैज्ञानिक जिसे परमाणु कहेंगे, जैन दार्शनिक उसमें अनन्त सूक्ष्म परमाणुओंका सद्भाव बताएँगे। इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण विकृतिका नाश करनेवाले सर्वज्ञ

---

१ "पृथ्वी—एहि वत्से पवित्रीकुरु रसातलम्। रामः—हा प्रिये! लोकान्तरं गता हि। सीता—णेदु मं अत्तणो अङ्गेसु विलअं अम्बा। ण सक्कम्हि ईदिसं जीअलोअपरिवत्तं अणुभविदुं।"......सप्तमाङ्क. पृ० १८६, १८७।

परमात्माकी दिव्य ज्ञान ज्योतिसे प्रकाशित तत्त्वोंका उन्हें बोध प्राप्त हुआ है। इसीलिए वैज्ञानिकोंने जो पहिले लगभग दो दर्जन से भी अधिक मूल तत्त्व (Elements) माने थे और अब जिनकी संख्या बहुत कम हो गयी है, उनके विषयमें जैनाचार्योंने कहा है कि स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले अनेक तत्त्व नहीं हैं। एक पुद्गल तत्त्व है जिसने बड़े-बड़े दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकोंको भूलभुलैयामें फंसा अनेक मूल तत्त्वके माननेको प्रेरित किया।

वैशेषिकदर्शनकी नौ द्रव्यवाली[1] मान्यतापर विचार किया जाए, तो कहना होगा कि पृथ्वी, अप्, तेज, वायु नामक स्वतंत्र तत्त्वोंके स्थानपर एक पुद्गलको ही स्वीकार करनेसे कार्य बन जाता है क्योंकि उनमें स्पर्शादि पुद्गलके गुण पाये जाते हैं। दिक् तत्त्व आकाशसे भिन्न नहीं, आदि।

जीव तथा पुद्गलमें क्रियाशीलता पायी जाती है। इनको स्थानसे स्थानान्तररूप क्रियामें सामान्य रूपसे तथा उदासीन सहायक रूपमें धर्म द्रव्य (Medium of Motion) नामके माध्यमका अस्तित्व माना गया है। इसके विपरीत जीव और पुद्गलकी स्थितिमें साधारण सहायक माध्यमको अधर्म द्रव्य (Medium of Rest) कहा गया है। ये धर्म और अधर्म द्रव्य जैन दर्शनके विशिष्ट तत्त्व हैं। जगत्-प्रख्यात सत्कर्म-असत्कर्म, पुण्य-पाप अथवा सदाचार-हीनाचारको सूचित करनेवाले धर्म-अधर्मसे ये दोनों द्रव्य पूर्णतया पृथक् हैं। ये गमन अथवा स्थिति कार्यमें प्रेरणा नहीं करते, उदासीनता पूर्वक सहायता देते हैं। मछलियोंको जलमें विचरण करनेमें सरोवरका पानी सहायक है, बलपूर्वक प्रेरणा नहीं करता। श्रान्त पथिकोंको अपनी छायामें विश्रामनिमित्त वृक्ष सहायता

---

१ "पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव"—तर्कसंग्रह सू. २।

करते हैं, प्रेरणा नहीं। इसी प्रकार धर्म-अधर्म नामक द्रव्योंका स्वभाव है और यही उनका कार्य है[1]।

जीव आदिमें नवीनसे प्राचीन बननेरूप परिवर्तनका माध्यम 'काल' (Time) नामका द्रव्य स्वीकार किया गया है। सम्पूर्ण जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, कालको अवकाश-स्थान देने (Localise) वाला आकाश द्रव्य (Medium of Space) माना गया है। धर्म, अधर्म, आकाश ये अखंड द्रव्य हैं। जीव अनन्त हैं। पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त हैं। काल द्रव्य असंख्यात अणु रूप है।[2] कालको छोड़ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश सत्तायुक्त होकर बहुत प्रदेश वाले हैं, इसलिए, इन्हें अस्तिकाय कहते हैं। काल द्रव्यको अस्तिकाय नहीं कहा है, क्योंकि वह परस्पर असम्बद्ध पृथक् पृथक् परमाणु रूप है। धर्म, अधर्म और आकाश तथा कालमें एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमनागमन रूप क्रियाका अभाव है इसलिए इन्हें निष्क्रिय कहा है।[3] आकाशके जिस मर्यादित क्षेत्रमें जीवादि द्रव्य पाये जाते हैं, उसे 'लोकाकाश' कहते हैं और शेष आकाशको 'अलोकाकाश' कहते हैं। एक परमाणु द्वारा घेरे गये आकाशके अंशको प्रदेश कहते हैं। इस दृष्टिसे नाप करने पर धर्म, अधर्म तथा एक जीवमें असंख्यात प्रदेश बताये गये हैं। जीवका छोटे-से-छोटा शरीर लोकके असंख्यातवें भाग विस्तार-वाला रहता है। जैसे दीपककी ज्योति छोटे-बड़े क्षेत्रको प्रकाशित करती है अर्थात् जो ढँका हुआ दीपक एक घड़ेको आलोकित करता है, वही दीपक आवरणके दूर होने पर विशाल कमरेको भी प्रकाशयुक्त करता

---

१ "गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः।" –त० सूत्र ५–१७।

२ देखो, त० सूत्र (मोक्षशास्त्र) अध्याय ५ सूत्र २२, १८, ६।

३ वही सूत्र ४।

है। इसी प्रकार अपनी संकोच-विस्तारशक्तिके कारण यह जीव चिउँटी-जैसे छोटे और गज-जैसे विशाल शरीरको धारण कर उतना संकुचित और विस्तृत होता है। यह बात प्रत्यक्ष अनुभवमें भी आती है कि छोटे-बड़े शरीरमें पूर्णरूपसे आत्माका सद्भाव रहता है। अतः यह दार्शनिक मान्यता, कि या तो जीवको परमाणुके समान अत्यन्त अल्प विस्तारवाला अथवा आकाशके समान महत्-परिमाणवाला स्वीकार करना चाहिए, अनुभव और युक्तिके प्रतिकूल है। उन लोगोंकी ऐसी धारणा है कि आत्माको यदि अणु और महत्-परिमाणवाला न मांना गया तो वह अविनाशीपनेकी विशेषतासे रहित हो जाएगा।

इस विचार-धाराकी आलोचना[1] करते हुए जैन दार्शनिकोंने कहा है कि अणु या महत्-परिमाणवाला पदार्थ ही नित्य हो, अविनाशी हो और मध्यम परिमाणवाले पदार्थ विनाश-शील हों, ऐसा कोई परिमाणकृत नित्यानित्यत्वका नियम नहीं पाया जाता। जब एकान्त नित्य अथवा अनित्य स्वरूप वस्तु ही नहीं है तब अनित्यताकी आपत्तिवश अनुभवमें आनेवाली आत्माकी मध्यम परिमाणताको भुलाकर प्रतीति और अनुभव-विरुद्ध आत्माको अणु परिमाण या महत् परिमाणवाला मानना तर्क-सङ्गत नहीं है। ऐसा कोई अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है कि मध्यम परिमाणवाला अनित्य हो और अन्य परिमाणवाला नित्य। अतः तत्त्वार्थ-सूत्रकारने ठीक लिखा है कि–प्रदीपके[2] समान प्रदेशोंके संकोच-विस्तार के द्वारा जीव लोकाकाशके हीनाधिक प्रदेशोंको व्याप्त करता है।

जैन दार्शनिकोंके द्वारा वर्णित इस जगत्में जीव, पुद्गल, आकाश, काल नामक द्रव्योंकी मान्यताके विषयमें अनेक दार्शनिकोंकी सहमति

---

१ अनंतवीर्य–प्रमेयरत्नमाला—पृ० १०७,८।

२ "प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्।"—त० सूत्र ५।१६।

५

प्राप्त होती है। किन्तु धर्म और अधर्म नामक द्रव्योंका सद्भाव जैन-दर्शनकी विशिष्ट मान्यता है और जिसे माने विना दार्शनिक-चिन्तना परिपूर्ण नहीं कही जा सकती। गम्भीर विचार करनेपर विदित होगा कि जिस प्रकार अपने स्थानपर रहते हुए पदार्थमें नवीनता-प्राचीनता-रूपी चक्रका कारण कालनामक द्रव्य माना है, सम्पूर्ण द्रव्योंकी अव-स्थितिके लिए अवकाश देनेवाला आकाश द्रव्य स्वीकार किया है, उसी प्रकार क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर जानेमें सहायक तथा स्थितिमें सहायक धर्म-अधर्म-नामक द्रव्योंका अस्तित्व अङ्गीकार करना तर्कसङ्गत है।

[1]ये जीवादि छह द्रव्य कभी कम होकर पाँच नहीं होते और न बढ़कर सात होते हैं। जिस प्रकार समुद्रमें लहरें उठा करती हैं, विलीन भी होती हैं, फिर भी जलकी अपार राशिवाला समुद्र विनष्ट नहीं होता; उसी प्रकार परिवर्तनकी भँवरमें समस्त द्रव्य घूमते हुए भी अपने अपने अस्तित्वको नहीं छोड़ते। इस द्रव्यसमुदायमेंसे अपने आत्मतत्त्वको प्राप्त करनेका ध्येय, प्रयत्न तथा साधना मुमुक्षु मानवकी रहा करती है। विश्वका वास्तविक रूप समझने और विचार करनेसे यह आत्मा भ्रमसे बचकर कल्याणकी ओर प्रगति करता है।

इस विश्वके वास्तविक स्वरूपका विचार करते-करते आत्मा विषय-भोगों-से विरक्त हो विलक्षण प्रकाशयुक्त दिव्य जीवनकी ओर झुकता है। देखिए, एक कवि कितने उद्बोधक शब्दोंसे मानव-आकृतिधारी इस लोक और उसके द्रव्योंका विचार करता हुआ आत्मोन्मुख होनेकी प्रेरणा करता है—

लोक अलोक अकाश माहिं थिर, निराधार जानो।
पुरुष रूप कर कटी भये, षट्द्रव्यन सों मानो॥

---

१ "नित्यावस्थितान्यरूपाणि सू"—त०त्र ५-४।

इसका कोई न करता, हरता अमिट अनादी है।
जीव रु पुद्गल नाचै यामैं, कर्म उपाधी है।
पाप-पुन्य सों जीव जगत मैं, नित सुख दुख भरता।
अपनी करनी आप भरै सिर औरन के धरता॥
मोह कर्मको नाश, मेटकर सब जगकी आसा।
निज पदमें थिर होय, लोकके सीस करो वासा॥

—कविवर मंगतराय—बारहभावना

आत्म-जागरणके पथपर—

इस विश्वकी वास्तविकतासे सुपरिचित मानव गम्भीर चिन्तनामें निमग्न हो सोचता है, जब मेरा आत्मा जड़-पुद्गल-आकाश आदिसे गुण-स्वभाव आदिकी अपेक्षा पूर्णतया पृथक् है तब अपने स्वरूपकी उपलब्धिनिमित्त क्यों न मैं समस्त सांसारिक मोहजालका परित्याग कर परम निर्वाणके लिए प्रयत्न करूँ? भगवान् महावीरके समक्ष भी ऐसा ही प्रश्न था, जब तारुण्य-श्रीसे उनका शरीर अलङ्कृत था और उनके पिता महाराज सिद्धार्थ उनसे विवाह-बंधनको स्वीकार कर राजकीय भोगोंकी ओर उनकी चित्तवृत्तिको खींचनेके प्रयत्नमें तत्पर थे। भगवान् महावीरका आत्मा सर्वप्रकार समर्थ एवं परितुष्ट था. इसलिए उसने मकड़ीकी तरह अपना जाल बुनकर और उसीमें फँस जीवन गमानेकी चेष्टा न की, किन्तु सम्पूर्ण विकारोंपर विजय पा परिपूर्ण आत्मत्वको पानेके लिए दुर्बलताओंके वर्धक संकीर्ण गृहवासको तिलाञ्जलि दे दिगम्बरमुद्रा धारण कर आत्मसाधनानिमित्त अन्तः बहिः सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अचौर्यका प्रशस्त पथ स्वीकार किया; और

अपनी सच्ची और सुदृढ़ साधनाके फलस्वरूप उन्होंने कर्म-राशिको चूर्ण कर अनन्त-आनन्द, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-शक्ति, अविनाशी जीवन आदि अनुपम विभूतियोंका अधिपतित्व प्राप्त किया। लेकिन एकदम महावीर बननेके कठिन और लोकोत्तर मार्गपर चलनेकी क्षमता मोही और विषयोंमें फँसे हुए वासनाओंके दासोंमें कहाँ है? जो आत्मा कर्मशत्रुओं-का हस्तक बन अपने आत्मत्वको भूल महाकवि बनारसीदासजीके शब्दोंमें—"ब्रह्मघाती मिथ्याती महापातकी" के नामसे पुकारा जाता है, वह भला कैसे आत्म-जागरणके उज्ज्वल पथपर एकदम चल सकता है?

रोगाक्रांत नेत्र जिस प्रकार प्रकाशको देख पीड़ाका अनुभव करते हुए आखोंको मींच अंधेका अनुकरण कराते हैं, इसी प्रकार मोह-रोगसे पीड़ित अविवेकी प्राणी विषय-भोगकी लालसासे आकर्षित हो सम्यक्-ज्ञानके प्रकाशपूर्ण जीवनके महत्त्वको भुला भोगी और विषयासक्तकी जिन्दगीको ही अपने जीवनका आदि तथा चरम लक्ष्य समझता है।

संत-समागम, पवित्र ग्रंथोंका अनुशीलन और सुदैवसे आत्म-निर्मलताके योग्य सुदिनके आनेपर किसी सौभाग्यशालीकी मोहांधकार निमग्न आत्मामें निर्मल ज्ञान-सूर्यके उदयको सूचित करनेवाली विवेक-रश्मियाँ अपने पुण्य प्रकाशको पहुँचा जीवनको आलोकित करने लगती हैं। उस समय वह आत्मा निर्वाणसुखके लिए लालायित हो अपना सर्वस्व माने जानेवाले धन-वैभव आदि परिकरको क्षण-भरमें छोड़नेको उद्यत हो जाता है। ऐसा ही प्रकाश जैन-सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यको ब्रह्मर्षि श्रुतकेवली भद्रबाहु मुनीन्द्रके सान्निध्यमें प्राप्त हुआ था। इसीलिए उनने अपने विशाल-भारतके साम्राज्यको तृणवत् छोड़कर आत्म-संतोष और ब्रह्मानन्दके लिए दिगम्बर अकिंचन मुद्रा धारणकर श्रमणबेलगोला की पुण्य वीथियोंको अपने पद-चिह्नोंसे पवित्र किया था।

जिस प्रकार लौकिक स्वाधीनताका सच्चा प्रेमी सर्वस्वका भी परित्याग कर फाँसीके तख्तेको प्रेमसे प्रणाम करते हुए सहर्ष स्वीकार करता है, उसी प्रकार निर्वाणका सच्चा साधक और मुमुक्षु तिल-तुष मात्र भी परिग्रहसे पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेदकर राग-द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकृतियोंका पूर्णतया परित्याग कर शारीरिक आदि बाधाओंकी ओर तनिक भी दृष्टिपात न कर उपेक्षा वृत्तिको अपनाकर, आत्म-विश्वासको सुदृढ़ करते हुए सम्यक्-ज्ञानके उज्ज्वल प्रकाशमें अपने अचिन्त्य तेजोमय आत्म-स्वरूपकी उपलब्धिनिमित्त प्रगति करता है।

आत्मशक्तिकी अपेक्षा प्रत्येक आत्मा यदि हृदयसे चाहे और प्रयत्न करे, तो वह अनन्त शान्ति, अनन्त-शक्ति, अनन्त-ज्ञान आदिसे परिपूर्ण आत्मत्वको प्राप्त कर सकता है। किन्तु मोह और विषयोंकी आसक्ति आत्मोद्धारकी ओर इसका कदम नहीं बढ़ने देतीं। मोहके कारण कोई-कोई आत्मा इतना अंध और पंगु बन जाता है कि वह अपनेको ज्ञान-ज्योतिवाला आत्मा न मान जड़तत्त्वसदृश समझता है। यह शरीरमें आत्म-बुद्धि करके शरीरके ह्रासमें आत्माका ह्रास और उसके विकासमें आत्म-विकासकी अज्ञ कल्पना किया करता है। प्रबुद्ध कवि दौलतरामजीने ऐसे बहिर्दृष्टि आत्म-विमुख प्राणीका चित्रण करते हुए कहा है कि यह मूर्ख प्रायः सोचा करता है—

"मैं सुखी दुखी मैं रंक राव। मेरे गृह धन गोधन प्रभाव॥
मेरे सुत तिय मैं सबल-दीन। बेरूप सुभग मूरख प्रवीन॥
तन उपजत अपनी उपज जान। तन नसत आपको नाश मान॥
रागादि प्रकट ये दुःख दैन। तिनही को सेवत गिनत चैन॥
शुभ अशुभ बंधके फल मंझार। रति अरति करै निजपद विसार॥"

—छहढाला

इस प्रकार अपने स्वरूपको भूलनेवाला 'बहिरात्मा' 'मिथ्यादृष्टि' अथवा 'अनात्मज्ञ' शब्दोंसे पुकारा जाता है। अनात्मीय पदार्थोंमें आत्म-बुद्धि धारण करनेकी इस दृष्टिको अविद्या कहते हैं। अध्यात्मरामायण-में बताया है—

"देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते।"

'मैं शरीर हूँ' इस प्रकार शरीरमें एकत्वबुद्धि अविद्या कही गयी है। किन्तु 'मैं शरीर नहीं हूँ', 'चैतन्यमय आत्मा हूँ' यह बुद्धि विद्या है।

ऐसा अविद्यावान्, अज्ञानी, मोही प्राणी जितने भी प्रयत्न करता है, उतना ही वह अपनी आत्माको बंधनमें डालकर दुःखकी वृद्धि करता है। यद्यपि शब्दोंसे वह मुक्तिके प्रति ममता दिखाता हुआ कल्याणकी कामना करता है, किंतु यथार्थमें उसकी प्रवृत्ति आत्मत्वके ह्रासकी ओर हो जाती है। मुक्तिके दिव्य-मन्दिरमें प्रवेश पाकर शाश्वतिक शान्तिको प्राप्त करनेकी कामना करनेवालेको साधनाके सच्चे मार्गमें लगना आवश्यक है। इसके लिए आत्माको पात्र बनानेकी आवश्यकता है। इस पात्रताका उदय उस विमल तत्त्वज्ञानीको होता है, जो शरीर आदि अनात्मीय वस्तुओंसे ज्ञान-आनन्दमय आत्माका अपनी श्रद्धासे विश्लेषण करनेका सुनिश्चय करता है। इस पुण्यनिश्चय अथवा श्रद्धाको सम्यक्-दर्शन (Right Belief) कहते हैं। स्व-परके विश्लेषण करनेकी इस शक्तिसे सम्पन्न जीवको अन्तरात्मा कहते हैं। उसकी वृत्ति कमलके समान रहा करती है। जिस प्रकार जलके बीचमें सदा विद्यमान रहनेवाला कमल जल-राशिसे वस्तुतः अलिप्त रहता है, उसी प्रकार वह तत्त्वज्ञ भोग और विषयोंके मध्यमें रहते हुए भी उनके प्रति आंतरिक आसक्ति नहीं

धारण करता। दूसरे शब्दोंमें कमलके समान वह अलिप्त रहता है।

जैन संस्कृतिमें जिनेन्द्र भगवान्‌के चरणोंके नीचे कमलोंकी रचनाका वर्णन पाया जाता है। कमलासनपर विराजमान जिनेन्द्र इस बातके प्रतीक हैं कि वे विषयभोग आदि भौतिक विभूतियोंसे पूर्णतया अलिप्त हैं। इस प्रकार आत्म शक्ति और उसके वैभवकी प्रगाढ़ श्रद्धासम्पन्न व्यक्तिका ज्ञान पारमार्थिक अथवा सम्यक्‌ज्ञान कहा गया है, और उसकी आत्म-कल्याण अथवा विमुक्तिके प्रति होनेवाली प्रवृत्तिको जैन ऋषियोंने सम्यक्‌-चारित्र बताया है। बौद्ध साहित्यमें इसे 'सम्यक्‌-व्यायाम' कहा है।

इन आत्म-श्रद्धा, आत्म-बोध तथा आत्म-प्रवृत्तिको जैन वाङ्मयमें रत्न-त्रयमार्ग कहा है। तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य **उमास्वामीने** अपने मोक्षशास्त्रके प्रथम सूत्रमें लिखा है—

"सम्यग्‌दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।"

इस रत्नत्रयमार्गमें श्रद्धा, ज्ञान तथा आचरणका सुन्दर समन्वय विद्यमान है। इस समन्वयकारी मार्गकी उपेक्षा करनेके कारण हिन्दू-धर्ममें विभिन्न विचारधाराओंकी उद्‌भूति हुई है। कोई श्रद्धासे प्रसूत भक्तिको ही संसारसंतरणका सेतु समझता है, तो ज्ञान-दृष्टिधारी 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'—ज्ञानके विना मुक्ति नहीं हो सकती—कहता है। अर्थात् ज्ञानको ही सब कुछ कहता है। इसने ही ज्ञान-योग नामकी विचारधाराको जन्म दिया। इसका अतिरेक इतना अधिक हो गया, कि ज्ञानयोगकी ओटमें संपूर्ण अनर्थों और पाप-प्रवृत्तियोंका पोषण करते हुए भी पुण्यचरित्र साधुओंके सिरपर सवार होनेका स्वप्न देखता है। कोई कोई ज्ञानकी दुर्बलताको हृदयङ्गम करते हुए क्रियाकांडको ही जीवनकी सर्वस्व निधि बताते हैं। तुलनात्मक समीक्षा करनेपर साधना-का मार्ग उपरोक्त अतिरेकवादकी उलझनसे दूर तीनोंके समन्वयमें प्राप्त

होता है। एक ऋषिने लिखा है—अकर्मण्योंका ज्ञान प्राणहीन है, अविवेकियोंकी क्रिया निःसार है, श्रद्धाविहीन बुद्धि और प्रवृत्ति सच्ची सफलता प्राप्त नहीं करा सकती। अंधे, लंगड़े और आलसी-जैसी बात है—

'अंध पंगु अरु आलसी जुदे जरैं दव लोय।'

साधनाका सच्चा मार्ग वही होगा, जहाँ उपर्युक्त तीनों बातोंका पारस्परिक मैत्रीपूर्ण सद्भाव पाया जाय। उसदिन महावीरजयंतीके जैन महोत्सवके अध्यक्षके नाते नागपुर हाईकोर्टके वर्तमान चीफ जस्टिस **डॉ० सर भवानीशंकर नियोगीने** उपर्युक्त रत्नत्रयरूप साधनाके मार्गका सुन्दर शब्दोंमें वर्णन करते हुए कहा था—The unity of heart, head and hand leads to liberation'—श्रद्धाका प्रतीक हृदय, ज्ञानका आधार मस्तिष्क तथा आचरणका निदर्शक हस्तके ऐक्यसे मुक्ति प्राप्त होती है। शान्तिसे विचार करनेपर समीक्षकको स्वीकार करना होगा, कि आत्मशक्तिकी विशुद्ध श्रद्धा, पुष्ट ज्ञान और तदनुरूप प्रवृत्ति करनेपर ही साधक साध्यको प्राप्त कर सकेगा।

दुनियामें सब प्रकारकी वस्तुएं या विभूतियाँ सरलतासे उपलब्ध हो सकती हैं; किंतु आत्मोद्धारकी विद्याको पाना अत्यन्त दुर्लभ है। किसी विरले भाग्यशालीको उस चिंतामणिरत्नतुल्य परिशुद्ध दृष्टिकी उपलब्धि होती है। अपने पारसपुराणमें **कविवर भूधरदासजी** भगवान् पार्श्वनाथके पूर्व भवोंका वर्णन करते समय वज्रदंत चक्रवर्तीकी भावनाका चित्रण करते हुए कहते हैं—

"धन कन कंचन राजसुख, सबहि सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान॥"

इस प्रकारकी दिव्यज्योति अथवा वैज्ञानिक दृष्टि समन्वित साधककी

जीवनलीला मोही, बहिर्दृष्टि, मिथ्यात्वी कहे जानेवाले प्राणीसे जुदी होती है। वह साधक रागी, द्वेषी, मोही व्यक्तिको भगवान् मानकर अभिवंदना करनेको उद्यत नहीं होता। कारण वह ऐसे कार्यको देवता-सम्बन्धी मूढ़ता समझता है। वह भोगी, धन-दौलत आदि सामग्री धारण करनेवाले तथा हिंसा आदिकी ओर प्रवृत्ति करनेवाले संसार-सागरमें डूबते हुए व्यक्तिको गुरु नहीं मानता, क्योंकि, वह भलीभांति समझता है कि वे तो 'जन्म जल उपल नाव'के समान संसार-सिंधुमें डुबानेवाले कुगुरु हैं। वह समीक्षक नदी, तालाब आदिमें स्नान करनेको कोई आध्यात्मिक महत्त्व न दे, उसे लोक-मूढ़ता मानता है। वह ज्ञान, कुल, ज्ञाति, बल, वैभव, सन्मान, शरीर, तपस्या आदि के कारण अभिमान नहीं करता ; क्योंकि उसकी तत्त्व-ज्ञान ज्योतिमें सब आत्माएँ समान प्रतिभासित होती हैं।

वह गुणवान्का असाधारण आदर करता है। तात्त्विक दृष्टिसम्पन्न चाण्डाल तो क्या, पशु तकका वह देवतासे अधिक सम्मान करता है ; क्योंकि शरीर अथवा बाह्य वैभवके मध्यमें विद्यमान जीवपर अपने तत्त्व-ज्ञानकी ऐक्स-रे नामक किरणोंको डालकर वह सम्यक्-बोधरूपी गुणको जानता है और बाह्य सौंदर्य या वैभवके द्वारा विमुग्ध नहीं बनता। अपनी पवित्र श्रद्धाकी रक्षाके लिए भय, प्रेम, लालच अथवा आशायुक्त हो स्वप्न-में भी रागी-द्वेषी देव, हिंसादिके पोषक शस्त्ररूप शास्त्रों तथा पापमय प्रवृत्ति करनेवाले पाखंडी तपस्वियोंको प्रणाम अनुनय विनय आदि नहीं करता। सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी प्रभुकी वाणीमें उसे अटल श्रद्धा रहती है। संसारके भोगोंको कर्मोंके अधीन, नश्वर, दुःखमिश्रित और पापका बीज जान वह उनकी आकांक्षा नहीं करता। आत्मत्वकी उपलब्धिको देवेन्द्र या चक्रवर्ती आदिके वैभवसे अधिक मूल्यकी आंकता

है। वह शरीरके सौंदर्यपर मुग्ध नहीं होता, कारण कविवर दौलतरामजीकी भाषामें शरीरको—

'पल रुधिर राधमल थैली। कीकस वसादि तैं मैली।'

समझता है। और, जानता है कि यह यथार्थमें कैसी है—

"मत कीज्यौ जी यारी, घिनगेह देह जड़ जानके,
मात-तात रज-वीरज सौं यह, उपजी मल-फुलवारी।
अस्थि, माल, पल, नसा-जालकी, लाल-लाल जल क्यारी ॥मत०॥
कर्म-कुरंग थली-पुतली यह, मूत्र-पुरीष भंडारी।
चर्म-मढ़ी, रिपुकर्म-घड़ी, धन-धर्म चुरावन हारी ॥ मत० ॥
जे जे पावन वस्तु जगतमें, ते इन सर्व बिगारी।
स्वेद, मेद, कफ क्लेदमयी बहु मद गद व्याल पिटारी ॥मत०॥
जा संयोग रोग भव तौलौं, जा वियोग शिवकारी।
बुध तासौं न ममत्व करैं—यह मूढ़-मतिन को प्यारी ॥मत०॥
जिन पोषी ते भये सदोषी, तिन पाये दुख भारी।
जिन तप ठान ध्यानकर शोषी, तिन परनी शिवनारी ॥मत०॥
सुर-धनु, शरद-जलद, जल बुदबुद, त्यौं झट विनशन हारी।
यातैं भिन्न जान निज चेतन, 'दौल' होहु शमधारी ॥
मत कीज्यौ जी यारी, घिनगेह देह जड़ जानके ॥"

इसलिए शरीरके प्रति आदर न करते हुए भी गुणोंसे विशिष्ट शरीरको वह अमूल्य वस्तु मानता है। गुणवान्, वीतराग, निस्पृह, करुणामूर्ति मुनींद्रोंके दुर्बल, मलीन, क्षीण शरीरको वह सौंदर्यके पुंज मोही प्राणियोंके देहकी अपेक्षा अधिक आकर्षक और प्रिय मान उसकी अभिवंदना करता है। उस तत्त्वज्ञकी इस दृष्टिको 'निर्विचिकित्सा' कहते हैं। वह अविद्याके मार्गमें प्रवृत्ति करनेवाले बड़े-बड़े साक्षरोंको स्वरूप बोध न होनेके कारण

अपनी श्रद्धा एवं प्रशंसाका पात्र नहीं मानता। अध्यात्मके प्रशस्त मार्गमें जिनके पाँव आत्मीक दुर्बलताके कारण डगमगाते हैं और कभी २ जिनका आदर्श मार्गसे स्खलन भी हो जाता है, उनकी अपूर्णताओंको यह जगत्में प्रकाशितकर उन आत्माओंके उत्साहको नहीं गिराता है, कारण यह जानता है कि रागादि विकारोंके कारण किससे भूल नहीं होती? भूलको दूर करनेका उपाय निंदा करना या जगत् भरमें ढोल पीटते फिरना नहीं है, बल्कि त्रुटिको सार्वजनिक रूपमें प्रदर्शित न करके उस आत्माके दोषोंका एकांतमें परिमार्जन करनेका प्रशस्त प्रयत्न करना है। कुसंगति, अल्प अनुभव अथवा विशिष्ट ज्ञानियोंके सम्पर्क न मिलनेके कारण सम्यक्ज्ञानके मार्गसे विचलित होते हुए व्यक्तिको अथवा सदाचरणसे आत्मदुर्बलताओंके कारण डिगते हुए व्यक्तिको अत्यन्त कुशलता पूर्वक यह सन्मार्गमें पुनः स्थापित करता है। जब कि अहंकारी प्राणी गिरते हुएको ठोकर मार और भी जल्दी पतनके मुखमें प्रविष्ट कराता है, तब यह मानव प्रकृतिका अध्येता, कर्मोंके विचित्र विपाकका विचार करते हुए डिगते हुए मुमुक्षुको सत्साहस, सद्विचार, सहयोग, सहायता आदि प्रदानकर समुन्नत करनेमें अपनेको कृत-कार्य मानता है।

जिस प्रकार गाय अपने बछड़ेपर अत्यन्त प्रेम धारणकर उसकी विपत्तिका निवारण करती है, उसी प्रकार यह साधक साधनाके मार्गमें उद्यत अन्य साधक बंधुओंके प्रति वात्सल्य-सच्चे प्रेमको धारण करता है। यह पवित्र विज्ञान ज्योतिको प्रकाशमें लाने वाली जिनेन्द्रकी वाणी और उसके द्वारा प्रतिपादित सत्य एवं उसके अंगोपांगोंको विश्वकल्याणनिमित्त दिव्य परमोपदेश, पुण्याचरण, लोकसेवा आदिके द्वारा विश्वमें प्रकाशित करता है, जिससे उत्पथमें फंसे हुए और दम्भी साधकोंके द्वारा भ्रममें फंसाये गये दीन-दुःखी मानवोंका परित्राण हो और वे यथार्थ साधना-पथ

के पथिक बनें। इस तत्त्वको प्रकाशनके प्रशस्त उद्देश्य निमित्ति समय तथा परिस्थितिके अनुसार वह प्रत्येक उचित और वैध मार्गका अवलम्बन कर विश्वकल्याणके क्षेत्रमें अग्रसर होता है।

इन पुण्य कार्योंको करनेमें उस साधकको अवर्णनीय और अचिन्त्य आनन्द प्राप्त होता है। भला, भोगोंमें लिप्त विषयोंके दास उस तत्त्व-ज्ञानीके आत्मस्वरूपका क्या अनुमान कर सकते हैं? मिश्रीकी मिष्टता, वाणीकी नहीं, अनुभवकी वस्तु है। इसी प्रकार परमार्थतः आत्मानुभवका रस अनुभूतिकी ही वस्तु है। एक आचार्य लिखते हैं—

"सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्।"

सम्यक्त्व-आत्मानुभव यथार्थमें बहुत सूक्ष्म है और वह वाणीके परे है।

यह जीव मोहकी मदिरा पीनेके कारण उन्मत्त हो अज्ञानसे उस वास्तविक आनंदसे वंचित रहता है। जिस प्रकार एक कुत्ता सूखी हड्डियों-के टुकड़ोंको अपनी दाढ़में धर चबाता है और अपने मुखसे निकलने वाले रक्तको चाटकर कुछ क्षणके लिए आनन्दका अनुभव करता है और पश्चात् अपनी अज्ञ चेष्टाके कारण व्यथित हो चीखा करता है, उसी प्रकार विषयासक्तिमें कृत्रिम सुखकी झलक देख अनात्मज्ञ मस्त हो अपने आपको भूल जाता है और अपने स्वाभाविक, प्राकृतिक ज्ञान, आनन्द, शक्ति तथा स्वरूपको विस्मृत कर बैठता है तथा विरुद्ध प्रवृत्ति करनेके कारण दीन-हीन बनता है। उसकी अवस्था **बनारसीदासजीके** शब्दोंमें बबूलके पत्ते-जैसी हो जाती है—

"फिरै डांवाडोल सो, करमके कलोलनिमें,
ह्वै रही अवस्था बबूले जैसे पातकी।"

प्रकृतिभक्त कवि **वर्डस्वर्थकी** निम्न पंक्तियाँ इस प्रसंगमें उद्बोधक प्रतीत होती हैं—

'The world is too much with us; late and soon,
Getting and spending, we lay waste our powers
Little we see in Nature that is ours;
We have given our hearts away, a sordid boon ?

अर्थात्—हम सांसारिकतामें आकण्ठमग्न हैं। व्यापार आदिके लेन-देनके हेतु हम प्रातः शीघ्र ही उठते हैं और रात्रिमें देरसे सोते हैं। इस प्रकार हम अपनी शक्तिको नष्ट कर रहे हैं। हमें 'प्रकृति' के लिए कुछ भी चिन्ता नहीं है; यद्यपि वह हमारी स्वयंकी वस्तु है। हमने हृदयको कहीं दूसरी जगह फंसा रखा है। वास्तवमें यह मलिन वरदान बन गया है।

कैसी विचित्र बात है कि यह आत्मा अनन्त अनात्मपदार्थोंकी ओर चक्कर मारने अथवा दौड़ धूप करनेके वैभाविक कार्यको स्वाभाविक मानता है और साधनाके सच्चे मार्गरूप अपने स्वरूपकी उपलब्धिको भार रूप अनुभव करता है। स्वामी कुन्दकुन्द महाराज बताते हैं—

"सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्सवि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलभो विभत्तस्स ॥४॥" —समयसार

काम, भोग और बंधकी कथा इस जीवने अनन्त बार सुनी, उसका अनन्त बार परिचय पाया और अनन्त बार अनुभव भी किया (कारण अमृतचंद्राचार्यके शब्दोंमें 'समस्तलोकका एकछत्र राज्याधीश बलवान् मोहरूपी पिशाचसे गौके सदृश जोता गया है। इसलिए काम, भोग और बंधकी कथा सुलभ मालूम पड़ती है) किन्तु केवल कर्मपुंजसे विभक्त अपने आत्माका एकपना न तो कभी सुना, न परिचयमें आया और न अनुभवमें। इसलिए, यह अपना होते हुए भी सुलभ नहीं मालूम पड़ता।

कर्म-भार हलका होने पर, वीतराग वाणीका परिशीलन करने पर और संतजनोंके समागमसे साधकको वह विमल दृष्टि प्राप्त होती है, जिसके सद्भावमें नारकी जीव भी अनन्त दुःखोंके बीचमें रहते हुए विलक्षण आत्मीक शान्तिके कारण अपनेको कृतार्थ-सा मानता है और जिसके अभावमें अवर्णनीय लौकिक सुखोंके सिंधुमें निमग्न रहते हुए भी देवेन्द्र अथवा चक्रवर्ती भी वास्तविक शांति-लाभसे वंचित रहते हैं। पंचाध्यायीकार कितने बलके साथ यह बताते हैं—

"शक्रचक्रधरादिनां केवलं पुण्यशालिनाम् ।
तृष्णाबीजं रतिः तेषां सुखावाप्तिः कुतस्तनी ॥"

ऐसे साधककी मनोवृत्तिके विषयमें अध्यात्म साधनाके पथमें प्रवृत्त साधकवर बनारसीदासजी अपने नाटक समयसारमें लिखते हैं:—

जैसे निसिवासर कमल रहै पंक ही मैं,
पंकज कहावै पै न वाके ढिग पंक है ।
जैसे मंत्रवादी विषधर सौं गहावै गात,
मंत्रकी संगति वाके बिना विषडंक है ॥
जैसे जीव गहै चिकनाई रहे रूखे अंग,
पानीमें कनक जैसे कायसौं अटंक है ।
तैसे ज्ञानवंत नाना भाँति करतूति ठानै,
किरिया तैं भिन्न मानै यातैं निकलंक है ।।

योगविद्याकी अनुभूति करनेवाले योगिराज पूज्यपाद आत्मबोधको भव-व्याधियोंको उन्मूलन करनेमें समर्थ औषध बतलाते हैं—

"मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः[1] ॥ १५ ॥"

---

१ समाधिशतक।

संसारपरिभ्रमणका कारण पूज्यपाद स्वामीकी दृष्टिमें शरीरमें आत्माकी भावना करना है। विदेहत्व-निर्वाणका बीज आत्मामें आत्म-भावना है—

"देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेः, आत्मन्येवात्मभावना[1] ॥ ७४ ॥"

इस आत्म-दृष्टिके वैभवसे सम्पन्न साधकके पास किसी प्रकारकी भीति नहीं रहती। उसकी दृष्टि सदा अमर जीवन और अविनाशी आनन्दकी ओर लगी रहती है। उसकी श्रद्धामें तो महर्षि कुन्दकुन्दके शब्दोंमें यह बात टंकोत्कीर्णसी हो जाती है, कि मेरा आत्मा एक है, ज्ञान-दर्शन समन्वित है, बाकी सब बाह्य पदार्थ हैं—वे सब संयोग लक्षण वाले हैं, आत्माके स्वरूप नहीं हैं :—

"एगो मे सासदो आदा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग-लक्खणा।" —भावपाहुड

जब ऐसे उज्ज्वल विचार आत्मामें स्थान बना लेते हैं, तब मृत्युसे भेंट करानेवाली मुसीबत भी उस ज्ञानज्योतिमें आत्माको संतप्त नहीं करती। उसका यह अखण्ड विश्वास रहता है, कि मेरा आत्मा जन्म, जरा, मृत्यु आदिकी आपदाओंसे परे है। इनका खेल शरीर अथवा जड़ पदार्थों तक ही सीमित है। आत्मसाधक पूज्यपाद-स्वामी तो अंतरात्माके लिए प्रबोधपूर्ण यह सामग्री देते हैं—

"न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥"—इष्टोपदेश २९

जब मेरी मृत्यु नहीं है, तब भय किस बातका? जब मेरा आत्मा रोगमुक्त

---

१ समाधिशतक।



है तब व्यथा कैसी ? अरे, न तो मैं बालक हूँ, न वृद्ध हूँ और न तरुण ही हूँ—यह सब पुद्गलका खेल है।

इस आत्म-विद्यामें यह अलौकिकता है, कि यह विपत्तिको दुर्दैवकी कृपा मानती है कि पूर्वबद्धकर्मका कर्जा विपत्तिके बहाने यह आत्मा चुकाकर ऋणमुक्त हो जाता है।

मर्यादापुरुषोत्तम महाराज रामचन्द्र प्रभातमें साकेत-साम्राज्यके अधिपति बननेका स्वप्न देख रहे थे, कि दुर्दैवने कैकेयीकी वाणीके रूपमें अन्तराय आ पटका और रामको वनकी ओर जाना पड़ा। इस भीषण परिवर्तनको देख आत्मज्ञ राम सत्पथसे विचलित नहीं होते। चित्तमें प्रसादको स्थान देते हुए वे अपने इष्टजनोंको कितने मधुर शब्दोंमें अपने वनवासके बारेमें सुनाते हैं—

"राज्ञा मे दण्डकारण्ये राज्यं दत्तं शुभेऽखिलम् ।"

महाराज दशरथने मुझे सम्पूर्ण दण्डक-वनका राज्य दिया है। इस मोही मानवकी सम्यक्ज्ञानके प्रभावसे कैसी विलक्षण वीतरागतापूर्ण पवित्र मनोवृत्ति हो जाती है !

नरकमें शारीरिक दृष्टिसे वह अवर्णनीय यातनाओंको भोगता है, यह कौन न कहेगा ? किन्तु, प्रबुद्ध कवि दौलतरामजी अपने एक पदमें कहते हैं—

"बाहर नारक कृत दुख भोगत, अन्तर समरस गटागटी ।
रमत अनेक सुरनि सँग पै तिस, परनतिसे नित हटाहटी ॥"

इस आत्मसाधनाका प्राण निर्भीकता है। जिसे इस लोक, परलोक, मरण आदिकी चिन्ता सताती है, वह साधनाके मार्गमें नहीं चल सकता। इसीलिए महर्षियोंने प्रत्येक प्रकारके भयसे साधकको विमुक्त बताया है।

गीताके शब्दोंमें तो ऐसे आत्म-दर्शीके हृदयमें यह दृढ़ विश्वास जमा रहता है—

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापः न शोषयति मारुतः ॥" २ । २३ ।

इस आत्माको शस्त्र छेद नहीं सकते, अग्नि इसे जला नहीं सकती, जल गीला नहीं करता और न पवन ही इसे सुखाता है।

आत्म-शक्ति अथवा आत्माके गुणोंके विषयमें यथार्थ विश्वास (सम्यक् दर्शन) और सत्यज्ञानके समान सम्यक्चारित्रकी भी अनिवार्य आवश्यकता है। साधनाकी भूमिकारूप विशुद्ध श्रद्धाकी आवश्यकता है। यथार्थबोध भी निर्वाणके लिए महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार साधनाके लिए शील, सदाचार, संयम आदिका जीवन भी अपना असाधारण महत्त्व रखता है। विशुद्ध आचरणकी ओर प्रवृत्ति हुए विना आत्मशक्ति और विभूतिकी चर्चा काल्पनिक लड्डू उड़ाने-जैसी वात है। मन-मोदकसे भूख दूर न होगी। सम्यक्चारित्रके द्वारा जीवनमें लगी हुई अनादि-कालीन कालिमा को निकालकर उसे निर्मल वनाना होगा। आजका भोग-प्रधान युग ज्ञानके गीत सुनकर आनन्दविभोर हो झूमने-सा लगता है; किन्तु विना पुण्याचरणके यथार्थ आनन्दका निर्झर नहीं वहता। आनन्दरूपी सुवाससे युक्त कमलपुष्पके नीचे कण्टकोंका जाल है। उनसे डरनेवालेको पंकजकी प्राप्ति और उसके सौरभका लाभ कैसे हो सकता है? अनन्तकालसे लगी हुई दुर्वासना और विकृतिको दूर कर देना सम्यक्चारित्रका सहयोग पाये विना असम्भव है। अतः आगे साधनाके विशिष्ट अंगभूत आचारके विषयमें विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

संयम बिन घड़िय म इक्क जाहु

भारतीय साहित्यका एक बोधपूर्ण रूपक है जिसे रूसके नामांकित विद्वान् टाल्स्टायने भी अपनाया है। एक पथिक किसी ऊँचे वृक्षकी शाखापर टँगा हुआ है, उस शाखाको धवल और कृष्ण वर्णवाले दो चूहे काट रहे हैं। नीचे जड़को मस्त हाथी अपनी सूंड़में फँसा उखाड़नेकी तैयारीमें है। पथिकके नीचे एक अगाध जलसे पूर्ण तथा सर्प-मगर आदि भयंकर जन्तुओंसे व्याप्त जलाशय है। पथिकके मुखके समीप एक मधु-मक्खियोंका छत्ता है जिससे यदा-कदा एकाध मधु-बिन्दु टपक कर पथिकको क्षणिक आनन्दका भान कराती हैं। इस मधुर-रससे मुग्ध हो पथिक न तो यह सोचता है कि चूहोंके द्वारा शाखाके कटनेपर मेरा क्या हाल होगा? वह यह भी नहीं सोचता कि गिरनेपर उस जलाशयमें वह भयङ्कर जन्तुओंका ग्रास बन जाएगा। उसके विषयान्ध हृदयमें यह भी विचार पैदा नहीं होता, कि यदि हाथीने जोरका झटका दे वृक्षको गिरा दिया तो वह किस तरह सुरक्षित रहेगा? अनेक विपत्तियोंके होते हुए भी मधुकी एक बिन्दुके रस-पानकी लोलुपतावश वह सब बातोंको भूला हुआ है। कोई विमानवासी दिव्यात्मा उस पथिकके सङ्कटपूर्ण भविष्यके कारण अनुकम्पा-युक्त हो उसे समझाता है और अपने साथ निरापद स्थानको ले जानेकी सच्ची तत्परता प्रदर्शित करता है। किन्तु, यह उनकी बातपर तनिक भी ध्यान नहीं देता और इतना ही कहता है कि मुझे कुछ थोड़ा-सा मधु-रस और ले लेने दो! फिर मैं आपके साथ चलूँगा। परन्तु उस विषयान्ध पथिकको वह अवसर ही नहीं मिल पाता कि वह विमानमें बैठ जाए; कारण इस बीचमें शाखाके कटनेसे और वृक्षके उखड़नेसे उसका पतन हो जाता है। वह अवर्णनीय यातनाओंके साथ मौतका ग्रास बनता है।

इस रूपकमें संसारी प्राणीका सजीव चित्र अंकित किया गया है। पथिक और कोई नहीं, संसारी जीव है, जिसकी जीवन-शाखाको शुक्ल और कृष्ण पक्ष रूपी चूहे, क्षण-क्षणमें क्षीण कर रहे हैं। हाथी मृत्युका प्रतीक है और भयंकर जन्तु-पूर्ण सरोवर नरकादिका निदर्शक है। मधु-बिन्दु सांसारिक क्षणिक सुखकी सूचिका है। विमानवासी पवित्रात्मा सत्पुरुषोंका प्रतिनिधित्व करता है। उनके द्वारा पुनः पुनः कल्याणका मार्ग-विषय-लोलुपताका त्याग बताया जाता है। किन्तु, यह विषयान्ध तनिक भी नहीं सुनता।

वास्तवमें जगत्का प्राणी मधु-बिंदु तुल्य अत्यन्त अल्प सुखाभाससे अपने आत्माकी अनन्त लालसाको परितृप्त करना चाहता है, किन्तु आशा की तृप्ति होनेके पूर्व ही इसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। महाकवि भूधरदास मोही जीवकी दीनतापूर्ण अवस्थाका कितना सजीव चित्रण करते हैं—

"चाहत हो धन लाभ किसी विध, तो सब काज सरैं जियरा जी।
गेह चिनाय करौं गहना कछु, ब्याह सुता-सुत बांटिये भांजो॥
चिन्तत यौं दिन जाहिं चले, जम आन अचानक देत दगा जी।
खेलत खेल खिलारि गए, रहि जाय रुपी सतरंजकी बाजी॥"

इस मोही जीवकी विचित्र अवस्था है। बाह्य पदार्थोंके संग्रह, उपयोग, उपभोगके द्वारा अपने मनोदेवता तथा इन्द्रियोंको परितृप्त करनेका निरन्तर प्रयत्न करते हुए भी इसे कुछ साता नहीं मिलती। कदाचित् तीव्र पुण्योदयसे अनुकूल सामग्री और सन्तोष-प्रद वातावरण मिला, तो लालसाओंकी वृद्धि उसे बुरी तरह बेचैन बनाती है और उस अन्तर्ज्वालासे यह आत्मा वैभव, विभूतिके द्वारा प्रदत्त विचित्र यातना भोगा करता है।

एक वड़े धनीको लक्ष्य करते हुए हजरत अक़बर कहते हैं—

"सेठ जीको फ़िक्र थी एक एकके दस कीजिए।
मौत आ पहुँची कि हज़रत जान वापिस कीजिए ॥"

एक और उर्दू भाषाका कवि प्राण-पूर्ण वाणीमें संसारकी असलियत-को चित्रित करते हुए कहता है—

"किसीका कंदा नगीने पै नाम होता है।
किसीकी जिंदगीका लब्रएज़ जाम होता है॥
अजव मुकाम है यह दुनिया कि जिसमें शामोशहर—
किसीका कूच–किसीका मुकाम होता है॥"

जव विषय-भोग और जगत्की यह स्थिति है, कि उसके सुखोंमें स्थायित्व नहीं है—वास्तविकता नहीं है और वह विपत्तियोंका भण्डार है, तव सत्पुरुष और कल्याण-साधक उन सुखोंके प्रति अनासक्त हो आत्मीक ज्योतिके प्रकाशमें अपनी जीवन नौकाको ले जाते हैं, जिसमें किसी प्रकारका खतरा नहीं है। इस प्राणीमें यदि मनोबलकी कमी हुई तो विषयवासना इसे अपना दास बना पद-दलित करनेमें नहीं चूकती। इस मनको दास बनाना कठिन कार्य है। और यदि मन वशमें हो गया तो इन्द्रियाँ, वासनाएँ उस विजेताके आगे आत्मसमर्पण करती हीं हैं; यही कारण है कि सुभाषितकारको यह कहना पड़ा—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।"

मनो-जयके लिए आत्माको वहुत वलिष्ठ होना चाहिए। संसारकी चमक दमक और मोहक सामग्रीको पा जो आपेके बाहर हो जाता है, वह आत्म-विकासके क्षेत्रमें असफल होता है। मनो-जयकी कठिनताको विनोदपूर्ण भाषामें एक स्वर्गीय जैन विद्वान् इस प्रकार समझाते थे— 'चालीस सेरका एक मन होता है इसे तो बच्चा बच्चा भी जानता है', इस

आधार पर वे पंडितजी कहते थे 'इसी प्रकार चालीस सेर नहीं शेर (Tiger) के बराबर आत्मीक शक्ति रखनेपर मनको जीतनेको समर्थ हो सकता है।'

साधक आत्मदर्शनके द्वारा भौतिक पदार्थोंकी निज स्वरूप से भिन्नताको समझते हुए और इसी तत्त्वको हृदयङ्गम करते हुए अपनी आत्माको राग, द्वेष, मोह, क्रोध-मान-माया-लोभ आदि कलङ्कोंसे निर्मल करनेके लिए जो प्रयत्न प्रारम्भ करता है, यथार्थमें वही सदाचार है, वही संयम है और उसे ही सम्यक्चारित्र कहते हैं। इसके विना मुक्ति-मार्गके लिए मुमुक्षु पूर्णतया पंगु है। **स्वामी समन्तभद्र** कहते हैं—

"मोहरूपी अन्धकारके दूर होने पर दर्शन-शक्तिको प्राप्त करनेवाला तत्त्वज्ञानी सत्पुरुष राग, द्वेष दूर करनेके लिए चरित्रको धारण करता है। राग-द्वेषके दूर होनेसे हिंसादिक पाप भी अनायास छूट जाते हैं।" वे यह भी लिखते हैं कि—"हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पापके कारणोंसे जीवका विमुख होना चारित्र है।"[1] आचार्य अमृतचन्द्र[2] सम्पूर्ण पापोंके परित्यागको चारित्र कहते हैं और बताते हैं कि कषायविमुक्त, उदासीन, पवित्र आत्मपरिणतिस्वरूप चारित्र है। हिंसा आदिका पूर्णतया परित्याग करनेमें असमर्थ प्राथमिक साधकके लिए उनका आंशिक परित्याग आवश्यक है। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें **अमृतचन्द्र स्वामी** कहते हैं—[3]झूठ, चोरी आदिमें आत्माकी निर्मल मनोवृत्तिके

---

१ रत्नकरण्ड श्रावकाचार ४७।

२ "चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्॥ ३९॥"

३ "आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्, सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं 'शिष्यबोधाय॥ ४२॥"

—पुरुषार्थसिध्युपाय।

हननकी अपेक्षा कोई अन्तर न होनेसे सब पाप हिंसात्मक ही हैं। स्पष्टतया समझानेके लिए झूठ, चोरी आदिके भेद वर्णित किये गये हैं। इस दृष्टिसे समष्टिकी भाषामें हिंसा ही पाप है और अहिंसा ही चारित्र तथा साधनाका मार्ग है।

आध्यात्मिक भाषामें रागादिक विकारोंकी उत्पत्तिको हिंसा और उनके अप्रादुर्भावको अहिंसा कहा है। व्यावहारिक भाषामें मनसा-वाचा-कर्मणा संकल्पपूर्वक (Intentionally) त्रस जीवोंका (Mobile creatures) न तो स्वयं घात करता है न अन्यके द्वारा घात कराता है एवं प्राणिघातको देख न आन्तरिक प्रशंसा द्वारा अनुमोदना ही करता है वह गृहस्थकी स्थूल अहिंसा है। प्राथमिक साधक इस अहिंसा-अणुव्रतके रक्षार्थ मद्य, मांस और मधुका परित्याग करता है। इसीलिए वह शिकार भी नहीं खेलता और न किसी देवी-देवताके आगे पशु आदिका बलिदान ही करता है। कितनी निर्दयताकी बात है यह कि अपने मनोविनोद अथवा पेट भरनेके लिए भयकी साकार मूर्ति, आश्रय-विहीन, केवल शरीररूपी सम्पत्तिको धारण करनेवाली हरिणी तकको शिकारी लोग अपने हिंसाके रसमें मारते हुए ज़रा भी नहीं सकुचाते और न यह सोचते कि ऐसे दीन प्राणीके प्राण हरणकरनेमें हमारा आत्मा कितना कलङ्कित होता जा रहा है। आचार्य गुणभद्रने आत्मानुशासनमें लिखा है—

"भीतमूर्तिः गतत्राणा निर्दोषा देहवित्तिका।
दन्तलग्नतृणा घ्नन्ति मृगीरन्येषु का कथा॥ २९॥"

जूवा (द्यूत) अनुचित तृष्णा तथा अनेक विकारोंका पितामह होनेके कारण साधकके लिए सतर्कतापूर्वक ग्राम्य अथवा भद्ररूपमें पूर्णतया त्याज्य है। पापोंके विकासकी नस-नाड़ी जाननेवालोंका तो यह

अध्ययन है कि यह सम्पूर्ण पापोंका द्वार खोल देता है। अमृतचन्द्र स्वामी इसे सम्पूर्ण अनर्थोंमें प्रथम, पवित्रताका विनाशक, मायाका मन्दिर, चोरी और बेइमानीका अड्डा बताते हैं।

द्यूतके अवलम्बनसे यह प्राणी कितना पतित-चरित्र हो जाता है इसे सुभाषितकारने एक ढोंगी साधुसे प्रश्नोत्तरके रूपमें इन शब्दोंमें बताया है। पूंछते हैं—

"भिक्षो, मांसनिषेवनं प्रकुरुषे ? किं तेन मद्यं विना।
मद्यं चापि तव प्रियम् ? प्रियमहो वारांगनाभिः सह॥
वेश्या द्रव्यरुचिः कुतस्तव धनम् ? द्यूतेन चौर्येण वा।
चौर्यं द्यूतमपि प्रियमहो नष्टस्य कान्या गतिः॥"

द्यूतके समान साधक चोरीकी आदत, वेश्या-सेवन, परस्त्री-गमन सदृश व्यसन नामधारी महा-पापोंसे पूर्णतया आत्म-रक्षा करता है। साधकके स्मृतिपथमें ये व्यसन सदा शत्रुके रूपमें बने रहना चाहिए—

जूवा, आमिष, मदिरा, दारी।
आखेटक, चोरी, परनारी॥
ये ही सात व्यसन दुखदाई।
दुरित मूल दुरगतिके भाई॥

—बनारसीदास, नाटकसमयसार साध्यसाधक द्वार।

वह साधक स्थूल झूठ नहीं बोलता और न अन्यको प्रेरणा करता है। स्वामी समन्तभद्र इस प्रकारके सत्य सम्भाषणको भी अपनी मूल-भूत अहिंसात्मक वृत्तिका संहार करनेके कारण असत्यका अङ्ग मानते हैं, जो अपनी आत्माके लिए विपत्तिका कारण हो अथवा अन्यको सङ्कटोंसे आक्रान्त करता हो। यहाँ सत्यकी प्रतिज्ञा लेनेवाले प्राथमिक साधकके लिए इस प्रकारके वचनालाप तथा प्रवृत्तिकी प्रेरणा की

है जो हितकारी हो तथा वास्तविक भी हो। वास्तविक होते हुए भी अप्रशस्त वचनको त्याज्य कहा है—यही सत्याणुव्रतका स्वरूप है।[१]

सत्पुरुषोंने अचौर्याणुव्रतमें साधकको दूसरेकी रखी हुई, गिरी हुई, भूली हुई और विना दी हुई वस्तुको न तो ग्रहण करने की और न अन्यको देनेकी आज्ञा दी है।

ब्रह्मचर्याणुव्रतके परिपालन निमित्त बताया है कि—वह पापसंचयका कारण होनेसे स्वयं पर-स्त्री सेवन नहीं करता और न अन्यको प्रेरणा ही करता है। गृहस्थकी भाषामें इसे स्थूल ब्रह्मचर्य, परस्त्रीत्याग अथवा स्व-स्त्रीसंतोष व्रत कहते हैं।

इच्छाको मर्यादित करनेके लिए वह गाय आदि धन, धान्य, रुपया-पैसा, मकान, खेत, बर्त्तन, वस्त्र आदिकी आवश्यकताके अनुसार मर्यादा बाँधकर उनसे अधिक वस्तुओंके प्रति लालसाका परित्यागकर परिग्रह-परिमाणव्रतको धारण करता है। इस व्रतमें इच्छाका नियंत्रण होनेके कारण इसे इच्छापरिमाण नाम भी दिया गया है।

पूर्वोक्त हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहके त्यागके साथ मद्य, मांस और मधुके त्यागको साधकके आठ मूलगुण कहे हैं। वर्तमान युगकी उच्छृंखल एवं भोगोन्मुख प्रवृत्तिको लक्ष्यमें रख एक आचार्यने इस प्रकार उन मूल गुणोंकी परिगणना की है—

"मद्य, मांस, मधु, रात्रिभोजन और पीपल ऊमर बड़ कठूमर पाकर सदृश त्रस-जीवयुक्त फलोंके सेवनका त्याग, अरिहन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु नामक अहिंसाके पथमें प्रवृत्त पंच परमेष्ठियोंकी स्तुति, जीवदया तथा पानीको वस्त्र द्वारा भली प्रकार छानकर पीना यह आठ मूलगुण हैं।[२]

१ "स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम्॥" रत्न० श्रा० ५५।

२ सागारधर्मामृत २।१८।

जैसे मूलके शुद्ध और पुष्ट होनेपर वृक्ष भी सबल और सरस होता है, उसी प्रकार मूलभूत उपर्युक्त नियमों द्वारा जीवन अलंकृत होने पर साधक मुक्तिपथमें प्रगति करना प्रारंभ कर देता है।

रात्रिभोजन परित्याग और पानी छानकर पीना—यह दो प्रवृत्तियाँ जैनधर्मके आराधकके चिह्न माने जाते हैं। एक बार सूर्यास्त होते समय मद्रासमें अपना सार्वजनिक भाषण बन्दकर रात्रि हो जानेके भयसे गांधीजी जब हिन्दूके सम्पादक श्रीकस्तूरी स्वामी आयंगरके साथ जानेको उद्यत हुए, तब उनकी यह प्रवृत्ति देख बड़े-बड़े शिक्षितोंके चित्त में यह विचार उत्पन्न हुआ कि गांधीजी अवश्य जैनशासनके अनुयायी हैं। जैसे ईसाइयोंका चिह्न उनके ईश्वरीय-दूत हजरत मसीहकी मौतका स्मारक क्रॉस पाया जाता है अथवा सिक्खोंके केश, कृपाण, कड़ा आदि बाह्य चिह्न हैं उसी प्रकार अहिंसापर प्रतिष्ठित जैनधर्मने करुणापूर्वक वृत्तिके प्रतीक और अवलम्बनरूप रात्रिभोजन त्याग और अनछने पानीके त्यागको अपनाया है। वैदिक साहित्यके अत्यन्त मान्य ग्रंथ मनुस्मृतिमें मनु महाशय लिखते हैं—

"दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।"

—अ० ६।४६।

उपर्युक्त दोनों नियमोंमें अहिंसात्मक प्रवृत्तिके साथ निरोगताका भी तत्त्व निहित है। सन् १९४१ की जुलाईके जैनगजटमें पंजाबका एक संवाद छपा था कि—एक व्यक्तिके पेटमें अनछने पानीके साथ छोटा-सा मेंढकका बच्चा घुस गया। कुछ समय के अनन्तर पेटमें भयंकर पीड़ा होने लगी, तब ऑपरेशन किया गया और २५ तोले वजनका मेंढक बाहर निकला। आज जो रोगोंकी अमर्यादित वृद्धि हो रही है, उसका कारण यह है, कि लोगोंने धर्मकी दृष्टिसे न सही तो स्वास्थ्य-रक्षणके लिये

रात्रि-भोजनका परित्याग, अनछना पानी न पीना, जिन वस्तुओंमें त्रस जीव उत्पन्न हो गये हों या जो उनकी उत्पत्तिके लिये बीजभूत बन चुके हैं, ऐसे पदार्थोंके भक्षणका त्याग पूर्णतया भुला दिया है। जीभकी लोलुपता और फैशनकी मोहकता के कारण इन बातोंको भुला देनेमें ही अपना कल्याण समझा है। आजकलके बड़े और प्रतिष्ठित माने जानेवाले और अहिंसाके साधकोंकी श्रेणीमें बैठनेवाले लक्ष्मीजी और आधुनिक आधिभौतिक ज्ञानके कृपापात्र पूर्वोक्त बातोंको ढकोसला समझ यथेच्छ प्रवृत्ति करते हुए दिखाई पड़ते हैं। उन्हें यह स्मरण रखना चाहिये कि हमारी असत्प्रवृत्तियोंका घड़ा भरनेपर प्रकृति अपना भयंकर दण्ड-प्रहार किये बिना न रहेगी और तब पश्चात्ताप मात्र ही शरण होगा।

पं० आशाधरजीने सागार-धर्मामृतमें आयुर्वेद शास्त्र तथा अनुभवके आधारपर लिखा है कि रात्रि-भोजनमें[1] आसक्ति और रागकी तीव्रता होती है तथा कभी-कभी अज्ञात अवस्थामें अनेक रोगोंको उत्पन्न करनेवाले विषैले जीव भी पेटमें पहुँच विचित्र रोगोंको उत्पन्न कर देते हैं। जूँ अगर पेट में चली जाए तो जलोदर हो जाता है, मक्खीसे वमन, बिच्छूसे तालुरोग, मकड़ी भक्षणसे कुष्ट आदि रोग हो जाते हैं। अखबारी दुनियावालोंको इस बातका परिचय है कि कभी-कभी भोजन पकाते समय छिपकली, सर्प आदि विषैले जन्तुओंके भोजनमें गिर जानेके कारण उस जहरीले आहार-पानके सेवन करनेपर कुटुम्ब-के-कुटुम्ब मृत्युके मुखमें पहुँच गये हैं।

जो इन्द्रियलोलुप हैं वे तो सोचा करते हैं कि भोजन कैसा भी करो दिलभर साफ़ रहना चाहिए। मालूम होता है ऐसे ही विचारोंका प्रतिनिधित्व करते हुए एक शायर कहता है—

१ अध्याय ४–२५।

"ज़ाहिद शराब पीनेसे काफिर बना मैं क्यों ?
क्या डेढ़ चुल्लू पानीमें ईमान बह गया ?"

ऐसे विचारवाले गंभीरतापूर्वक अगर सोच सकें, तो उन्हें यह स्वीकार करना होगा कि सात्त्विक, राजस और तामस आहारके द्वारा उसी प्रकार-के भावोंकी उत्पत्तिमें प्रेरणा प्राप्त होती है। आहारका हमारी मनः-स्थितिके साथ गहरा सम्बन्ध है। इसी बातको यह कहावत सूचित करती है—

"जैसा खावे अन्न, तैसा होवे मन।
जैसा पीवे पानी, तैसी होवे बानी॥"

इस सम्बन्धमें गांधीजीने सत्यका प्रयोग करते हुए अपनी आत्म-कथामें लिखा है—"मनका शरीरके साथ निकट सम्बन्ध है। विकारयुक्त मन विकार पैदा करनेवाले भोजनकी ही खोजमें रहता है। विकृत मन नाना प्रकारके स्वादों और भोगोंको ढूँढता फिरता है; और फिर उस आहार और भोगोंका प्रभाव मनके ऊपर पड़ता है। मेरे अनुभवने मुझे यही शिक्षा दी है कि जब मन संयमकी ओर झुकता है, तब भोजनकी मर्यादा और उपवास खूब सहायक होते हैं। इनकी सहायताके बिना मन को निर्विकार बनाना असम्भव-सा ही मालूम होता है।" (पृ० ११२–१३)

अपने राजयोगमें स्वामी **विवेकानन्द** लिखते हैं—"हमें उसी आहारका प्रयोग करना चाहिए, जो हमें सबसे अधिक पवित्र मन दे। हाथी आदि बड़े जानवर शान्त और नम्र मिलेंगे। सिंह और चीतेकी ओर जाओगे तो वे उतने ही अशान्त मिलेंगे। यह अन्तर आहार भिन्नताके ही कारण है।"

महाभारतमें तो यहाँतक लिखा है कि—आहार शुद्धि न रखनेवालेके तीर्थ-यात्रा, जप-तप आदि सब विफल हो जाते हैं—

"मद्यमांसाशनं रात्रौ भोजनं कन्दभक्षणम् ।
ये कुर्वन्ति वृथा तेषां तीर्थयात्रा जपस्तपः ।।
चातुर्मास्ये तु सम्प्राप्ते रात्रिभोज्यं करोति यः ।
तस्य शुद्धिर्न विद्येत चान्द्रायणशतैरपि ।।"

कुछ लोग मांसभक्षणके समर्थनमें बहस करते हुए कहने लगते हैं कि मांस-भक्षण और शाकाहारमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। जिस प्रकार प्राणधारीका अंग वनस्पति है उसी प्रकार मांस भी जीवका शरीर है। जीव-शरीरत्व दोनोंमें समान है। वे यह भी कहते हैं कि अण्डा-भक्षण करना और दुग्धपानमें दोषकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं है। जिस अण्डेमें बच्चा न निकले उसे वे unfertilisedegg—निर्जीव अण्डा कहकर शाकाहारके साथ उसकी तुलना करते हैं।

यह दृष्टि अतात्त्विक है। मांसभक्षण क्रूरताका उत्पादक है, वह सात्त्विक मनोवृत्तिका संहार करता है। वनस्पति और मांसके स्वरूपमें महान् अन्तर है। एकेन्द्रियजीव जल आदिके द्वारा अपने पोषक तत्त्वको ग्रहणकर उसका खल भाग और रस भाग रूप ही परिणमन कर पाता है। रुधिर, मांस आदि रूप आगामी पर्यायें जो अनन्त जीवोंका कलेवररूप होती हैं, वनस्पतिमें नहीं पायी जाती। इसलिए उनमें समानता नहीं कही जा सकती। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि अत्यन्त अशुद्ध शुक्र-शोणित रूप उपादानका मांस रुधिर आदिरूप शरीरके रूपमें परिणमन होता है। ऐसी घृणित उपादानता वनस्पतिमें नहीं है। यह तर्क ठीक है कि प्राणीका अंग अन्नके समान मांस भी है; किन्तु दोनोंके स्वभावमें समानता नहीं है। इसीलिए साधकके लिए अन्न भोज्य है और मांस अथवा अण्डा सदृश पदार्थ सर्वथा त्याज्य हैं। जैसे स्त्रीत्वकी दृष्टिसे माता और पत्नीमें समानता कही जा सकती है, किन्तु भोग्यत्वकी अपेक्षा पत्नी ही ग्राह्य कही गयी है, माता नहीं।

"प्राण्यङ्गत्वे समेऽप्यन्नं भोज्यं मांसं न धार्मिकैः।
भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नाम्बिका ॥"

—सागारधर्मामृत २।१०।

यूरोपके मनीषी महात्मा **टाल्स्टाय** ने मांसभक्षणके विषयमें कितना प्रभाव पूर्ण कथन किया है—"क्या मांस खाना अनिवार्य है? कुछ लोग कहते हैं-यह तो अनिवार्य नहीं है, लेकिन कुछ बातोंके लिए जरूरी है। मैं कहता हूँ कि यह जरूरी नहीं है। मांस खानेसे मनुष्यकी पाशविक वृत्ति बढ़ती है, काम उत्तेजित होता है, व्यभिचार करने और शराब पीने की इच्छा होती है। इन सब बातोंके प्रमाण सच्चे और शुद्ध सदाचारी नवयुवक, विशेषकर स्त्रियाँ और तरुण लड़कियाँ हैं, जो इस बातको साफ-साफ कहती हैं कि मांस खानेके बाद कामकी उत्तेजना और अन्य पाशविक वृत्तियाँ अपने आप प्रबल हो जाती हैं।" वे यहाँ तक लिखते हैं कि "मांस खाकर सदाचारी बनना असम्भव है।" ऐसी स्थितिमें तो चरित्रवान् और महापुरुष माने जानेवाले व्यक्तिको टाल्स्टाय जैसे विचारकके मतसे निरामिषभोजी होना अत्यन्त आवश्यक है।

वैज्ञानिकोंने इस विषयमें मनन करके लिखा है कि मांस आदिके द्वारा बल और निरोगता सम्पादन करनेकी कल्पना ठीक वैसी ही है जैसे चाबुकके जोरसे सुस्त घोड़ेको तेज करना। मांसभक्षण करनेवालोंमें क्रूरताकी अधिक मात्रा होती है। सहनशीलता, जितेन्द्रियता और परिश्रम-शीलता उनमें कम पायी जाती है। मि० **वेरेस** महाशय नामक विद्युत् शास्त्रज्ञने यह सिद्ध किया है कि फल और मेवोंमें एक प्रकारकी बिजली भरी हुई है, जिससे शरीरका पूर्णतया पोषण होता है। 'न्यूयार्क-ट्रिब्यून'के संपादक श्री **होरेस** लिखते हैं—"मेरा अनुभव है कि मांसाहारीकी अपेक्षा शाकाहारी दस वर्ष अधिक जी सकता है। अध्यापक **लॉरेंसका** अनुभव

है—"मांसाहारसे शरीरकी शक्ति और हिम्मत कम होती है। यह तरह-तरहकी बीमारियोंका मूल कारण है। शाकाहारके साथ निर्बलता, भीरुता तथा रोगोंका कोई सम्बन्ध नहीं है।" ('मांसाहारसे हानियाँ' से उद्धृत)।

एक मटनमार्तण्ड उपाधिसे विख्यात हिन्दूसमाजके हितचिन्तक डॉक्टर साहब हिन्दू जातिको बलिष्ठ बनानेके लिए मांस-भक्षणके लिए प्रेरित करते हैं। वे सफलताके स्वप्न देखते हुए यह भूल जाते हैं कि मांसभक्षणके द्वारा वे विवेकी मनुष्यको पशुजगत्के निम्नतर स्तरपर उतारते हैं। मांसभक्षण न करनेवाले अहिंसक महापुरुषोंने अपने पौरुष और बुद्धिबलके द्वारा इस भारतके भालको सदा उन्नत रखा है। अहिंसा और पवित्रताकी प्रतिमा वीर-शिरोमणि जैन सम्राट् चन्द्रगुप्तने सिल्यूकस-जैसे प्रबल पराक्रमी मांसभक्षी सेनापतिको पराजित किया था। पराक्रमको आत्माका धर्म न मान शरीरसम्बंधी विशेषता समझनेवाले ही यथेच्छाहारको ग्राह्य बतलाते हैं। शौर्य एवं पराक्रमका विकास जितेन्द्रिय और आत्म-बलीमें अधिक होगा। राष्ट्रके उत्थाननिमित्त जितेन्द्रियता ब्रह्मचर्य-संगठन आदि सद्‌गुणोंको जाग्रत करना होगा। मनुष्यताका स्वयं संहार कर हिंसक पशुवृत्तिको अपनानेवाला कैसे साधनाके पथमें प्रविष्ट हो सकता है? ऐसे स्वार्थी और विषयलोलुपीके पास दिव्य विचार और दिव्य सम्पत्तिका स्वप्नमें भी उदय नहीं होता। अतएव पवित्र जीवनके लिए पवित्र आहारपान अत्यन्त आवश्यक हैं।

उस प्राथमिक साधककी जीवनचर्या इतनी संयत हो जाती है, कि वह लोक तथा समाजके लिए भार न बन, भूषण-स्वरूप होता है। वह सूक्ष्म दोषोंका परित्याग तो नहीं कर पाता किन्तु राज अथवा समाज द्वारा दण्डनीय स्थूल पापोंसे बचता है। अपने तत्त्वज्ञानके आदर्शकी नव-

स्मृति और नव-स्फूर्ति निमित्त वह जिनेन्द्र भगवान्की पूजा (Hero worship) करता है। वह मूर्तिके अवलम्बनसे उस शान्ति, पूर्णता और पवित्रताके आदर्शको स्मरण कर अपने जीवनको उज्ज्वल बनानेका प्रयत्न करता है। उसकी पूजा मूर्ति (Idol) की नहीं, आदर्शकी (Ideai) पूजा रहती है; इसलिए मूर्तिपूजाके दोष उस साधकके उज्ज्वल मार्गमें बाधा नहीं पहुँचाते। जब परमात्मा ज्ञान, आनन्द और शान्तिसे परिपूर्ण है, राग, द्वेष, मोहसे परिमुक्त है, तब उसे प्रसन्न करनेके लिए स्तुति गान करना, ज्ञानवानका काम नहीं कहा जा सकता। वैज्ञानिक साधककी दृष्टि यह रहती है—

"राग नाश करनेसे भगवन्, गुण कीर्तनमें है क्या आश।
क्रोध कषाय वमन करनेसे, निन्दामें भी विफल प्रयास॥
फिर भी तेरे पुण्य गुणोंका, चिन्तन है रोधक जग-त्रास।
कारण ऐसी मनोवृत्तिसे, पाप-पुञ्जका होता ह्रास॥'

अपने दैनिक-जीवनमें लगे हुए दोषोंकी शुद्धिके लिए वह सत्पात्रों को सदा आहार, औषधि, शास्त्र तथा अभयदान देकर अपनेको कृतार्थ मानता है। उसका विश्वास है कि पवित्र कार्योंके करनेसे सम्पत्तिका नाश नहीं होता, किन्तु पुण्यके क्षयसे ही उसका विनाश होता है। आचार्य पद्मनंदि कहते हैं—

"पुण्यक्षयात् क्षयमुपैति न दीयमाना
लक्ष्मीरतः कुरुत सन्ततपात्रदानम्।"

वह उसी द्रव्यको सार्थक मानता है जो परोपकारमें लगता है। संक्षेपमें साधकके गुणोंका संकलम करते हुए पंडित आशाधरजी कहते हैं—

"आदर्श गृहस्थ न्यायपूर्वक धनका अर्जन करता है, गुणी पुरुषों एवं गुणोंका सन्मान करता है, वह प्रशस्त और सत्यवाणी बोलता है,

धर्म, अर्थ तथा काम पुरुषार्थका परस्पर अविरोध रूपसे सेवन करता है। इन पुरुषार्थोंके योग्य स्त्री, स्थान, भवनादिको धारण करता है, वह लज्जाशील, अनुकूल आहार-विहार करनेवाला, सदाचारको अपनी जीवन-निधि माननेवाले सत्पुरुषोंकी संगति करता है, हिताहितके विचार करनेमें वह तत्पर रहता है, वह कृतज्ञ और जितेन्द्रिय होता है, धर्मकी विधिको सदा सुनता है, दयासे द्रवित अन्तःकरण रहता है, पापसे डरता है। इस प्रकार इन चौदह विशेषताओंसे सम्पन्न व्यक्ति आदर्श गृहस्थकी श्रेणीमें समाविष्ट होता है।"[१]

कोई-कोई व्यक्ति यह सोच सकते हैं, कि जीवन एक संग्राम और संघर्षकी स्थितिमें है, उसमें न्याय-अन्यायकी मीमांसा करनेवालेकी सुख-पूर्ण स्थिति नहीं हो सकती। इसलिए जैसे भी बने स्वार्थ साधनाके कार्यमें आगे बढ़ना चाहिए।

यह मार्ग मुमुक्षुके लिए आदर्श नहीं है। वह अपने व्यवहार और आचारके द्वारा इस प्रकारके जगत्का निर्माण करना चाहता है जहाँ ईर्षा, द्वेष, मोह, दंभ आदि दुष्ट प्रवृत्तियोंका प्रसार न हो। सब प्रेम और शान्तिके साथ जीवन-ज्योतिको विकसित करते हुए निर्वाणकी साधनामें उद्यत रहें, यह उसकी हार्दिक कामना रहती है। जघन्य स्वार्थोंपर विजय पाये विना उन्नतिकी कल्पना एक स्वप्नमात्र है। साधनाके पथमें मनुष्यकी तो बात ही क्या, होनहार उज्ज्वल भविष्यवाले

---

१ न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भज-
न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी स्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत् ॥—सागारधर्मामृत १।११।

पशुओं तकने असाधारण आत्म-विकास और संयमका परिचय दिया है। भगवान् महावीरके पूर्व भवोंपर दृष्टिपात करनेसे विदित होता है, कि एक बार वे भयङ्कर सिंहकी पर्यायमें थे और एक मृगको मारकर भक्षण करनेमें तत्पर ही थे, कि अरिञ्जय तथा अजितञ्जय नामक दो अहिंसाके महासाधक मुनीन्द्रोंके आत्मतेज तथा ओजपूर्ण वाणीने उस सिंहकी स्वाभाविक क्रूरताको धोकर उसे प्रेम और करुणाकी प्रतिकृति बना दिया। उस अहिंसक सिंहने शनैः शनैः विकास करते हुए तीर्थंङ्कर भगवान् महावीरके त्रिभुवनपूजित पदको प्राप्त किया। उनके पूर्ववर्ती तीर्थंङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ प्रभुने मदोन्मत्त हाथीकी पर्यायमें महामुनि अरविन्द स्वामीके पास अहिंसात्मक और संयमपूर्ण जीवनकी शिक्षा ग्रहण की। महाकवि भूधरदासने इसपर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"अब हस्ती संजम साधै। त्रस जीव न भूल विराधै॥
समभाव छिमा उर आनै। अरि-मित्र बराबर जानै॥
काया कसि इन्द्री दण्डै। साहस धरि प्रोषध मंडै॥
सूखे तृण पल्लव भच्छै। परमर्दित मारग गच्छै॥
हाथीगन डोल्यो पानो। सो पीवै गजपति ज्ञानो॥
देखे बिन पांव न राखै। तन पानी पंक न नाखै॥
निज शील कभी नहिं खोवै। हथनी दिशि भूल न जोवै॥
उपसर्ग सहै अति भारो। दुरध्यान तजै दुखकारो॥
अघके भय अंग न हालै। दिढ़ धोर प्रतिज्ञा पालै॥
चिरलौं दुद्धर तप कीनों। बलहीन भयो तन छीनो॥
परमेष्ठि परमपद ध्यावै। ऐसें गज काल गमावै॥
एकै दिन अधिक तिसायो। तब वेगवती तट आयो॥

७

जल पीवन उद्यम कीधो । कादो द्रह कुंजर बीधो ॥
निहचै जब मरन विचार्यो । सन्यास सुधी तब धार्यो ॥"
—पार्श्वपुराण, दूसरा सर्ग ।

तिर्यञ्चोंको भी संयम साधनमें तत्पर देख बुधजनजी मनुष्योंको संयमके लिए उत्साहित करते हुए कहते हैं—

"सुलझे पसु उपदेस सुन, सुलझें क्यों न पुमान ।
नाहर तें थये वीर जिन, गज पारस भगवान ॥"—सतसई

प्राथमिक अभ्यासी साधकके लिए संयमका अभ्यास करनेके लिए आचार-शास्त्रके महान् विद्वान् आशाधरजीने लिखा है—"जब तक विषय तुम्हारे सेवनमें नहीं आते, कम-से-कम उतने काल तकके लिए उनका परित्याग करो । कदाचित् व्रती अवस्थामें मृत्यु हुई तो दिव्य जीवन अवश्य प्राप्त होगा ।"[1]

दूसरी बात, जितनी तुम्हारी उचित आवश्यकता हो, उसकी सीमाके बाहर विषयादिक सेवनका सरलतापूर्वक त्याग कर सकते हो । प्रायः अपनी आवश्यकताको भूल लालसाके अधीन फँस यह जीव सारी दुनियासे नाता जोड़ता हुआ-सा प्रतीत होता है । अतः शान्ति और सुखमय जीवनके लिए आवश्यकतासे अधिक वस्तुओंका परित्याग करना चाहिए, जिससे अनावश्यक पदार्थोंके द्वारा रागद्वेषादि विकार इस आत्माकी शान्तिको भंग न करें । संयमका अभ्यास आन्तरिक प्रेरणाके द्वारा सुफल दिखाता है । बीमार व्यक्ति अपने चिकित्सककी आज्ञाके अनुसार मजबूर हो जीवनकी ममताके कारण कभी-कभी बड़े-बड़े महात्माओंकी संयमपूर्ण वृत्तिका स्मरण कराता है । किन्तु, इसमें यथार्थ

१ यावन्न सेव्या विषयास्तावत्तानप्रवृत्तितः ।
व्रतयेत्सव्रतो दैवान्मृतोऽमुत्र सुखायते ॥—सागारधर्मामृत २ । ७७ ।

संयमीकी निर्मलता और शान्तिका सद्भाव नहीं पाया जाता। भोगोंकी निःसारता और 'मेरा आत्मा ज्ञान तथा आनन्दका पुंज है, उसे परावलम्बनकी आवश्यकता नहीं है,' इस श्रद्धाकी प्रेरणासे प्रेरित हुआ संयम अपना विशेष स्थान रखता है। महर्षि कुन्दकुन्दका कथन है—"जिन तीर्थंकरोंका निर्वाण निश्चित है उन्हें भी विना संयमका आश्रय लिए मुक्ति नहीं मिल सकती।" इससे संयमका लोकोत्तरपना स्पष्ट विदित होता है। यह मनुष्य जीवनकी अनुपम विभूति है जिसे अन्य पर्यायोंमें पूर्णरूपमें पाना सम्भव नहीं है। विषयवासनाएँ दुर्बल अन्तःकरणपर अपना प्रभाव जमा इंद्रिय तथा मनको निरंकुश करनेमें सर्वदा सावधान रहती हैं। इसलिए चतुर साधक भी मन एवं इंद्रियोंको उत्पथमें प्रवृत्ति करनेसे बचानेका पूर्ण प्रयत्न किया करता है। एक पूजक कविवर द्यानतरायके शब्दोंमें अपने आत्माको सम्बोधित करते हुए कहता है—

"काय छहों प्रतिपाल, पंचेंद्रिय मन वश करो।
संजम रतन सम्हाल, विषय चोर बहु फिरत हैं॥"

अपभ्रंश भाषाके कवि रइधु संयमकी दुर्लभता और लोकोत्तरताको हृदयङ्गम करते हुए मोही प्राणीको शिक्षा देते हैं—

"संयम विन घडिय म इक्क जाहु"

प्रबुद्ध-साधक

"जोलौं देह तेरी काहू रोग सौं न घेरी
　　　　जोलौं जरा नाहीं नेरी जासो पराधीन परिहै ।।
जोलौं जम नामा बैरी देय न दमामा जोलौं
　　　　माने कान रामा बुद्धि जाय ना बिगरिहै ।।
तोलौं मित्र मेरे निज कारज सम्हार लेरे
　　　　पौरुष थकेंगे फेर पाछे कहा करिहै ।।
आग के लागे जब झोपड़ी जरन लागी
　　　　कुवा के खुदाये तब कहा काज सरिहै ।। २६ ।।"

—जैनशतक, भूधरदास

साधककी आत्मा जब गृहस्थ जीवनकी प्रवृत्ति द्वारा संयत बन जाती है तब आध्यात्मिक कविकी उपर्युक्त प्रबोधक वाणी उस मुमुक्षको संयमके क्षेत्रमें लम्बा कदम बढ़ानेको पुनः पुनः प्रेरित करती है। यथार्थमें गृहस्थ जीवनका संयम और अहिंसादि धर्मोंकी परिपालना आत्मीक दुर्बलताके कारण ही सद्गुरुओंने बताई है। समर्थ पुरुषको साधन मिलते ही साधनाके श्रेष्ठ पथमें प्रवृत्ति करते विलम्ब नहीं लगता। तीर्थंकर भगवान्के अन्तःकरणमें जब भी विषयोंसे विरक्तिका भाव जाग्रत होता है, वे त्रिभुवन चमत्कारी वैभव विभूतिको अत्यन्त निर्मम हो दृढ़तापूर्वक छोड़ देते हैं।

भगवान् ऋषभदेवके विषयमें स्वामी समन्तभद्रने लिखा है—

"विहाय यः सागर-वारि-वाससं वधूरिवेमां वसुधा-वधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ।।"

—स्वयम्भूस्तोत्र ३।

तत्त्वज्ञानीका आत्मा संपूर्ण परिग्रह आदिका त्याग कर श्रेष्ठ साधक बननेको सदा उत्कण्ठित रहता है, किन्तु वासनाएं और दुर्बलताएँ उसे प्रगतिसे बरबस रोका करती हैं। और, इसलिए साधारण साधक होते हुए भी वह—

"संयम धर न सकत पै संयम धारनकी उर चटापटी सी।
सदननिवासी, तदपि उदासी, तातैं आस्रव छुटाछुटी सी॥"

आन्तरिक अवस्थावाला विलक्षण व्यक्ति बनता है। वह अपने मनको समझाते हुए कहता है—अरे मूर्ख, इन भोग और विषयोंमें क्या धरा है। इन कर्मोंने तेरे अक्षय-सुखके भाण्डारको छीन लिया है। अनन्त ज्ञाननिधिको लूट रखा है और तू अनन्त बलका अधीश्वर भी है, इसका पता तक नहीं चल पाता। यदि तू स्वयं नष्ट होनेवाले विषयोंका परित्याग कर दे, तो संसार-संसरण रुक सकता है। **वादीभसिंह सूरि** समझाते हैं—

"अवश्यं यदि नश्यन्ति स्थित्वापि विषयाश्चिरम्।
स्वयं त्याज्यास्तथा हि स्यात् मुक्तिः संसृतिरन्यथा॥"

क्षत्रचूड़ामणि—१। ६७।

आध्यात्मिक कवि **दौलतरामजी** अपने मनको एक पदमें समझाते हुए कहते हैं कि यह विषय तुझे अपने स्वरूपको नहीं देखने देते और—

"पराधीन छिन छीन समाकुल दुर्गति विपति चखावै हैं"

प्रकृतिके अन्तस्तलका अन्तर्द्रष्टा बन कवि क्रूर कर्मके अत्याचारोंको ध्यानमें रखते हुए सोचता है कि जब छोटे-छोटे प्राणियोंको एक-एक इन्द्रियके पीछे अवर्णनीय यातनाओंका सामना करना पड़ता है, तब सभीका आसक्तिपूर्वक सेवन करनेवाले इस नरदेहधारी प्राणीका क्या भविष्य होगा—

"फरस विषयके कारन बारन गरत परत दुख पावै है।
रसना इन्द्री वश झष जलमें कण्टक कण्ठ छिदावै है॥
गंध लोल पंकज मुद्रितमें, अलि निज प्राण गमावै है।
नयन विषय वश दीप शिखामें, अंग पतंग जरावै है॥
करन विषय वश हिरन अरनमें, खलकर प्राण लुनावै है।
हे मन, तेरीको कुटेव यह करन विषयमें धावै है॥"

एक ओर जहाँ वह विषय और भोगोंके दुष्परिणामको देखता है, तो दूसरी ओर त्यागके माहात्म्यसे उसकी आत्मा प्रभावित हुए विना नहीं रहती। यह तो तृष्णा-पिशाचिनीका काम है, जो ओसकी बूंदके समान विषयभोगोंके द्वारा अनन्त तृषा शान्त करनेका जीव प्रयत्न करता है। वास्तवमें सांसारिक वस्तुओंमें सुख है ही नहीं। महात्मा लोग ठीक ही कहते हैं—

"जो संसार विषै सुख होता तीर्थंकर क्यों त्यागै!
काहेको शिव-साधन करते, संयमसों अनुरागे?"

यदि अपनी वास्तविक आवश्यकताओंपर दृष्टिपात किया जाए, तो समर्थ और वीतराग आत्मा मधुकरी वृत्तिके द्वारा भोजन ग्रहण करते हुऐ प्राकृतिक-परिधानको धारण कर प्रकृतिकी गोदमें आत्मीय विभूतियोंकी अभिवृद्धि कर सकता है। ऐसे व्यक्तिसे इष्ट-अनिष्ट कर्म स्वयं घबराते हैं। यदि आत्माकी दुर्बलता दूर हो जाय और उसमें पाशविक वासनाएँ न रहें, तो समर्थ आत्माको दिगम्बर वेषके सिवा दूसरी मुद्रा नहीं रुचेगी। कारण, उस मुद्रामें उत्कृष्ट ब्रह्मचर्यकी अवस्थिति और अभिवृद्धि होती है। आत्म-निर्भरता और आत्म-निमग्नताके लिए वह अमोघ उपाय है। उस पदसे आकर्षित हो इस युगके राष्ट्रीय महापुरुष गांधीजी कहते हैं—"नग्नता मुझे स्वयं प्रिय है।" यथार्थमें श्रेष्ठपुरुष

कृत्रिम वस्त्राभूषणादि व्यर्थकी सामग्रीका परित्याग कर प्रकृतिप्रदत्त मुद्राको धारण कर शान्तिलाभ करते हैं।

विषय-वासनाओंके दास और भोगोंके गुलाम स्वयंकी असमर्थता और आत्म-दुर्बलताके कारण दिगम्बर मुद्राको धारण करनेमें समर्थ न हो कभी-कभी उस निर्विकार मारविजयकी द्योतिनी विद्याको लाञ्छित करनेका प्रयत्न करते हैं। पार्श्वपुराणमें कितनी सुन्दर बात कही गयी है—

"अन्तर विषय वासना वरतै, बाहर लोक-लाज भय भारी।
तातैं परम दिगम्बर मुद्रा, धर नहिं सकैं दीन संसारी॥"

किन्तु वीर पुरुषोंकी बात और प्रवृत्ति ही निराली है। कवि इसीसे कहते हैं—

"ऐसी दुद्धर नगन परीषह, जीतैं साधु शील व्रतधारी।
निर्विकार बालकवत् निर्भय, तिनके पायन ढोक हमारी॥"

योगवासिष्ठमें जिनेन्द्रकी दिगम्बर और शान्त परिणतिसे प्रभावित हो रामचन्द्र अपनी अन्तरंग कामना इन शब्दोंमें व्यक्त करते हैं—

"नाहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु न च मे मनः।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा॥"

भर्तृहरि अपने वैराग्यशतकमें अपनी आत्माकी आवाज इन शब्दोंमें व्यक्त करते हैं—"प्रभो, वह दिन कब आएगा जब मैं स्वतंत्र, निस्पृह, शान्त, पाणिपात्रभोजी, दिगम्बर मुनि बन कर्म नाश करनेमें समर्थ होऊँगा[1]।"

भारतीय इतिहासके उज्ज्वल रत्न चन्द्रगुप्त, अमोघवर्ष सदृश

---

१. एकाकी निस्पृहो शान्तः पाणि-पात्रो दिगम्बरः।
कदाहं सम्भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः॥

नरेन्द्रोंने आत्माकी निर्मलता और निराकुलताके सम्पादननिमित्त स्वेच्छासे विशाल साम्राज्योंका त्यागकर दिगम्बर साधुकी मुद्रा धारण की थी।

Heart of Jainism (पृ० ३५) में स्टीवेन्सन नामक आंग्ल महिला लिखती हैं—"वस्त्रोंसे विमुक्त होनेके कारण मनुष्यके पास अन्य अनेक चिन्ताएँ नहीं रहतीं। उसे कपड़े धोनेके लिये पानीकी भी आवश्यकता नहीं है। निर्ग्रन्थ लोगोंने–दिगम्बर जैन मुनियोंने भले-बुरेके भेद-भावको भुला दिया है। भला वे लोग अपनी नग्नताको छिपानेके लिए वस्त्रोंको क्यों धारण करें[1]।" एक मुस्लिम कवि तनकी उरयानी–दिगम्बरत्वसे प्रभावित हो कितनी मधुर बात कहता है—

"तनकी उरयानीसे बेहतर है नहीं कोई लिबास।
यह वह जामा है कि जिसका नहीं उलटा सीधा॥"

शायर जलालुद्दीन रूमीने सांसारिक कार्योंमें उलझे हुए व्यक्तिसे आत्म-निमग्न दिगम्बर साधुको अधिक आदरणीय कहा है। वे कहते हैं कि वस्त्रधारी 'आत्मा'के स्थानमें 'धोबी' पर निगाह रखता है। दिगम्बरत्व का आभूषण दिव्य है—

"मस्त बोला मुहत सिव से कामजा,
होगा क्या नंगे से नू आहदावरा।
है नज़र धोबी पै जामःपोश की,
है तज़ल्लो ज़ेवरे उरियाँतनी॥"

इस प्रसंगमें यह बात विशेष रीतिसे हृदयङ्गम करने की है, कि

---

१ Being rid of clothes one is also rid of a lot of other worries. No water is needed in which to wash them. The Nirgranthas have forgotten all knowledge of good and evil. Why should they require clothes to hide their nakedness.'

शरीरका दिगम्बरत्व स्वयं साध्य नहीं, साधन है। उसके द्वारा उस उत्कृष्ट अहिंसात्मक वृत्ति की उपलब्धि होती है, जो अखण्ड शान्ति और सर्व सिद्धियोंका भण्डार है। दिगम्बरत्वका प्राणपूर्ण वाणीमें समर्थन करने वाले महर्षि कुन्दकुन्दने जहाँ–"णग्गो हि मोक्खमग्गो, सेसा उम्मगाया सव्वे"—दिगम्बरत्व ही मोक्षका मार्ग हैं, शेष सब मार्ग नहीं हैं, वहाँ वे यह भी लिखते हैं कि शारीरिक दिगम्बरत्वके साथ मानसिक दिगम्बरत्व भी आवश्यक है। यदि शरीरकी नग्नता साधन न हो, साध्य होती, तो दिगम्बरत्वकी मुद्रासे अंकित पशु-पक्षी आदि सभी प्राणियोंको मुक्त होते देर न लगती। जो व्यक्ति इस बातका स्वप्न देखते हैं, कि वस्त्रादि होते हुए भी श्रेष्ठ अहिंसा-वृत्तिका रक्षण हो सकता है और इसलिए निर्वाणका भी लाभ हो सकता है, उन्हें सोचना चाहिए कि वाह्य वस्तुओंके रखने, उठाने आदिमें मोह ममताका सद्भाव दूर नहीं किया जा सकता।

एक साधुकी कथा प्रसिद्ध है—पहिले तो वह सर्व परिग्रहरहित था, लोकानुरोधसे उनसे दो लंगोटियाँ स्वीकार कर लीं। चूहे द्वारा एक वार वस्त्र कट गए, तब निश्चित संरक्षणनिमित्त चूहेकी ओषधिके लिए विल्ली पाली गई। और, विल्लीके दुग्धनिमित्त गौकी व्यवस्था भक्त-जनोंके प्रेमके कारण स्वीकार कर ली गई। गायके चरानेके लिए स्वावलम्बनकी दृष्टिसे कुछ चरोखर भूमि भी एक भक्तसे मिल गई। कहते हैं–भूमिका कर समय पर न चुकानेसे साधुजीसे अ-जानकार राज-कर्मचारीने उनकी बहुत बुरी तरह मान-मरम्मत की। उस समय शान्त अंतःकरणने अपनी आवाज द्वारा उन्हें सचेत किया—"भले आदमी, परिग्रह तो ऐसी आफतें पुरस्कारमें प्रदान किया ही करता है"—

"फांस तनक सी तन मैं सालै। चाह लंगोटीकी दुख भालै॥
भालै न समता सुख कभी नर विना मुनि मुद्रा धरे।

घन नगन पर तन-नगन ठाढ़े सुर-असुर पायनि परे ॥"

—द्यानतराय

प्रवचनसारमें कुन्द-कुन्द स्वामीने लिखा है—

"हवदि वा ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध काय चेट्ठम्हि ।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छंड्डिया सव्वे ॥
णहि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसय-विसुद्धी ।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिओ ॥
किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरम्भो वा असंजमो तस्स ।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥"

अर्थात् मुनियोंके गमनागमनादिरूप चेष्टासे त्रस, स्थावर जीवोंका वध होते हुए भी कभी बंध होता है, कभी नहीं भी । किन्तु, यह तो निश्चित है कि उपधियोंसे—वस्त्रादि परिग्रहसे नियमसे बंध होता है। इसलिए श्रमणको सब परिग्रह छोड़ना चाहिए । त्याग निरपेक्ष नहीं होता, वस्त्रादि परिग्रह छोड़े बिना भिक्षुके चित्तमें निर्मलता नहीं होती। अ-विशुद्ध चित्तके होनेपर कैसे कर्मक्षय होगा ? अतः परिग्रहके होनेपर ममत्व आरम्भ अथवा असंयम क्यों नहीं होंगे ? तब परद्रव्यमें आसक्त हुआ साधु किस प्रकार आत्म-साधना कर सकेगा ? (अध्याय ३ । १९-२०-२१) ।

जैन गुरुओंकी दिगम्बरत्वसम्बन्धी मान्यताको वास्तविक रूपसे न समझनेके कारण कोई यह समझते हैं कि दिगम्बर धर्मानुयायी गृहस्थोंको भी कम-से-कम आहार लेते समय दिगम्बर रहना चाहिए । इसके विपरीत जो सदा सवस्त्र रहें उन्हें श्वेताम्बर कहते हैं । इन्साइक्लोपीडिया जिल्द १५, ११ वें संस्करणके पृ० २८ में पूर्वोक्त भ्रम इन शब्दोंमें व्यक्त किया गया है—"The Jainas themselves have

abandoned the practice; the Digambaras being skyclad at meal time only and the Swetambaras being always completely clothed."

तात्विक बात तो यह है कि दिगम्बर साधु और दिगम्बर मूर्तिको पूजनेके कारण गृहस्थ दिगम्बर जैन कहे जाते हैं। सम्पूर्ण अहिंसाके धारक जितेन्द्रिय मुनिके सिवा गृहस्थ मुनिमुद्रा धारण नहीं करता। गृहस्थके वस्त्र पहननेकी तो बात ही क्या, वह नीतिमत्तापूर्वक बड़े-बड़े साम्राज्य तकका संरक्षण करता है।

अंग्रेजी भाषाका महाकवि **शेक्सपियर** अपने हेमलेट नाटक (Act III & II) में लिखता है—Give me that man, that is not passion's slave. मुझे ऐसा मनुष्य बताओ जो वासनाओंका दास न हो। यदि दिगम्बर जैन मुनिका साक्षात् दर्शन अथवा परिचय महाकविको प्राप्त हुआ होता; तो उसकी यह जिज्ञासा शान्त हुए विना न रहती।

दिगम्बर मुनिका जीवन व्यतीत करनेके लिए महान् आत्मबल चाहिए। मानसिक कमजोरी या प्रमाद क्षणभरमें इस जीवको पतित कर सकते हैं। उज्ज्वल भावनाओं और विषय-विरक्तिकी प्रेरणासे महान् पुण्योदय होनेपर किसी विरले माईके लालके मनमें बालकवत् निर्विकार दिगम्बर मुद्रा धारण करनेकी लालसा जाग्रत् होती है। आचार्य गुणभद्र लौकिक वैभव, प्रतिष्ठा, साम्राज्य-लाभ आदिसे अधिक विशाल सौभाग्य मुनित्वकी ओर जानेवालेका बताते हैं; अन्यका जीवन जहाँ विषय-लोलुपताके कारण पराधीनता और विपत्तिपूर्ण है, वहाँ अहिंसामय साधुकी जीवनी अभय और आनन्दका भण्डार है। गुणभद्र स्वामी अपने आश्चर्यको इन शब्दोंमें प्रतिबिम्बित करते हैं—

"न जाने कस्येदं परिणतिरुदारस्य तपसः"

—आत्मानुशासन ६७।

दिगम्बर साधुओंका उल्लेख अन्य सम्प्रदायोंमें भी पाया जाता है। परमहंस नामक साधु नग्न रहा करते हैं। सिक्खोंके यहाँ श्रेष्ठ रूपमें दिगम्बर साधु वर्णित हैं। अबुलकासिम जीलानी मुस्लिम साधुने दिगम्बर-मुद्रा धारण की थी।[1] अब्दल नामके उच्च मुस्लिम साधु पूर्णतया नग्न विहार करते हैं।[2]

बंबई प्रान्तके कोपरगाँव नामक स्थानपर एक नग्न-दिगम्बर मुसलिम साधुका समाधिस्थल मौजूद है।

दिगम्बर जैन साधुका पद वस्त्रमात्रका परित्यागकर स्वच्छन्द विचरण करनेवालेको नहीं प्राप्त होता। उस महापुरुषका जीवन अत्यन्त संयत और सुव्यवस्थित रहता है। वे किसी भी प्राणीका घात नहीं करते, यद्यपि उनके गमनागमन, श्वासोच्छ्वास आदिमें प्राणि-घात अनिवार्य है, तथापि यथाशक्ति राग-द्वेष आदि विकारोंको दूरकर आत्म-निर्मलताका पूर्णतया रक्षण करते हैं। श्रेष्ठ रीतिसे सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य महाव्रतका भी परिपालन करते हैं। वे मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको सहसा रोकनेमें असमर्थ हो, गमनागमन और भाषणके सम्बन्धमें निम्न प्रकार प्रवृत्ति करते हैं—

---

१ "Abul Kasim Gilani discarded even lion strip and remained completely naked."—From Religious life & attitude in Islam.—p. 203.

२ "The higher Saints of Islam called 'Abdals' generally went about perfectly naked."—Mysticism and Magic in Turkey-Quoted in the Digamber Saints of India.

"परमाद तज चौ-कर-मही लख समिति ईर्या तैं चलैं।
जग सुहितकर सब अहित हर, श्रुति सुखद सब संशय हरैं।
भ्रम-रोग हर जिनके मुखचन्द्र तैं, अमृत झरै॥"

आहारसम्बंधी ऐषणा नामक समितिका वे विशेष ध्यान रखते हैं। अतः—

"छ्यालीस दोष बिना सु-कुल श्रावकतनै घर असनको।
लैं तप बढ़ावन हेत नहिं तन पोषते तज रसनको॥"

वे ग्रंथ सदृश ज्ञानकी सामग्री, शौचसम्बन्धी कमण्डलु एवं जीवदया निमित्त मयूर पंखोंसे बनी हुई पिच्छीको विवेकपूर्वक अहिंसात्मक रीतिसे उठाते-धरते हैं। मलमूत्रादिकका जन्तु-रहित भूमिमें परित्याग करते हैं—

"शुचि ज्ञान संजम उपकरन लखि कैं गहैं लखि कैं धरैं।
निर्जन्तु थान विलोकि तन मल-मूत्र-श्लेषम परिहरैं॥"

वे पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें राग-द्वेषका परित्याग करते हैं। केश बढ़ने पर मस्तकमें जूँ आदिकी उत्पत्ति होती है और केशोंको कटानेके लिए नाई आदिकी आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए अर्थकी अपेक्षा होगी। केशोंको बिना कटाए जीवोंका सद्भाव या तो ध्यानमें विघ्न उत्पन्न करेगा अथवा उनके खुजाने आदिसे उनका घात होगा। उत्कृष्ट अहिंसा, अपरिग्रह और स्वावलम्बी जीवनके रक्षणनिमित्त शरीरके प्रति निर्मम हो वे कम-से-कम दो माह और अधिक-से-अधिक चार माहके भीतर अपने केशोंका अपने हाथोंसे लोंच करते हैं। आत्म-बलकी वृद्धि होनेके कारण दर्शकोंके हृदयमें पीड़ा उत्पन्न होते हुए भी वे साधु प्रसन्नतापूर्वक अपने केशोंको घासके समान उखाड़ते हैं। इस महामुनिका उद्देश्य शरीरको जीवनयात्राके लिए एक गाड़ीतुल्य समझ भोजनरूपी तेल देते हुए जीवन-यात्रा करना रहता है। उनका यह दृढ़-

विश्वास है कि शरीरका पोषण आत्माके सच्चे हितका कार्य नहीं करेगा। आत्माका शोषण करनेवाली क्रियाएँ शरीरकी अभिवृद्धिनिमित्त होंगी। योगिराज पूज्यपाद कितनी मार्मिक बात कहते हैं—

"यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥"—इष्टोपदेश १९।

अहिंसात्मक दृष्टि और चर्या एवं शरीरके प्रति निर्ममत्व होनेके कारण वे स्नान, दन्तधावन, वस्त्रधारणके प्रति विरक्त हो खड़े होकर अपने हाथरूप पात्रोंमें दिनमें एक बार गोचरीवृत्ति द्वारा शुद्ध और तपश्चर्यामें वृद्धि करनेवाले भोजनको अल्पमात्रामें ग्रहण करते हैं। गाय जिसप्रकार घास डालनेवाले व्यक्तिके सौन्दर्य आदिपर तनिक भी दृष्टि न दे अपने आहारको लेती है, उसी प्रकार यह महान् साधक देवाङ्गना-समान सुन्दरियों आदिके द्वारा भी सादर आहार अर्पित करनेपर निर्मल मनोवृत्तिपूर्वक आहार ग्रहण करते हैं। दाताके शरीर-सौन्दर्य आदिसे उनकी आत्मा तनिक भी रागादि विकारपूर्ण नहीं होती। उनकी आहार चर्याको माधुकरी वृत्ति भी कहते हैं। जैसे—मधुकर—भ्रमर पुष्पोंको पीड़ा दिए विना आवश्यक रस-लाभ लेता है, उसी प्रकार यह सन्त-जन गृहस्थके यहाँ अपने लिए जैसा भी रूखा-सूखा भोजन बना हो और शुद्ध हो, उसे शान्ततापूर्वक ग्रहण करते हैं। इनके आहारनिमित्त गृहस्थको कोई कठिनाई नहीं होती। ऐसे योगियोंको आहार अर्पण करनेके समयको वह अपने जीवनकी सुनहरी घड़ियोंमें गिनता है। कारण, इस पवित्र कार्यसे गृह-वासमें चक्की, चूल्हा, ऊखली, बुहारी, जल-संग्रह रूप, 'पंच-सूना' नामके कार्यों द्वारा संचित दोषोंका मोचन होता है। साधु दैन्यपूर्वक आहार ग्रहण नहीं करते। गृहस्थ श्रद्धा, भक्ति, प्रेम और आदरपूर्वक जब आहार ग्रहण करनेकी मुनिराजसे प्रार्थना

करता है, तब वे शुद्ध, सात्त्विक तथा श्रेष्ठ अहिंसात्मक वृत्तिके अनुकूल आहार लेते हैं। अन्य-पंथी साधु नामधारी व्यक्तियोंके समान गाँजा तमाखू हुक्का ग्रहण करना, मनमाना भोजन लेना, दिन और रात्रिका भेद न रखना आदि बातोंसे ऐसे सन्त पृथक् रहते हैं।

कोई-कोई सोचते हैं—महान् साधुको शुद्ध-अशुद्ध आदिका भेद भूल, जैसा भी जब जिसने दिया, भोजन ले लेना चाहिए। यह विचार भ्रमपूर्ण है। साधुओंका विवेक सदैव सजग रहता है। उसके प्रकाशमें अहिंसात्मक वृत्तिकी रक्षा करते हुए ही वे उचित और शुद्ध आहारको ही ग्रहण करते हैं। वेदान्त-सारमें लिखा है,—यदि प्रबुद्ध तत्त्वज्ञानीके आचरणमें स्वच्छन्दताका प्रवेश हो जाए तब तत्त्वज्ञानी और कुत्तेकी अशुचि-भक्षण वृत्तिमें क्या अन्तर रहेगा—

"बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥" पृ० १४।

जैन-मुनिका केश-लोंच और आहार-चर्या दर्शकके चित्तमें गहरा प्रभाव डाले बिना नहीं रहते। औरङ्गज़ेबके समयमें भारत आनेवाले डा० बर्नियर अपनी पुस्तकमें लिखते हैं—"मुझे बहुधा देशी रियासतोंमें दिगम्बर मुनियोंका समुदाय मिलता था। मैंने उन्हें बड़े शहरोंमें विहार करते हुए पूर्णतया नग्न देखा है और उनकी ओर स्त्रियों, लड़कियोंको बिना किसी विकार-युक्त ही दृष्टिपात करते हुए देखा है। उन महिलाओंके अन्तःकरणमें वे ही भाव होते थे जो सड़कपर से जाते हुए किसी साधुको देखनेपर होते हैं। महिलाएँ भक्तिपूर्वक उनको आहार बहुधा कराती थीं।[१]" एक दूसरे विदेशी यात्री टेवरनियरने लिखा है—

---

१ "I have often met generally in the territory of some Raja bands of these naked Fakirs. I have seen them walk

"यद्यपि स्त्रियाँ भक्तिपूर्वक उनके समीप पहुँचतीं हैं फिर भी उनमें विकार-भावका रंचमात्र भी दर्शन नहीं होता। इसके सिवा उनका दर्शनकर तुम यह कहोगे कि वे आत्म-ध्यानमें निमग्न हैं।"[१]

मेक्‌क्रिण्डल नामक विद्वान् पुरातन-भारत नामक अपनी पुस्तकमें लिखते हैं—"दिगम्बर विहार करनेवाले यह जैन मुनि कष्टोंकी परवाह नहीं करते थे। वे सबसे अधिक सन्मानकी दृष्टिसे देखे जाते थे। प्रत्येक धनी व्यक्तिका घर उनके लिए उन्मुक्त था—यहाँतक कि वे अन्तःपुरमें भी जा सकते थे।"[२]

वे समता, जिनेन्द्रस्तुति, वीतरागवन्दन, स्वाध्याय, दोषशुद्धि निमित्त प्रतिक्रमणरूप छह आवश्यक कर्मोंको सावधानीपूर्वक पालते हैं। कविवर दौलतरामजीने लिखा है—

---

stark naked through a large town, women & girls looking at them without any more emotion than may be created, when a hermit passes through our streets. Females often bring them alms with devotion......" Dr. Berniers 'Travels in the Moghul Empire. p. 317'

१ "Although the women reach them out of devotion······ you do not see in them any sign of sensuality, but on the contrary you would say they are absorbed in abstraction,"

—J. B. Tavernier's Travels p. 291-292.

२ "These men (Jain Saints,) went adout naked innured themselves to hardships and were held in highest honour. Every wealthy house is open to them even to the apartments of the women."

Mc. Crindle's—Ancient India P. 71-72.

"सम्यक प्रकार निरोध मन-वच-काय आतम ध्यावते ।
तिन सु-थिर मुद्रा देखि मृग-गण उपल खाज खुजावते ॥
रस-रूप-गंध तथा फरस अरु शब्द शुभ-असुहावने ।
तिनमें न राग-विरोध पंचेंद्रिय जयन पद पावने ॥
समता सम्हारैं थुति उचारैं, वन्दना जिन देव को ।
नित करैं श्रुत-रति, धरैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेव को ॥
जिनके न न्हौन, न दन्त-धोवन लेश अंबर आवरन ।
भू माहिं पिछली रयनि मैं कछु शयन एकाशन करन ॥
एक बार दिन मैं लें अहार खड़े अलप निज-पाणि मैं ।
कच-लोंच करत न डरत परिषह सों लगै निजध्यान मैं ॥
अरि-मित्र, महल-मसान, कंचन-काँच निन्दन-थुतिकरन ।
अर्घावतारन-असि प्रहारन मैं सदा समता धरन ॥"

—छहढाला, छठवीं ढाल ।

पूर्व-बद्ध कर्मोंकी निर्जरा करनेके लिए तथा संकट आनेपर सन्मार्गसे अपना कदम पीछे तनिक भी न हटे इस दृढ़ता निमित्त वे भूख, प्यास आदि बाईस परीषहों (= कष्टों) को राग-द्वेष-मोहको छोड़ सहन करते हैं । पार्श्वपुराणमें इनके नाम यों हैं—

"क्षुधा, तृषा, हिम, उष्ण, डंस-मशक दुख भारी ।
निरावरन-तन, अरति-खेद उपजावन हारी ॥
चरिया, आसन, शयन, दुष्ट बाधक, बध बंधन ।
याचै नहीं, अलाभ, रोग, तिण-फरस निबंधन ॥
मल-जनित, मान-सन्मान-वश, प्रज्ञा और अज्ञानकर ।
दर्शन-मलीन बाईस सब-साधु परीषह जान नर ॥

—भूधरदास

बहिरात्म-भाववाले भाई सोचते हैं 'बिना कोई विशेष बलवती भावना उत्पन्न हुए साधु कष्टोंको आमन्त्रण दे प्रसन्नतापूर्वक किस प्रकार सहन कर सकता है ? पंडित आशाधरजीने बताया है कि सत्पुरुष संकटके समय सोचते हैं–मैं संसारमें कर्मोंके अधीन हूं, तब फिर इसमें मुझे विपत्तिके सिवा और क्या मिलेगा ? मैं मोक्षस्वरूप हूं, अविनाशी हूं, आनन्दका भण्डार हूं, कल्याणस्वरूप हूं। शरण रूप हूं।[1]

आत्माकी अमरता पर अखण्ड विश्वास रख वे नश्वर जगत्के लुभावने रूपके भ्रममें नहीं फंसते, सद्भावनाओंके द्वारा कहते हैं—

'मोह नींद से उठ रे चेतन'—तनिक सोचतो—

"सूरज चांद छिपै निकसै, रितु फिर-फिर कर आवै,
प्यारी आयु ऐसी बीतै पता नहिं पावै।
काल सिंहने मृग-चेतनको घेरा भव-वनमें।
नहीं बचावन हारा कोई, यों समझो मनमें॥
मंत्र-यंत्र सेना धन-सम्पति राज-पाट छूटै।
वश नहिं चलता, काल-लुटेरा, काय नगरि लूटै॥"

प्रबुद्ध साधक यह भी विचारता है—

"जनमै मरै अकेला चेतन सुख दुखका भोगी।
और किसीका क्या,—इक दिन यह, देह जुदी होगी॥
कमला चलत न पैंड,—जाय मरघट तक परिवारा।
अपने-अपने सुखको रोवैं पिता, पुत्र दारा॥
ज्यों मेलेमें पंथी जन, नेह धरैं फिरते।
ज्यों तरवर पै रैन बसेरा पंछी आ करते॥

---

१ मोक्ष आत्मा सुखं नित्यः शुभः शरणमन्यथा।
भवोऽस्मिन् वसतो मेऽन्यत् किं स्यादित्यापदि स्मरेत्॥
—सागारधर्मामृत, ५, ३०।

कोस कोई, दो कोस कोई उड़ फिर, थक-थक हारै ।
जाय अकेला हंस, संगमें कोई न पर मारै ॥"

संसारके विषयमें वह चिन्तवन करता है—

"जन्म मरण अरु जरा रोग से सदा दुखी रहता ।
द्रव्य, क्षेत्र अरु काल भाव भव परिवर्तन सहता ॥
छेदन भेदन नरक पशु गति, वध बंधन सहना ।
राग-उदयसे दुख सुर गतिमें कहाँ सुखी रहना ॥
भोग पुण्य-फल हो इक इन्द्री क्या इसमें लाली ।
कुतवाली दिन चार फिर वही खुरपा अरु जाली ॥"

जड़से आत्माको भिन्न विचारता हुआ अपनी आत्माको इस प्रकार साधक सचेत करता है—

"मोहरूप मृग-तृष्णा-जलमें मिथ्या-जल चमकै ।
मृग-चेतन नित भ्रममें उठ-उठ दौड़े थकथक कै ॥
जल नहिं पावै प्रान गमावै, भटक भटक मरता ।
वस्तु पराई मानै अपनी, भेद नहीं करता ॥
तू चेतन अरु देह अचेतन यह जड़, तू ज्ञानी ।
मिलै अनादि, यतन तें बिछुरैं, ज्यों पय अरु पानी ॥"

इस घृणित मानव देहको सड़े गन्नेके समान समझ साधक सोचता है—

"काना पौंडा पड़ा हाथ यह, चूसै तौ रोवै ।
फलै अनन्त जु धर्मध्यानकी भूमि विषैं बोवै ॥
केशर चन्दन पुष्प सुगन्धित वस्तु देख सारी ।
देह परस तैं होय अपावन निस-दिन मल जारी ॥"

साधनकी अनुकूल सामग्रीको अपूर्व मान वे महापुरुष सोचते हैं और अपने अनन्त जीवनपर दृष्टि डालते हुए इस प्रकार विचारते हैं—

"दुर्लभ है निगोद से थावर अरु त्रस-गति पानी।
नर-कायाको सुरपति तरसै, सो दुर्लभ प्रानी॥
उत्तम देश सु-संगति दुर्लभ श्रावक-कुल पाना।
दुर्लभ सम्यक्, दुर्लभ संयम, पंचक गुण ठाना॥
दुर्लभ रत्नत्रय आराधन, दीक्षाका धरना।
दुर्लभ मुनिवरको व्रत पालन, शुद्ध भाव करना॥
दुर्लभ-से-दुर्लभ है चेतन, बोधि-ज्ञान पाना।
पाकर केवल-ज्ञान, नहीं फिर इस भवमें आना॥"

—मंगतराय, बारह भावना।

विषयभोगोंमें मनुष्य-जीवनको लगानेवाले, साधककी दृष्टिमें अज्ञता-पूर्ण काम करते हैं। उस अज्ञताको बनारसीदासजी इन शब्दोंमें चित्रित करते हैं—

"ज्यों मति-हीन विवेक विना नर,
साजि मतङ्ग जो ईंधन ढोवै।
कंचन-भाजन धूरि भरै शठ,
मूढ़ सुधारस सों पग धोवै॥
बे-हित काग उडावन कारन,
डारि उदधि 'मनि' मूरख रोवै।
त्यों नर-देह दुर्लभ्य बनारसि,
पाय अजान अकारथ खोवै॥"

—नाटक समयसार

सुकवियोंने अपनी विविध शैलीसे साधकके जीवनपर बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला है। महाकवि बनारसीदास, गृहके त्याग करनेवाले

और तपोवन-वासी साधुको सद्गुणरूपी कुटुम्बसे गृहवासी बताते हैं। देखिए—

"धीरज-तात, क्षमा-जननी, परमारथ-मीत, महारुचि-मासी।
ज्ञान-सुपुत्र, सुता-करुणा, मति-पुत्रवधू, समता अति भासी॥
उद्यम-दास, विवेक-सहोदर, बुद्धि-कलत्र शुभोदय-दासी।
भावकुटुम्ब सदा जिनके ढिग-यों मुनिको कहिये गृहवासी॥"

—बनारसीविलास, २०५।

यद्यपि मुनि भूमिपर शयन करते हैं और जीवदयानिमित्त मयूरकी पिच्छी और शुचिताका उपकरण कमण्डलु रखते हैं, फिर भी कवि-जन मनोहर भाषामें उनकी सामग्रीको इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

"विन्ध्याद्रिर्नगरं गुहा वसतिकाः शय्या शिला पार्वती
दीपाश्चन्द्रकरा मृगाः सहचरा मैत्री कुलीनाङ्गना।
विज्ञानं सलिलं तपः सदशनं येषां प्रशान्तात्मनां
धन्यास्ते भवपङ्कनिर्गमपथप्रोद्देशकाः सन्तु नः॥"[1]

—ज्ञानार्णव। शुभचन्द्र

वे सन्त-जन कर्मोंके फन्देमें फँसकर अपना अहित नहीं करते। कर्मोंने इस जगत्में क्रोधादि कषायरूपी चौपड़का खेल जमाया है। उस खेलके चक्करसे दिगम्बर-जैन मुनि बचे रहते हैं। किन्तु, जगत्के अन्य प्राणी उस खेलमें आसक्तिपूर्वक भाग लेते हैं तथा हारकर पीछे रोते-पछताते हैं। भूधरदासजी कहते हैं—

---

१ "जे बाह्य परवत वन बसैं गिरि-गुफा-महल मनोग।
सिल-सेज, समता-सहचरी, शशिकिरन-दीपक जोग॥
मृग-मित्र, भोजन-तपमयी, विज्ञान-निरमल नीर।
ते साधु मेरे उर बसौ, मम हरहु पातक पीर॥" —भूधरदास

"जगत-जन जूवा हारि चले ।
काम कुटिल संग बाजी मांडी उनकरि कपट छले ॥
चार कषायमयी जहँ चौपरि, पाँसे जोग रले ।
इस सरवस, उत कामिनि-कौड़ी, इह विधि झटक चले ॥
कूर खिलारि विचार न कीन्हों, ह्वै हैं ख्वार भले ।
बिना विवेक मनोरथ काके, 'भूधर' सफल फले ॥"

जगत्के प्राणी कनक, कामिनी आदिमें अपनेको कृतार्थ मानते हैं; किन्तु, साधककी स्थिति इससे निराली है। मृत्युके नामसे जहाँ दुनिया घबराती है, जीवनकी ममतावश जहाँ किये गये बड़े से बड़े अनर्थ क्षम्य माने जाते हैं, वहाँ साधक मृत्युको अपना स्नेही तथा परम मित्र मान मृत्यु-कालको महोत्सव मानते हैं। मरणके समय साधक सोचता है—

"यह तन जीर्ण कुटी सम आतम, यातैं प्रीति न कीजै ।
नूतन महल मिलै जब भाई, तब यामें क्या छीजै ॥"

आत्माकी अमरतापर विश्वास होनेके कारण अपने उज्ज्वल भविष्यका विश्वास करते हुए भावी जीवनको जीर्ण-कुटीके स्थानपर भव्य-भवन मानता है। वह पूछता है—

"मृत्यु होनेसे हानि कौन है ?–याको भय मत लाओ ।
समतासे जो देह तजे तो–तो शुभ-तन तुम पाओ ॥
मृत्यु-मित्र उपकारी तेरो–इस अवसरके माहीं ।
जीरण तनसे देत नयो यह, या सम साहू नाहीं ॥
या सेती इस मृत्यु समय पर उत्सव अति ही कीजै ।
क्लेश भावको त्याग सयाने समता भाव धरीजै ॥"

अपनी आत्माको उत्साहित करते हुए साधक सोचता है—

"जो तुम पूरब पुण्य किये हैं, तिनको फल सुखदाई।
मृत्यु-मित्र विन कौन दिखावै, स्वर्ग-सम्पदा भाई॥
कर्म महादुठ वैरो मेरो ता सेती दुख पावै।
तन-पिंजरमें वन्द कियो मोहि, यासों कौन छुड़ावैं॥
भूख-तृषा आदि अनेकन, इस ही तनमें गाढ़े।
मृत्युराज अब आय दयाकर, तन-पिंजरसों काढ़े॥"

मृत्युको वह कल्पवृक्ष मानता है। इसलिए कहता है—

"मृत्यु-कल्पद्रुम पाय सयाने, मांगो इच्छा जेती।
समता धरकर मृत्यु करो तो, पाओ सम्पत तेती॥"

मृत्युको महायात्रा कहते हैं। मरण-कालको शुभ-यात्राका अवसर मानकर शकुन-शास्त्रकी दृष्टिसे प्रस्थान निमित्त शुभ-सामग्री संग्रहके लिए कवि सूरचन्दजी कितने पवित्र और उद्बोधक विचार व्यक्त करते हैं—

"जो कोई नित करत पयानो ग्रामान्तर के काजे।
सो भी शकुन विचारैं नीके, शुभके कारण साजै॥
मातपितादिक सर्व कुटुम मिलि, नीके शकुन बनावैं।
हलदी, धनिया, पुंगी, अक्षत, दूव दही फल लावैं॥
एक ग्राम जानेके कारण, करैं शुभाशुभ सारे।
जब परगतिको करत पयानो, तब नहिं सोचो प्यारे॥"

मृत्युके विषयमें साधककी निराली कल्पना होनेके कारण अवर्णनीय विपत्तियोंके आनेपर भी वह सत्पथसे विचलित नहीं होता। यथार्थमें ऐसे साधकके आगे कर्मोंको भी हार माननी पड़ती है। महाकवि गुणभद्र इसीलिए कहते हैं—

"जीविताशा धनाशा च येषां तेषां विधिर्विधिः ।
किं करोति विधिस्तेषां येषां आशा निराशता ॥"

—आत्मानुशासन, १६३ ।

साधककी मनोवृत्ति मोही-जगत्से निराली होती है। महामुनि धन-दौलतकी तो कोई आशा नहीं करते, सन्मार्गपर अपना कदम बढ़ानेके सिवा जीवनकी ममतावश कभी पीछे नहीं लौटते। अकिंचन-पना उनकी सम्पत्ति है। कर्त्तव्य-पालन करते हुए आत्म-जागृतिपूर्वक मृत्युको वे जीवन मानते हैं। भला ऐसी वलिष्ठ ज्ञानी आत्माओंका दुर्दैव क्या कर सकता है?

आत्मानुशासनकारकी वाणी कितनी प्राणपूर्ण है—

"निर्धनत्वं धनं येषां मृत्युरेव हि जीवितम् ।
किं करोति विधिस्तेषां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम् ॥१६२॥"

पश्चिमके विद्वान् समाधिमरणकी महत्ताको न जान उसे आत्मघात (Suicide) समझते हैं। विदेशोंमें जैनधर्मका प्रचार करनेवाले स्वर्गीय विद्वान् वैरिष्टर चम्पतरायजी विद्या-वारिधिने इंगलैंडसे भारत लौटनेका कारण यह वताया था कि अव मेरा रोग काबूके वाहर हो गया है। पश्चिमके लोग समतापूर्वक प्राणोंका उत्सर्ग करना नहीं जानते इसलिए समाधि-मरणकी लालसासे मैं तीर्थङ्करोंकी भूमि स्व-देशको लौट आया। भारतीय-दर्शनके प्रामाणिक मानेजानेवाले विद्वान् सर राधाकृष्णन् भी मालूम होता है पश्चिमी प्रवाहमें वहकर समाधिमरणको आत्मघात कह वैठे हैं। उन्होंने जैन-धर्मके विषयमें कहीं-कहीं ऐसी विचित्र वातें लिखी हैं जो जैन तत्त्व-ज्ञानका प्राथमिक विद्यार्थी भी न लिखता। आचार्य और उपाध्याय साधनाके पथ पर चलनेवाली प्रगतिशील अपूर्व आत्माएँ हैं। उनको वे सिद्धों (Perfect Souls) का भेद वताते

हैं। समाधिमरणको आत्मघात समझनेमें भी ऐसा ही भ्रम हुआ है। उन्होंने लिखा है—"Which Budhism repudiates Jainism holds that it "Increaseth life". If assesism is hard to fractise, if we cannot resist our passions and endure austerities, suicide is permitted"—Indian philosophy Vol. 1. p. 327.

—"जहाँ बौद्धधर्म आत्म-घातका निषेध करता है, वहाँ जैनधर्म आत्म-घातको जीवन-वर्धक मानता है। यदि साधु-जीवनका निर्वाह कठिन हो, यदि हम अपनी वासनाओंपर विजय प्राप्त न कर सकें और तपश्चर्या न कर पावें, तब आत्मघातकी आज्ञा दी गई है।"

इस सम्बन्धमें यह जानना आवश्यक है कि जैन-शासनमें आत्म-घातको पाप, हिंसा और आत्माका अहितकारी बताया है। आत्मघातमें घबराकर मानसिक दुर्बलतावश अपनी जीवन डोर काटनेकी अविवेकता पाई जाती है। आत्मघाती आत्माकी अमरता और कर्मोंके शुभाशुभ फल भोगनेके बारेमें कुछ भी नहीं सोच पाता। वह विवेक-हीन बन यह समझता है कि वर्तमान जीवन-दीपकके बुझ जानेपर मेरी जीवनसे उन्मुक्ति हो जाएगी। उसके परिणामोंमें मलिनता, भीति, दैन्य आदि दुर्बलताएं पाई जाती हैं। समाधिकरणमें निर्भीकता और वीरत्वका सद्भाव पाया जाता है।—राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभका परित्यागकर शुद्ध अहिंसात्मक वृत्तिका पालन समाधिमरणका साधक करता है। यह ठीक है कि आत्म-घात और समाधिमरण दोनोंमें प्राणोंका विमोचन होता है; किन्तु दोनोंमें मनोवृत्तिका बड़ा अन्तर है। आत्मघातमें जहाँ मरनेका लक्ष्य है, वहाँ समाधिमरणका ध्येय, मृत्युके योग्य अनिवार्य परिस्थिति आनेपर अपने सद्गुणोंकी रक्षा करनेका,

अपने जीवन निर्माणका है। एकका लक्ष्य जहाँ जीवनको विगाड़ना है, वहाँ दूसरेकी दृष्टि जीवनको वनाने और सम्हालनेकी रहती है। पूज्य-पाद स्वामी सर्वार्थसिद्धिमें इस विषयको इस प्रकार स्पष्ट करते हैं कि किसी गृहस्थके घरमें बहुमूल्य वस्तुएं रखी हैं; भीषण अग्निसे वह घर जलने लगा। यथाशक्ति उपाय करनेपर भी आग बढ़ती ही जा रही है। ऐसी अ-साधारण परिस्थितिमें चतुर व्यक्ति मकानका ममत्व छोड़ अपनी बहुमूल्य सुवर्ण-रत्नादि सामग्रीको बचानेमें लग जाता है। उस गृहस्थको मकानका ध्वंसक समझना ठीक नहीं है। कारण जब तक वश चला, उसने रक्षाका ही प्रयत्न किया। किन्तु, जब रक्षा असम्भव हो गई, तब कुशल व्यक्ति होनेके नाते अपनी बहुमूल्य सामग्रीका रक्षण करना उसका कर्त्तव्य हो गया। इसी प्रकार साधक रोगादिसे शरीरादिके आक्रान्त होनेपर सहसा समाधिमरणकी ओर दौड़ नहीं जाता—वह तो मानव शरीरको आत्मजाग्रतिका विशिष्ट साधन समझ अधिक-से-अधिक समयतक अवस्थित देखना चाहता है। किन्तु जब ऐसी विकट अवस्था आ जाए कि शरीरकी सुधि-बुधि लेनेपर आत्माकी सुधि-बुधि न रहे, तब वह अपने सद्‌गुणों, अपनी प्रतिज्ञाओं तथा अपनी आत्माकी रक्षाके लिए उद्यत हो क्रोध, मान, माया, लोभादिका त्यागकर साम्यभावसे भूषित हो मृत्युराजका स्वागत करनेके लिए तत्पर हो जाता है। वह अखण्ड शान्तिका समुद्र बन जाता है। स्नेह, वैर, मोह आदि उसके पास तनिक भी नहीं फटकने पाते। ऐसी स्थितिमें समाधिमरण और आत्मघातमें उतना ही अन्तर है जितना आत्म-बली दिगम्बर मुनि और दुर्भाग्यवश वस्त्रादि न पानेवाले दैन्यकी मूर्ति किसी दीन भिखारीमें।

स्वामी समन्तभद्रने लिखा है—

"उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा अथवा रोगके निष्प्रतीकार हो जाने-

पर आत्मपवित्रताके लिए शरीरका त्याग करना समाधिमरण है।"[१]

इस विषयका विस्तृत विवेचन भगवतीआराधना नामक श्रमण-चर्या समझानेवाले ग्रंथमें किया गया है। सर्वार्थसिद्धिकी निम्न पंक्तियाँ संक्षेपमें इस विषयको भली प्रकार स्पष्ट करती हैं—

"रागद्वेषमोहाविष्टस्य हि विषशस्त्राद्युपकरणप्रयोगवशादात्मानं घ्नतः स्वघातो भवति न सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति, ततो नात्मवधदोषः।" —सर्वार्थसिद्धि अ० ७ सू० २२।

विष शस्त्र आदि उपकरणोंके प्रयोगसे राग द्वेष मोहाविष्ट प्राणी-द्वारा आत्माका घात करनेपर स्वका घात होता है। समाधिमरणको प्राप्त व्यक्तिके राग-द्वेष मोहादिक नहीं होते, इसलिए आत्म-वधका दोष नहीं होता है।

दिगम्बर मुनीन्द्रोंकी शान्त, श्रेष्ठ, निरीह, निराकुल, उदात्तचर्याका जिस किसी सात्त्विक प्रकृतिवाले मानवको दर्शन हो जाता है उसकी आत्मामें यह विचार अवश्य उत्पन्न होता है, जिसे कवि भूधरदासजी इन शब्दोंमें प्रतिबिम्बित करते हैं—

"कब गृहवाससौं उदास होय वन सेऊँ,
वेऊं निज रूप गति रोकूं मन-करी की।
रहि हौं अडोल एक आसन अचल अङ्ग,
सहि हौं परीसह शीत, घाम, मेघ-झरी की॥
सारंग समाज खाज कबधौं खुजै है आनि,
ध्यान-दल-जोर जीतूं सेना मोह-अरी की।

---

१ उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥
—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, १२२।

एकल विहारी जथाजात लिंगधारी कब,
होऊं इच्छाचारी बलिहारी हौं वा घरी की ॥"
—जैनशतक

दिगम्बर मुनि विज्ञानामृतको पी तथा तपश्चर्यारूपी सुस्वादु बलप्रद आहारको ग्रहण कर शनैः शनैः विकास पथपर प्रगति करते हुए इतनी उन्नति करते हैं, कि जिसे देख जगत् चकित हो जाता है। प्राथमिक अवस्थामें दिगम्बर तपस्वियोंके पास विश्वको चमत्कृत करनेवाली बात भले ही न दीखे, किन्तु न जाने इनमेंसे किस साधकको अखण्ड समाधिके प्रसाद रूप अपूर्व सिद्धियाँ प्राप्त हो जाएँ। भगवान् पार्श्वनाथने आनन्द महामुनिके रूपमें तीर्थंकर-प्रकृतिका बंध किया था—विश्व हितङ्कर अनुपम आत्मा बननेकी साधना अथवा शक्ति सञ्चय प्रारम्भ कर दी थी। उस समय उनके योग-बलकी महिमा अवर्णनीय हो गई थी! कविने उनके प्रभावको इन शब्दोंमें अङ्कित किया है—

"जिस वन जोग धरैं जोगेश्वर, तिस बनकी सब विपत टलैं।
पानी भरहिं सरोवर सूखे, सब रितुके फल-फूल फलैं॥
सिंहादिकजे जात विरोधी, ते सब वैरी वैर तजैं।
हंस भुजंगम मोर मजारी, आपस मैं मिलि प्रीति भजैं॥
सोहैं साधु चढ़े समता रथ, परमारथ पथ गमन करैं।
शिवपुर पहुँचनकी उर वांछा, और न कछू चित चाह धरैं॥
देह-विरक्त ममत्त विना मुनि सबसौं मैत्री भाव वहैं।
आतम लीन, अदीन, अनाकुल, गुन बरनत नहिं पार लहैं॥"
—पाइर्वपुराण, भूधरदास

दिगम्बर जैन मुनिका जीवन और मुद्रा जगत्को पुकार-पुकार कर जगाती हुई कहती है—क्यों मोहके फंदेमें फँसकर विकृति और विपत्तिकी

ओर दौड़े चले जा रहे हो। आओ, अकिंचनताका पाठ पढ़ो, प्रकृतिके प्रकाशमें आत्माकी विकृतिको धो डालो ; तब तुम्हारे पास आनन्द तथा शान्तिका निर्झर उद्भूत हो सबका कल्याण करेगा। देखते नहीं, सारी प्रकृति किसी प्रकारका आवरण धारण नहीं करती—एक मनुष्य है जो अधिक ज्ञान सम्पन्न होते हुए भी अपने विकारों एवं अपनी दुर्बलताओं-को दूर न कर उनपर सुन्दर वस्त्रादिका मोहक आवरण डाल अपने आपको तथा जगत्को ठगता है। देखो न आँख पसार कर, हरिण पक्षी आदि सभी प्राणी दिगम्बरत्वकी मनोरम मुद्रासे अंकित हैं।

परिग्रह आदिको आत्मदुर्बलताका अंग न मान उसके समर्थनमें लगनेवालोंके समाधानमें तार्किक अकलङ्कदेव कहते हैं कि जगत्में विविध उपासकोंके अनेक उपास्यदेव हैं और उनकी वेष-भूषा पृथक्-पृथक् हैं। जगत्में एक दिगम्बर मुद्राका ही व्यापक रूपसे प्रसार पाया जाता है—

"नो ब्रह्माङ्कितभूतलं न च हरेः शम्भोर्न मुद्राङ्कितं
नो चन्द्रार्ककराङ्कितं सुरपतेर्वज्राङ्कितं नैव च।
षड्वक्त्राम्बुज-बौद्ध-देव-हुतभुक्यक्षोरगैर्नाङ्कितं
नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्रमुद्राङ्कितम् ॥"

—अकलङ्कस्तोत्र, ११।

अपने अन्तःकरणमें काम-भावनाका तनिक भी विकार धारण न कर नारी जातिके लिए चित्तमें मातृत्वकी भावनाको प्रबुद्ध करनेवाले मलिन शरीर किन्तु संस्कृत आत्माधारी दिगम्बर मुनिजन जिस देशमें विहार करते हैं, वहाँके लोग सदाचार तथा सद्भावनाओंसे सम्पन्न हो सुखी रहते हैं। आज ऐसी पवित्र आत्माओंकी अत्यन्त विरलताके कारण भारतवर्षमें श्रेष्ठ सदाचार और नैतिक जीवनमें ह्रास दिखायी देता है। पुरातन भारत शान्ति समृद्धि और अभ्युदयका केन्द्र बताया जाता है।

उस समय मोहारि-विजेता दिगम्बर-मुनीन्द्रोंका सर्वत्र बहु संख्यामें विहार हुआ करता था। मेगस्थनीज़ कहता है—"जब बादशाह सिकन्दर भारतमें आया था, तब उसने तक्षशिलामें कुछ दिगम्बर मुनियोंके दर्शन किए थे।"[1] प्रो० आयङ्गरने लिखा है कि—"ये जैन आचार्य अपने चरित्र, सिद्धियों और ज्ञानके कारण अलाउद्दीन और औरंगजेब जैसे मुस्लिम बादशाहोंके द्वारा वन्दित थे।"[2] स्मिथ महाशयने अपने भारतीय इतिहासमें लिखा है कि—"ह्यूएनसांग नामक चीनी यात्रीने सन् ६४० ई० में दक्षिण भारतको देखा था।" वह मालकूट देशका वर्णन करते हुए लिखता है कि—"वहां दिगम्बर जैन मुनियोंका बहुत बड़ा समुदाय था।"[3]

आचार्य सोमदेवने यशस्तिलकचम्पूमें शकुनशास्त्रकी दृष्टिसे दिगम्बर मुनिके विहारको राष्ट्रके लिए मंगलमय बताया है—

"पद्मिनी राजहंसाश्च निर्ग्रन्थाश्च तपोधनाः ।
यं देशमुपसर्पन्ति सुभिक्षं तत्र हि भवेत् ॥"

आजके भौतिकवादी वातावरणमें किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियोंको शिष्टाचारके नामपर दिगम्बर मुनीन्द्रोंका नगरादिमें गमनागमन अप्रिय

१ "When Alexander came to India he saw some naked saints in Taxila and took one of them with him." Magesthenes.

२ "The Jain Acharyas—by their character, attainments and scholarship-command the respect of even Mohammadan sovereigns like Allauddin and Aurangzeb padshaha."—Prof. Iyengar's Studies in South Indian Jainism Part 2nd p, 132.

३ Hieun Tsang visited Southern India 640 A. D. and describes Malakuts country."—the nude Jain saints were present in multitudes.—V. Smith's His. of India p, 409

लगता है। किन्तु यदि वे उपर्युक्त वर्णनके प्रकाशमें उन योगियोंकी महत्ताको सोचने और समझनेका प्रयत्न करें तो उनका हृदय उन मुनीन्द्रोंकी मुद्रा-महत्तासे प्रभावित हुए विना न रहेगा। सन् १९४४ ई० के दिसम्बरमें नागपुर हाइकोर्टके जस्टिस सर भवानीशंकर नियोगी महाशयकी अध्यक्षतामें दिगम्बर मुनि श्री सुमतिसागरजीका सार्वजनिक भाषण, हजारों व्यक्तियोंकी उपस्थितिमें हुआ था। उसे सुनकर जस्टिस नियोगीजीकी आत्मा अत्यन्त प्रभावित हुई और उन्होंने कहा—आज इन मुनिराजके दर्शनकर मुझे वहुत प्रकाश मिला। कहाँ तो ये साधु जो विना किसी परिग्रहके निश्चिन्ततापूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हैं और कहाँ हम जो वहुत-सी सामग्री एकत्रित कर शान्तिलाभ करनेके लिये प्रयत्न करते हैं।"

जो व्यक्ति अपनी अपरिहार्य साम्प्रदायिक भ्रान्त धारणाओंके कारण ऐसे तपस्वियोंको देखकर क्षोभका अनुभव करते हैं वे नगरमें जिन-मंदिर-दर्शन अथवा भोजन आदि आवश्यक कार्यवश साधुओंको आते हुए सुन अपने मनोज्ञमुखको दूसरी ओर मोड़ सकते हैं। लेकिन, इसका अर्थ यह नहीं है कि विश्ववन्द्य पदके धारण करनेवाले मुनियोंके नगरादि-में प्रवेशके विषयमें शिष्टाचारके नामपर बाधा उपस्थित की जाए।

प्रीवी कौन्सिलने इस वातका स्पष्टीकरण कर दिया है कि धार्मिक जुलूस शान्तिपूर्वक आम रास्तेसे विना रोक-टोकके ले जाए जा सकते हैं।[1]

---

१ "Persons of all sects are entitled to conduct religious processions through public streets so that they do not interfere with the ordinary use of such streets by the public and subject to such directions as the magistrate may lawfully give to prevent obstructions of the throughfare or breaches of public place and the worshippers in a mosque or temples

प्राचीनताको ही सत्यकी कसौटी माननेवाले कहते हैं—दिगम्बर विचारधारा अर्वाचीन है। सवस्त्र मुद्राका मार्ग सबसे प्राचीन है। यदि मनुष्य तर्ककी दृष्टिसे इसपर विचार करे तो उसे स्पष्टताकी कोई आवश्यकता नहीं है। कारण यह तो बालक भी जानता है कि माताके उदरसे पहिले दिगम्बर-शिशु ही जन्म लेता है; पश्चात् वस्त्रादि परिधान वाला बनाया जाता है। **प्रो० बलदेव उपाध्याय** दिगम्बरत्वको भगवान् पार्श्वनाथके बादकी वस्तु बताते हुए लिखते हैं—"पार्श्वनाथ वस्त्र धारणके पक्षपाती थे। पर महावीरने नितान्त वैराग्य साधनाके लिए वस्त्र-परिधानका बहिष्कार कर नग्नताको ही आदर्श आचार बताया है।" (भारतीय दर्शन, पृ० १४६)

जैन-आगमकी दृष्टिसे यह बात विपरीत है। भगवान् ऋषभदेव आदि सभी तीर्थंकरोंने परम कल्याण प्राप्तिके लिए स्वयं अपने जीवन द्वारा दिगम्बर श्रमण-मुद्राका प्रचार किया था। अहिंसा-तत्त्वज्ञान और अध्यात्म-विज्ञानके प्रकाशमें भी दिगम्बरत्व 'जिन' कहे जानेवालेकी आवश्यक मुद्रा हो जाती है। अबतक पुरातत्त्व-विभाग द्वारा जो जैन मूर्तियों आदिकी उपलब्धि हुई है, उनके सूक्ष्म निरीक्षणसे ज्ञात होता है

---

which abutted on a highroad could not compel the processionists to interfere their worship while the mosque or temple on the ground that there was continuos worship there."

—Manzur Hassan vs. Md, Zaman, 23 All. L. J. 169.
Privy Council.

"The first question is, is there a right to conduct a religious procession with the appropriate observances along a highway? Their Lordships think the answer in the affirmative." Privy Council Ibid.

कि अत्यन्त प्राचीन मूर्ति आदि दिगम्बर-मुद्रासे अंकित हैं। दिगम्बर-सम्प्रदायके विषयमें अंग्रेजी विश्वकोषकारका निम्न कथन विशेष बोध-प्रद है—"जैन धर्म दिगम्बर और श्वेताम्बर नामक दो महान् सम्प्रदायोंमें विभक्त है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय अभी तक सम्भवतः ५ वीं सदी तकका सिद्ध होता है। किन्तु, दिगम्बर-सम्प्रदाय इस्वी सन्से ५ सदी पूर्व तक पक्के तौरपर प्रमाणित होता है। यह दिगम्बर लोग, बौद्धोंके पाली पिटकोंके अनेक उल्लेखोंमें 'निग्गण्ठ' नामसे कहे गए हैं। अत एव इन्हें कम-से-कम ईसासे ६ सदी पूर्वका तो अवश्य होना चाहिए। अशोकके एक शिलालेखमें निग्गण्ठोंका उल्लेख आया है।"[१]

ये साधक आत्म-ज्योतिके प्रकाशमें स्वयंको अनुशासित करते हैं। लौकिक व्यक्तियों द्वारा मानी गई मर्यादाएँ इन महा-मानवोंका पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकतीं। जड़वादीका अन्तःकरण उनकी गहराईको स्पर्श न कर सके, किन्तु ज्ञान और अनुभवके धनी सत्पुरुष इस बातको स्वीकार करेंगे कि ये सन्तजन ही संपूर्ण विश्वको अपना बन्धु मान उस बन्धुत्व-का सत्यतापूर्वक संरक्षण करते हैं। इस साधनाके श्रेष्ठ और पवित्र मार्ग

---

१ "The Jains are divided into two great parties Digambers or sky-clad ones and the Swetambers or the white robed ones. The latter have only as yet been traced and that doubtfully as far back as the 5th century after Christ. The former are almost certainly the same as the Niganthas, who are referred to in numerous passages of Buddhist Pali Pitatkas and must therefore be at least as old as the 6th century B. C.—The Niganthas are referred to in one of Asoka's edicts." Vide Ency. Brit. Ed. Eleventh Vol. 15 p. 127.

पर चलने योग्य जबतक आत्मामें बल उत्पन्न नहीं होता तबतक प्राथमिक साधकका कर्त्तव्य है कि वह अपने आदर्शको हृदयमें रख साधुत्वसे अंकित सत्पुरुषोंको अपने जीवनका पथ-प्रदर्शक माने और उनको अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए अन्तःकरणसे कहे—

"णमो लोए सव्वसाहूणं"

अहिंसाके आलोकमें—

'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्'

—स्वामी समन्तभद्र, बृहत्स्वयम्भू, ११९

पुण्य-जीवनको यदि भव्य-भवन कहा जाए तो अहिंसा-तत्त्वज्ञानको उसकी नींव मानना होगा। अहिंसात्मक वृत्तिके विना न व्यष्टिका कल्याण है और न समष्टिका। साधनाका प्राण अथवा जीवन-रस अहिंसा है। आज भारतीय राष्ट्रमें अहिंसाकी आवाज खूब सुनाई पड़ती है। देशने पराधीनताके पाशसे छूटनेके लिए अपनी किंकर्तव्य-विमूढ़ अवस्थामें अहिंसात्मक पद्धतिको एकमात्र अवलम्बन माना। और इसीलिए रक्तपातके विना राष्ट्र प्रगतिके पथपर द्रुतगतिसे अपना क़दम बढ़ा रहा है।

संसारके धर्मोंका यदि कोई गणितज्ञ महत्तम-समापवर्तक निकाले तो उसे अहिंसा-धर्म ही सर्वमान्य सिद्धान्त प्राप्त होगा। इस तत्त्व-ज्ञान पर जैन श्रमणोंने जितना वैज्ञानिक और तर्क-सङ्गत प्रकाश डाला है, उतना अन्यत्र देखनेमें नहीं आता। यह कहना सत्यकी मर्यादाके भीतर है कि जैनियोंने इतिहासातीत कालसे लेकर अहिंसा तत्त्वज्ञानका

शुद्ध रीतिसे संरक्षण किया है। एक समय था, जब वैदिक-युगमें स्वर्ग-प्राप्तिके लिए लोगोंको स्वार्थी विप्रवर्ग पशुओंकी बलि करनेका मार्ग बताता था। इससे स्वार्थी व्यक्तियों ने मिथ्यात्व वश अपना भविष्य उज्ज्वल मान अगणित पशुओंका संहार किया। वैदिक-साहित्यके शास्त्रोंमें हिंसात्मक-यज्ञकी पुष्टिमें विपुल सामग्री सम्मिलित की गई। उस आध्यात्मिक ज्योति-विहीन जगत्‌में अपने ज्ञान, शिक्षण और सेवा द्वारा जैन-धर्मने अहिंसा-धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा कराई।

लोकमान्य तिलकने यह स्पष्टतया लिखा है—"अहिंसा परमो धर्मः" इस उदार सिद्धान्तने ब्राह्मणधर्मपर चिरस्मरणीय छाप मारी है। पूर्व कालमें यज्ञके लिए असंख्य पशु-हिंसा होती थी। इसके प्रमाण 'मेघदूत काव्य' आदि अनेक ग्रन्थोंमें मिलते हैं। ......परन्तु इस घोर हिंसाका ब्राह्मण धर्मसे विदाई ले जानेका श्रेय जैन-धर्मके हिस्सेमें है।" [मुंबई समाचार, १०–१२–१९०४]

मेघदूत (श्लो० ४५) में कवि कालिदास अपने मेघसे कहते हैं कि "उज्जयनीसे आगे बढ़ते समय चर्मण्वती नामकी नदीका दर्शन होगा। वह रन्तिदेव नामक नरेश द्वारा गो-वधयुक्त अतिथियज्ञ सम्बन्धी चर्मके जलसे युक्त होनेके कारण चर्मण्वती कहलाती है। उसे गो-बलिके कारण पूज्य मानते हुए तुम वहाँ कुछ समय ठहरना।"

भवभूतिने उत्तररामचरितके चौथे अङ्कमें वाल्मीकि-आश्रममें सौधातकी और भाण्डायन दो शिष्योंका वार्तालाप वर्णित किया है। वसिष्ठ ऋषिको देख सौधातकी पूछता है—"भाण्डायन, आज वृद्ध साधुओंमें प्रमुख चीरधारी कौन अतिथि आए हैं? भाण्डायन उनका नाम वसिष्ठ बताता है। यह सुन सौधातकी कहता है—"मये उण जाणिदं, वग्घो वा वियो वा एसो त्ति"—मैं तो समझता था कि कोई व्याघ्र अथवा

भेड़िया आया है। इसका कारण वह कहता है—'तेण परावड्डिदेणज्जेव सा वराइया कलोडिया मडमडाइदा'—जैसे ही वे आए उन्होंने एक दीन गोवत्सका स्वाहा कर दिया। इसपर भाण्डायन कहता है कि धर्मसूत्रमें कहा है कि मधु और दधिके साथ मांसका मिश्रण चाहिए। इसलिए श्रोत्रिय ब्राह्मण अतिथिके भक्षणके लिए गाय, बैल अथवा बकरा गृहस्थ देवे।

इस प्रसङ्गमें इतना उल्लेख और आवश्यक है कि जहाँ वाल्मीकिके आश्रममें वसिष्ठके लिए गो-मांस खिलानेका वर्णन है, वहाँ राजर्षि जनक को मांस-रहित मधुपर्कका उल्लेख है। इसीलिए भाण्डायन कहता है—'निवृत्त-मांसस्तु तत्रभवान् जनकः' (पृ० १०५–७)।

वैदिक वाङ्मयका परिशीलन करने पर विदित होता है, कि पुरातन भारतमें हिंसा और अहिंसाकी दो विचार-धाराएँ शुक्लपक्ष–कृष्णपक्षके समान विद्यमान थीं। प्रो० ए० चक्रवर्ती एम० ए० मद्रास तो इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अहिंसाकी विचार-धारा उत्तर कालमें जैन कहे जानेवालों द्वारा प्रवर्तित, अनुप्राणित एवं समर्थित थी। ब्राह्मण और उपनिषद् साहित्यमें विदेह और मगध—जहाँ क्षत्रिय नरेशोंका प्राबल्य था,—में अहिंसात्मक यज्ञका प्रचार था। वे लोग एक विशेष भाषाका उपयोग करते थे जिसमें 'न' को 'ण' उच्चारित किया जाता था, जो स्पष्टतः प्राकृत भाषाके प्रभाव या प्रचारको सूचित करता है। पहिले तो कुरु पांचाल देशके विप्रगण मगध और विदेह भूमिवालोंको अहिंसात्मक यज्ञके कारण तुच्छ समझ उन प्रदेशोंको निषिद्धभूमि-सा प्रचारित करते थे, किन्तु पश्चात् जनकके नेतृत्वमें अहिंसा और अध्यात्मविद्याका प्रभाव बढ़ा और इसलिए अपनेको अधिक शुद्ध मानने वाले कुरु पांचाल देशीय विद्वज्जन आत्म-विद्याकी शिक्षा-दीक्षा निमित्त विदेह आदिकी ओर आने लगे।

बुद्धकालीन भारतमें भी इसी प्रकारकी कुछ प्रवृत्ति दिखाई देती है। जहाँ 'महावग्ग' में गौतम बुद्ध धर्मोपदेश देते हुए कहते हैं— इरादा पूर्वक भिक्षुको किसी भी प्राणी–कीडा अथवा चींटी तककी हिंसा नहीं करनी चाहिए, वहाँ 'विनयपिटक'में बुद्ध यह उपदेश देते हुए पाए जाते हैं—"भिक्षुओ, मैं कहता हूं कि मछली तीन अवस्थामें ग्राह्य है। पहिले यदि तुम उसे इस रूपमें न देखो, दूसरे यदि तुम उसे इस रूपमें न सुनो और तीसरे तुम्हारे चित्तमें इस प्रकारका सन्देह ही उत्पन्न न हो कि यह तुम्हारे लिए ही पकड़ी गई है।"[१] महावग्गमें लिखा है कि-"नव-दीक्षित एक मंत्रीने बारह सौ पचास भिक्षुओं सहित बुद्धको आमंत्रित किया और मांस परोसा। संघने बुद्ध सहित उसे खाया।"[२] सुत्तनिपातमें प्राणियोंकी हत्याको दोषपूर्ण बताते हुए मांस-भक्षणको पाप नहीं कहा है।

बाइबिलमें हज़रत मसीहने जहां अपने शैल प्रवचनमें (Sermon on Mount) "Thou shalt not kill"—तू प्राणिहत्या मत कर इस बातकी सुवर्ण शिक्षा दी है। किन्तु बाइबिलमें ईसामसीहको सारे गाँवको मछली खिलाते हुए पाते हैं।[३]

---

१ "I prescribe, O Bhikkus, that fish is pure to you in three cases:—if you do not see, if you have not heard, if you do not suspect (that it has been caught specially to be given to you)". The Vinaya Text XVII p. 117.

२ "Newly converted minister invited Buddha with 1250 Bhikkus and gave meat too.……Samgha with Buddha at it." Mahavagga, VI.25.2

३ He (Jesus) said unto them (people) 'Give ye them to eat'. And they said 'We have no more but five loaves and two fishes; except we should go and buy meat for all these

यहाँ हम इतना ही बताना चाहते थे कि अहिंसाका व्यवस्थित पूर्वापर सङ्गत वर्णन भगवान् महावीर आदि जैन तीर्थङ्करोंके शासनके बाहर कहीं भी नहीं पाया जाता। अंगरेजी विश्वकोषमें पाली साहित्यके आधारपर भगवान् महावीरको निर्ग्रन्थ दिगम्बर माना है। जब अहिंसा व्रतकी रक्षार्थ उनने दिगम्बर मुद्राको स्वीकार किया तब भगवतीसूत्र सदृश श्वेताम्बर ग्रन्थोंके आधारपर पश्चात्वर्ती रचनाकारोंके द्वारा एवं प्रो॰ धर्मानन्दजी कोसम्बी सदृश समर्थकोंके बलपर भगवान् महावीरको मांसाहारसे सम्बन्धित करना शान्त चिन्तनाके प्रतिकूल है। जब भगवान् के सम-समयवर्ती पाली साहित्यमें विपक्षी लोग उनकी अहिंसात्मक चर्याके विरुद्ध एक अक्षर भी नहीं लिखते, तब सैकड़ों वर्ष पीछे संकलित श्वेताम्बर साहित्यमें महावीरके चरित्रको हिंसात्मक जीवनसे किसी भी अवस्थामें सम्बन्धित बताना इन्द्रियलोलुपी लोगोंका कार्य होगा, ऐसा प्रतीत होता है। हमारे ध्यानमें तो यह बात आती है कि चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें जो बारह वर्षका भयङ्कर दुष्काल पड़ा था, उस समय शैथिल्य-

---

people. For they were about five thousand men'. And he said to his disciples, make them sit down by fifties in a company. And they did so and made them all sit down. Then he took the five loaves and the two fishes and looking up to heaven he blessed them and brake and gave to the discipies to set before the multitude. And they did eat and were all filled and there was taken up a fragments that remained to them twelve baskets.

St. Luke's Gospel

Chapter 9......XX. 13–18.

परम्पराको प्रचारित करनेवाले कुछ प्रभावशाली जीवन-लोलुपी लोगोंने भरण-पोषणका अन्य सम्भव उपाय न पा आपद्धर्म समझ आमिष भोजनकी आर प्रवृत्ति की। और, जब दक्षिण भारतसे विशाल जैनसंघ सु-काल आनेपर उत्तरकी ओर लौटा और उसके प्रमुख मुनियोंने उत्तर-वालोंकी स्वेच्छापूर्ण वृत्तिकी आलोचना की, तब कुछ लोग इन्द्रियोंकी लोलुपताका परिहार न कर पाए और अपना मुख उज्ज्वल रखनेके लिए उन्होंने भगवान् महावीरको भी अपने समान चर्यावाला प्रमाणित करने योग्य साहित्यकी सृष्टि कर 'आप डुबन्ते पांडे, ले डूबे जजमान' वाली कहावतको चरितार्थ किया। सोचनेकी बात है, कि जिस परम कारुणिक महान् आत्माने छोटे-छोटे जीवों तककी पीड़ा निवारण निमित्त वस्त्रादिका परित्याग किया, वह किसी भी अवस्थामें त्रस जीवों-का कलेवर आमिष आहार ग्रहण करेगा?

यह हर्षकी बात है कि **प्रो० धर्मानन्दजी कोसम्बीने** दिगम्बर शास्त्रों-के आधार पर आमिष भोजी-पनेसे भगवान् महावीरके जीवनको असम्ब-न्धित अभी-अभी स्वीकार किया है। यद्यपि अपनी पुस्तक भगवान् बुद्ध भाग २ (मराठी) अध्याय ११ में केवल 'जैन' शब्द देकर दिगम्बर विचारदृष्टिके प्रति कम अन्याय नहीं किया था। अच्छा हुआ, सुबहका भूला संध्याको घर आगया। पालीके अध्येता विद्वान् होनेके नाते, यदि निष्पक्ष दृष्टिसे वे कार्य लेते, तो उन्हें यह प्रकाश अवश्य प्राप्त होता कि यदि भगवान् महावीर शुद्ध शाकाहारी न होते, तो प्रतिद्वन्द्वी बौद्ध-साहित्य मिर्च-मसाला लगा महावीरकी महत्तापर छींटाकशी किए बिना न रहता। उपर्युक्त विवेचनाके प्रकाशमें आशा है साम्प्र-दायिकों द्वारा प्रसारित भ्रम दूर होगा। विचारक यह भी सोच सकते हैं कि जिस संस्कृतिमें मांसको देखनेमात्रसे दिगम्बर मुनिकी

तो बात ही क्या, गृहस्थ भी आहारका परित्याग कर देता है, वहाँ श्रेष्ठ जितेन्द्रिय आजीवन ब्रह्मचारी साम्राज्य परित्यागी परमकारुणिक श्रमणोत्तम महावीर असात्त्विक भावोंका प्रेरक और प्राणिघातसे निष्पन्न आमिष आहार क्या कभी स्वप्नमें भी ग्रहण कर सकेंगे? वास्तवमें विषयोंकी स्वयंकी लोलुपताकी ओटमें लुब्धक लोग आदर्श-चरित्र पुरुषों-को सदोष बना अपनी स्वेच्छापूर्ण प्रवृत्ति करनेमें निरंकुश हो जाते हैं।

आज अहिंसाका उच्च स्वरमें जयघोष खूब सुनाई पड़ता है। किन्तु, ऐसे कम लोग हैं जो अहिंसाका मर्म वास्तविक रूपमें जानते हैं। विरोधीपर शस्त्र-प्रहारमात्र छोड़ मनमानी विषैली वाणीका प्रयोग करना, मद्य मांस, मधु, आदि पदार्थोंका सेवन करना, वेश्यासेवन, शिकार खेलना आदि कार्य करते हुए भी श्रेष्ठ अहिंसकका सेहरा सिरमें बाँधनेवालोंकी भी आज कमी नहीं है। जब अहिंसातत्त्व-ज्ञानका सर्वाङ्गीण वर्णन और परिपालन जैन-संस्कृतिके ध्वजके तले हुआ है, तब जैनदृष्टिसे इस विषय पर प्रकाश डालना आवश्यक तथा उपयोगी होगा।

अहिंसाका यथार्थ स्वरूप राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, भीरुता, शोक, घृणा आदि विकृत भावोंका त्याग करना है। प्राणियोंके प्राणोंके वियोग करने मात्रको हिंसा समझना अयुक्त है। तात्त्विक बात तो यह है कि यदि राग, द्वेष, मोह, भीति आदि दुर्भाव विद्यमान हैं, तो अन्य प्राणीका घात न होते हुए भी हिंसा निश्चित है। यदि रागादिका अभाव है तो प्राणिघात होते हुए भी अहिंसा है। अमृतचन्द्र स्वामी लिखते हैं—

> "अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
> तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥"
>
> —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लो० ४४।

रागादिकका अप्रादुर्भाव अहिंसा है, रागादिकोंकी उत्पत्ति हिंसा है। यह जिनागमका सार है।

तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी लिखते हैं—

"प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा" इस परिभाषामें 'प्रमत्तयोग' शब्द अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि राग द्वेष आदि हैं तो भले ही किसी जीवधारीके प्राणोंका नाश न हो, किन्तु कषायवान् व्यक्ति अपनी निर्मल मनोवृत्तिका घात करता है। इसलिए स्व-प्राणघातरूप प्राणव्यपरोपण भी पाया जाता है। भारतीयदण्ड विधान (Indian Penal Code) में किसी व्यक्तिको प्राणघातका अपराधी स्वीकार करते समय उसमें घातक मनोवृत्ति (Mens rea) का सद्भाव प्रधानतया देखा जाता है। इसी कारण आत्मरक्षाके भावसे शस्त्रादि प्रहार द्वारा अन्यका प्राणघात करने पर भी व्यक्ति दण्डित नहीं होता। धार्मिक दृष्टिसे अहिंसाके विषयमें भी जैनाचार्योंने यही दृष्टि दी है। महर्षि कुन्दकुन्द प्रवचनसारमें लिखते हैं—

"मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामत्तेण समिदस्स ॥"

—अ० ३, गा० १७।

जीवका घात हो अथवा न हो, असावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करनेवालेके हिंसा निश्चित है, किन्तु सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले साधुके कदाचित् प्राण-घात होते हुए भी हिंसानिमित्तक बन्ध नहीं होता।

पं० आशाधरजी तर्क द्वारा समझाते हैं—"यदि भावके अधीन बन्ध मोक्षकी व्यवस्था न मानी जाए, तो संसारका वह कौनसा भाग होगा, जहाँ पहुँच मुमुक्षु पूर्ण अहिंसक बननेकी साधनाको पूर्ण करते हुए निर्वाण लाभ करेगा ?[१]"

---

१ "विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत।
भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ॥" —सागार० ४, २३।

अहिंसापर अधिकारपूर्ण विवेचन करनेवाले अमृतचन्द्र सूरि पुरुषार्थ-सिद्ध्युपायमें लिखते हैं—

"सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या॥ ४९॥"

परपदार्थके निमित्तसे मनुष्यको हिंसाका रञ्च मात्र भी दोष नहीं लगता; फिर भी हिंसाके आयतनों–स्थानों (साधनों) की निवृत्ति परिणामोंकी निर्मलताके लिए करनी चाहिए।

इससे स्पष्ट होता है कि हिंसाका अन्वय-व्यतिरेक अशुद्ध तथा शुद्ध परिणामोंके साथ है। क्रोध परित्यागको अहिंसा और उसके सद्भावको हिंसा साधारणतया लोग जानते हैं। जैन ऋषि मान-माया-लोभ, शोक, भय, घृणा आदिको हिंसाके पर्यायवाची मानते हैं क्योंकि उनके द्वारा चैतन्यकी निर्मलवृत्ति विकृत तथा मलीन होती है—

"अभिमान-भय-जुगुप्सा-हास्यारति-शोक-काम-कोपाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च शरकसन्निहिताः॥"

पु० सिद्ध्युपाय ६४।

आहार-पान आदिकी शुद्धि अहिंसकके लिए आवश्यक है। क्योंकि, अशुद्ध आहार अपवित्र विचारोंको उत्पन्न करता है और अपवित्र विचारोंसे कर्मोंका बन्ध होता है। कोई-कोई जैनधर्मके अहिंसा सिद्धान्तकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—उसमें एक ही बातकी कमी है कि वह अव्यवहार्य है। यह कथन अयुक्त है। साधककी शक्तिके अनुसार अहिंसाका हीनाधिक उपदेश दिया गया है। भगवान् महावीर जैसे पूर्ण विकासयुक्त अहिंसाकी मूर्ति महापुरुषके पूर्व भवोंमें बताया है कि—एक समय वे खदिरसार नामक भीलकी पर्यायमें थे। उस अवस्थामें ईमानदारीके साथ उन्होंने काक-मांसभक्षण न करनेका नियम ले उसका सफलताके

साथ पालन किया था। यहाँ इतना जानना चाहिए कि जितने अंशमें भीलने हिंसाका त्याग किया है उतने अंशमें वह अहिंसक था, सर्वांशमें नहीं। परिस्थिति, वातावरण और शक्तिको ध्यानमें रखते हुए महर्षियोंने अहिंसात्मक साधनाके लिए अनुज्ञा दी है। कहा भी है—

"जं सक्कइ तं कीरइ जं य ण सक्कइ तहेव सद्दहणं।
सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं॥"

जितनी शक्ति हो उतना आचरण करो, जहाँ शक्ति न चले, श्रद्धाको जाग्रत करो। कारण श्रद्धावान् प्राणी भी अजर-अमर पदको प्राप्त करता है।

अहिंसाका अर्थ कर्त्तव्यपरायणता है। गृहस्थसे मुनितुल्य श्रेष्ठ अहिंसाकी आशा करने पर भयङ्कर अव्यवस्था उत्पन्न हुए विना न रहेगी। इस युगकी सबसे पूज्य विभूति सम्राट् भरतके पिता आदि अवतार ऋषभदेव तीर्थङ्करने जब महामुनिका पद स्वीकार नहीं किया था और गृहस्थशिरोमणि थे—प्रजाके स्वामी थे तब प्रजापालक नरेशके नाते अपना कर्तव्यपालन करनेमें उन्होंने तनिक भी प्रमाद नहीं दिखाया। स्वामी समन्तभद्रके शब्दोंमें उन्होंने अपनी प्यारी प्रजाका कृषि आदि द्वारा जीविकाके उपायकी शिक्षा दी। पश्चात् तत्त्वका बोध होनेपर अद्भुत उदययुक्त उन ज्ञानवान् प्रभुने ममताका परित्याग कर विरक्ति धारण की। जब वे मुमुक्षु हुए तब तपस्वी बन गए।[1] इससे इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि ऋषभदेव भगवान्ने प्रजापतिकी हैसियतसे

---

१ "प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः॥"
—बृ० स्वयम्भूस्तोत्र २६।

दीन-दुखी प्रजाको हिंसाबहुल खेती आदिका उपदेश दिया—कर्तव्य पालनमें वे पीछे नहीं हटे। मुक्तिकी प्रबल पिपासा जाग्रत होनेपर सम्पूर्ण वैभवका परित्याग कर उन्होंने मुनि-पद अङ्गीकार किया तथा कर्मोंको नष्ट कर डाला।

भगवज्जिनसेनने लिखा है कि—प्रजाके जीवननिमित्त भगवान् आदिनाथ प्रभुने गृहस्थोंको शस्त्रविद्या, लेखन-कला, कृषि, वाणिज्य, सङ्गीत और शिल्प-कलाकी शिक्षा दी थी—

"असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवे॥"
—आदिपुराण पर्व १६

अहिंसक गृहस्थ विना प्रयोजन इरादापूर्वक तुच्छ-से-तुच्छ प्राणीको कष्ट नहीं पहुँचाएगा। किन्तु कर्तव्यपालन, धर्म तथा न्यायके परित्राण-निमित्त वह यथावश्यक अस्त्र-शस्त्रादिका प्रयोग करनेसे भी मुख न मोड़ेगा। आचार्य सोमदेवने शस्त्रोपजीवी क्षत्रियोंको अहिंसाका व्रती इस तर्क द्वारा सिद्ध किया है—

"निरर्थकवधत्यागेन क्षत्रियाः व्रतिनो मताः।"

शस्त्रादिग्रहणके विषयमें जैन नरेन्द्रकी दृष्टिको सोमदेव यशस्तिलकमें इन शब्दोंमें प्रकट करते हैं—

"यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्याद् यः कण्टको वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति, न दीन-कानीन-शुभाशयेषु॥"

जैन नरेश उनपर ही शस्त्र-प्रहार करते हैं जो शस्त्र लेकर युद्धमें मुकाबला करता है अथवा जो अपने मण्डलका कण्टक होता है। वह दीन, दुर्बल अथवा सद्भावना वाले व्यक्तियों पर शस्त्रप्रहार नहीं करते।[1]

---

१ "दुष्टनिग्रहः शिष्टप्रतिपालनं हि राज्ञो धर्मः न तु मुण्डनं जटाधारणं च?"
—सम्यक्त्वकौमुदी पृ० १५।

गृहस्थ स्थूल-हिंसाका त्याग करता है। स्थूल शब्दका भाव यह है कि निरपराध व्यक्तियोंका सङ्कल्पपूर्वक हिंसन आदि कार्य न किया जाय। पुराणोंमें यह बात अनेक बार सुननेमें आती है कि अपराधियोंको यथा-योग्य दण्ड देनेवाले चक्रवर्ती आदि अणुव्रती थे इसमें कोई विरोध नहीं आता।[1]

जो यह समझते हैं कि जैन धर्मकी अहिंसामें दैन्य और दुर्बलता-का ही तत्त्व छिपा हुआ है उनकी धारणा उतनी ही भ्रान्त है जितनी उस व्यक्तिकी जो सूर्यको अंधकारका पिण्ड समझता है। जैन दृष्टिमें न्यायको धर्मसमान महत्त्वपूर्ण कहा है। अमृतचन्द्र स्वामीने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें स्थितिकरण अङ्गका वर्णन करते हुए यह बताया है—"न्याय मार्गसे विचलित होनेमें उद्यत व्यक्तिका स्थितीकरण करना चाहिए।" अन्यान्य ग्रन्थकारोंने जहां 'धर्म' शब्दका प्रयोग किया है वहां अमृतचन्द्र स्वामीने 'न्याय' शब्दको ग्रहणकर न्यायके विशिष्ट अर्थपर प्रकाश डाला है।[2]

एक समय जब महाराज अकम्पनकी पुत्री सुलोचनाका स्वयंवर हो रहा था, तब चक्रवर्ती भरतेश्वरके पुत्र अर्ककीर्तिने उस कन्या-रत्नका लाभ न होनेके कारण निराश हो काफी गड़बड़ी की। दोनों ओरसे रण-भेरी बजी। युद्धमें सुलोचनाके पति, भरतेश्वरके सेनापति, जयकुमारकी विजय हुई। उस समय शान्ति स्थापित होनेपर महाराज अकम्पनने सम्राट् भरतके पास अत्यन्त आदरपूर्वक निवेदन प्रेषित करते हुए अपनी परिस्थिति और अर्ककीर्तिकी ज्यादतीका वर्णन किया। साथमें यह भी

---

१ "स्थूलग्रहणमुपलक्षणं तेन निरपराधसंकल्पपूर्वक-हिंसादीनामपि ग्रहणम्। अप-राधकारिषु यथाविधिदण्ड-प्रणेतॄणां चक्रवर्त्यादीनां अणुव्रतादिधारणं पुराणादिषु बहुशः श्रूयमाणं न विरुध्यते।"—सागारधर्म० ४, ५।

२ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—२८। रत्नकरण्डश्रा० १६।

लिखा कि मैं अपनी दूसरी कन्या अर्ककीर्तिको देनेको तैयार हूं। इस चर्चाको ज्ञात कर भरतेश्वरको अकम्पन महाराजपर तनिक भी रोष नहीं आया प्रत्युत अर्ककीर्तिके चरित्रपर उन्हें घृणा हुई। उन्होंने कहा—अकम्पन महाराज तो हमारे पूज्य पिता भगवान् ऋषभदेवके समान पूज्य और आदरणीय हैं। अर्ककीर्ति वास्तवमें मेरा पुत्र नहीं, न्याय मेरा पुत्र है। न्यायका रक्षण कर महाराज अकम्पनने उचित किया। उन्हें तो विना सङ्कोचके अर्ककीर्तिको दण्डित करना था। इस कथानकसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन क्षत्रिय-नरेश न्याय देवताका परित्राण और कर्तव्य-पालनमें कितने अधिक तत्पर रहते थे।

वास्तवमें "शमो हि भूषणं यतीनां न तु भूपतीनाम्" यह अहिंसकोंकी दृष्टि रही है।

शरीर और आत्माको भेद-ज्ञान-ज्योतिके प्रकाशमें पृथक्-पृथक् अनुभव करने वाला अन्तरात्मा सम्यक्त्वी कर्त्तव्यानुरोधसे मंत्र-तंत्र-यंत्र आदिकी सहायता ले—अपना सर्वस्व तक अर्पण कर वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु, धर्मके आयतन आदिकी रक्षा करनेमें उद्यत रहता है। पञ्चाध्यायीमें लिखा है—

> "वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु।
> सङ्घे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ॥
> अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु सुदृष्टिमान्।
> सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ॥
> यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मन्त्रासिकोशकम्।
> तावद् द्रष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः ॥" ८०८-१०

सिद्ध, अरिहन्त भगवान्की प्रतिमा, जिनमन्दिर, मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध सङ्घ तथा शास्त्रकी रक्षा स्वामीके कार्यमें

तत्पर सुयोग्य सेवकके समान करना वात्सल्य कहलाता है। इनमेंसे किसी पर घोर उपसर्ग होनेपर सम्यग्दृष्टिको उसे दूर करनेके लिए तत्पर रहना चाहिए। अथवा जब तक अपनी सामर्थ्य है तथा मंत्र, शस्त्र, द्रव्य का बल है, तब तक वह तत्त्व-ज्ञानी उन पर आई हुई बाधाको न देख सकता है और न सुन सकता है।

सोलहवें तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथने अपने गृहस्थ जीवनमें चक्रवर्तीके रूपमें दिग्विजय की थी। स्वामी समन्तभद्रने बृहत्स्वयम्भू स्तोत्रमें क्या ही मार्मिक वर्णन किया है—

"चक्रेण यः शत्रुभयङ्करेण जित्वा नृपः सर्वनरेन्द्रचक्रम्।
समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जयमोहचक्रम्॥"

अर्थात् जिन शान्तिनाथ भगवान्ने सम्राट्के रूपमें शत्रुओंके लिए भीषण चक्र अस्त्र द्वारा सम्पूर्ण राजसमूहको जीता था महान् उदयशाली उनने समाधि-ध्यानरूपी चक्रके द्वारा बड़ी कठिनतासे जीतने योग्य मोहबलको पराजित किया।

गृहस्थ जीवनकी असुविधाओंको ध्यानमें रखते हुए प्राथमिक साधककी अपेक्षा उस हिंसाके सङ्कल्पी, विरोधी, आरम्भी और उद्यमी चार भेद किए गए हैं। सङ्कल्प निश्चय या इरादा (Intention) को कहते हैं। प्राणघातके उद्देश्यसे की गई हिंसा सङ्कल्पी हिंसा कहलाती है। शिकार खेलना, मांस भक्षण करना सदृश कार्योंमें सङ्कल्पी हिंसाका दोष लगता है। इस हिंसामें कृत, कारित अथवा अनुमोदना द्वारा पापका सञ्चय होता है। साधकको इस हिंसाका त्याग करना आवश्यक है। विरोधी हिंसा तब होती है, जब अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले पर आत्मरक्षार्थ शस्त्रादिका प्रयोग करना आवश्यक होता है। जैसे अन्याय वृत्तिसे परराष्ट्रवाला अपने देशपर आक्रमण करे उस समय अपने

आश्रितोंकी रक्षाके लिए संग्राममें प्रवृत्ति करना। उसमें होनेवाली हिंसा विरोधी हिंसा है। प्राथमिक साधक इस प्रकारकी हिंसासे बच नहीं सकता। यदि वह आत्मरक्षा और अपने आश्रितोंके संरक्षणमें चुप होकर बैठ जाए तो न्यायोचित अधिकारोंकी दुर्दशा होगी। जान-माल मातृ जातिका सन्मान आदि सभी सङ्कटपूर्ण हो जाएँगे। इस प्रकार अन्तमें महान् धर्मका ध्वंस होगा। इसलिए साधनसम्पन्न समर्थ शासक अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित रहता है, अन्यायके प्रतीकारार्थ शान्ति और प्रेमपूर्ण व्यवहारके उपाय समाप्त होनेपर वह भीषण दण्ड प्रहार करनेसे विमुख नहीं होता। यह सोचना कि विना सेना अस्त्र-शस्त्रादिके अहिंसात्मक पद्धतिसे राष्ट्रोंका संरक्षण और दुष्टोंका उन्मूलन हो जाएगा, ठीक नहीं है। भावनाके आवेशमें ऐसे स्वप्न-साम्राज्य तुल्य देशकी मधुर कल्पना की जा सकती है, जिसमें फौज-पुलिस आदि दण्डके अंग-प्रत्यंगोंका तनिक भी सद्भाव नहीं हो। अहिंसा विद्याके पारदर्शी जैन-तीर्थङ्करों और अन्य सत्पुरुषोंने मानव प्रकृतिकी दुर्बलताओंको लक्ष्यमें रखते हुए दण्ड नीतिको भी आवश्यक बताया है। वास्तवमें देखा जाए तो पंडित आशाधरजी के द्वारा सागारधर्मामृतमें उद्धृत निम्नलिखित पद्य जैन दृष्टिको स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट करता है—

> "दण्डो हि केवलो लोकमिमं चामुं च रक्षति।
> राज्ञा शत्रौ च पुत्रे च यथा दोषं समं धृतः॥" ४, ५

राजाके द्वारा शत्रु एवं पुत्रमें दोषानुसार पक्षपातके विना—समान रूपसे दिया गया दण्ड इस लोक तथा परलोककी रक्षा करता है।

जैन कथानकोंसे इस दृष्टिके रक्षणकी पुष्टि होती है। एक राजाने घोषणा कर दी थी कि आष्टाह्निक नामक जैनपर्वमें आठ दिन तक किसी भी जीवधारीकी हिंसा करने वाला व्यक्ति प्राणदण्ड पाएगा। राजाके पुत्रने

एक मेंढेको मारकर समाप्त कर दिया। राजाको पुत्रकी हिंसनवृत्तिका पता लगा तब अपने पुत्रका मोह त्यागकर जैन नरेशने पुत्रके लिए फांसी की घोषणा की।

प्राणदण्डके अनौचित्यको हृदयङ्गम करनेवाले इस उदाहरणमें अतिरेक मानेंगे। किन्तु वीतराग भावसे जब देशमें चन्द्रगुप्तादि नरेशोंके समयमें ऐसी कठोर दण्ड-व्यवस्था थी, तब पापसे बचकर लोग अधिक सन्मार्गोन्मुख होते थे। एक जैन अंग्रेज बन्धुने इंग्लैंडसे पत्र भेजकर अपनी जिज्ञासा व्यक्त की थी कि—जैन होनेके नाते हालके महायुद्धमें वह किस रूपमें प्रवृत्ति करे।

यह एक कठिन प्रश्न है। यदि स्वार्थ, अन्याय, प्रपञ्च, स्वेच्छाचारिताके पोषणार्थ आततायीके रूपमें युद्ध छेड़ा जाता है तो उसमें स्वेच्छापूर्वक सहयोग देनेवाला अनीतिपूर्ण वृत्तिका प्रवर्धक होनेके कारण निर्दोष नहीं कहा जा सकेगा। इतना अवश्य है कि समष्टिके प्रवाहके विरुद्ध एक व्यक्तिकी आवाज 'नक्कारखानेमें तूतीकी आवाज' के समान ही अरण्यरोदनसे किसी प्रकार कम न होगी। इस विकट परिस्थितिमें उसे समुदायके साथ कदम उठाना पड़ेगा, अन्यथा शायद प्राणोंसे भी हाथ धोना पड़े। यदि उसमें अन्यायके प्रतीकार योग्य दृढ़ आत्मबलकी कमी हो तो उसे आसक्ति छोड़ युद्धमें सम्मिलित होना होगा। इसके सिवा कोई चारा ही नहीं है। अनासक्तिपूर्वक कार्य करनेमें और आसक्तिपूर्वक कार्य करनेमें बन्धकी दृष्टिसे बड़ा अन्तर है।

कोई-कोई लोग युद्धको आवश्यक और शौर्यवर्धक मान सदा उसके लिए सामग्रीका सञ्चय करते रहते हैं और युद्ध छेड़नेका निमित्त मिले या न मिले किसी भी वस्तुको बहाना बना अपनी अत्याचारी मनोवृत्ति की तृप्तिके लिए संग्राम छेड़ देते हैं। उन लोगोंकी यह विचित्र समझ

१०

रहती है कि विना रक्तपात तथा युद्ध हुए जातिका पतन होता है और उसमें पुरुषत्व नहीं रहता—There are panegyrists of war who say that without a periodical bleeding a race decays and loses its manhood :[1]

जर्मनीको युद्धस्थलमें पहुँचनेकी प्रेरणा करनेवाला जर्मन विद्वान् नीट्शे युद्धको मानो धर्मका अंग मानता हुआ जोरदार शब्दोंमें युद्धकी प्रेरणा करता हुआ कहता है—"सङ्कटमय जीवन व्यतीत करो। अपने नगरोंको विसूवियस ज्वालामुखी पर्वतकी बगलमें बनाओ। युद्धकी तैयारी करो। मैं चाहता हूँ कि तुम लोग उनके समान बनो, जो अपने शत्रुओंकी खोजमें रहते हैं। मैं तुम्हें युद्धकी मन्त्रणा देता हूँ, मेरी मन्त्रणा शान्तिकी नहीं, विजयलाभकी है। तुम्हारा काम युद्ध करना हो, तुम्हारी शान्ति विजय हो। अच्छा युद्ध प्रत्येक उद्देश्यको उचित बना देता है। युद्धकी वीरताने दयाकी अपेक्षा बड़े परिणाम पैदा किए हैं। तुम्हारी दयाने नहीं, वीरताने अबतक अभागे लोगोंकी रक्षा की है। तुम पूछते हो नेकी क्या है? वीर होना नेकी है। सुन्दर और चित्ताकर्षक होनेका नाम नेकी नहीं है। यह बात कुमारियोंको कहने दो। आज्ञा-पालन और युद्धका जीवन व्यतीत करो। खाली लम्बी जिन्दगीसे क्या फायदा? कौन योद्धा चाहता है कि वह बचा रहे। बालकका पालन युद्धके लिए होना चाहिए और बालिकाका योद्धाके मनोरञ्जनके लिए। शेष सब कुछ मूर्खता है।"[2]

---

१ Article on 'War' by Dr. George Santayana, Prof. of Harvard University.

२ विशालभारत सन् ४१ से।

इस प्रकारकी युद्धनीतिकी दुर्बलता वर्तमान युद्धके परिणामने ही प्रकट कर दी। हार्वर्ड युनिवरसिटीके तत्त्वज्ञानके प्रो० डॉ० जार्ज सान्तायनने युद्धपर गम्भीर विचारकर जो बात युद्धके पूर्व लिखी थी वह यूरोपकी रक्त-रञ्जित भूमिमें आज दृष्टिगोचर हो रही है। डॉ० जार्जने लिखा था—"युद्ध राष्ट्रकी सम्पत्तिका नाश करता है, उद्योगोंको बन्द करता है, राष्ट्रके तरुणोंको स्वाहा कर देता है, सहानुभूतिको संकीर्ण बनाता है और साहसी-सैनिक वृत्तिवालों-द्वारा शासित होनेके दुर्भाग्यको प्राप्त करता है। वह भावी पीढ़ीकी उत्पत्तिका भार दुर्बल, बदसूरत, पौरुषहीन व्यक्तियोंपर सौंपता है। युद्धको साहस और सद्गुणकी भूमि स्वीकार करना, ऐसा ही है जैसे व्यभिचारको प्रेमकी भूमि कहना।"[१]

वर्तमान युद्धोंकी प्रणाली और गति-विधिको देखते हुए यह कहना होगा कि उनका बाह्य रूप अच्छा बताया जाता है और उनके अन्तरंगमें दुष्टता, अत्याचार, दीनोत्पीड़न आदिकी कुत्सित भावनाएं विद्यमान हैं। इस स्वार्थपूर्ण युद्धसे न्यायका संरक्षक पौरुषका प्रवर्धक, गुणीजनोंका उद्बोधक, दीनोंका उद्धारक धर्म-युद्ध बिलकुल भिन्न है। वर्तमान युद्ध तो इस बातको प्रमाणित करते हैं कि जड़ताके अखण्ड उपासक पश्चिमके वैज्ञानिक जगत्ने ही यह स्व-परध्वंसी अविद्या

---

१ "It is war that wastes nation's wealth, chokes its industries, its flower, narrows its sympathies, condemns it to be governed by adventurers and leaves the puny, deformed, and unmanly to breed the next generation.—To call war the soil of courage and virtue is like calling debauchery the soil of love."—

Vide—P. 56, Book of Eng. Prose ed. Prof. P. Sheshadri M. A. Article on war by Dr. G. Santayana.

सिखाई। स्वर्गीय एण्डूयूज़ महाशयने लिखा था,–"एक युद्धके अनन्तर दूसरा छिड़ गया और उससे छुटकारा नहीं दीखता। वास्तविक बात तो यह है कि पश्चिमी सभ्यतामें कुछ खराबी अवश्य है जो स्व-विनाशिनी प्रवृत्तियोंकी पुनरावृत्तिको प्रतिरोधके उपायके बिना प्रेरित करती है।"[१]

प्राथमिक साधकको अपने उत्तरदायित्वका खयाल रखते हुए राष्ट्र आदिके संरक्षण निमित्त मज़बूर हो विरोधी हिंसाके क्षेत्रमें अवतीर्ण होना पड़ता है। समाजके कल्याणार्थ राष्ट्रके मार्गमें दुर्जनरूपी कांटोंको दूर किए बिना राष्ट्रका उत्थान और विकास नहीं हो सकता। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि कण्टकके नाम पर रास्तेके मूलरूप बुनियादी पत्थरोंको भी उखाड़ कर फेंका जाए। ऐसी अवस्थामें यदि हम कण्टकोंसे बचे, तो गहरे गड्ढे अपनी गोदमें गिरा हमें सदाके लिए बिना सुलाए न रहेंगे। एकान्तरूपसे युद्धमें गुणको ही देखनेवाला सारे संसारको भयङ्कर विसूवियस ज्वालामुखी नहीं, पौराणिक जगत्में वर्णित प्रलयकी प्रचण्ड ज्वालापुञ्जरूपमें परिणत कर देगा। उस सर्व-संहारिणी अवस्थामें क्या आनन्द और क्या विकास होगा? नीट्शेकी दृष्टिमें मनुष्य भूखे व्याघ्रके समान है। उसके अनुसार पशु-जगत्का मात्स्य-न्याय उचित कहा जा सकेगा। लेकिन, विवेकी और प्रबुद्ध मानवोंका कल्याण पशुताकी ओर झुकनेमें नहीं है। इस विश्वमें महामानव बन हमें एक ऐसे कुटुम्बका निर्माण करना है, जिसमें रहने

---

१ "One war follows another and there seems to be no escape. Surely there must be something wrong in Western civilisation itself, which causes self–destructive tendencies to recur, without any apparent means of prevention"

C. F. Andrews article in Modern Review Jan. 40, p. 33.

वाला देश, जाति आदिकी सङ्कीर्ण परिधियां से पूर्णतया उन्मुक्त हो और यथार्थमें जिसकी आत्मामें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का अमूल्य सिद्धान्त विद्यमान हो।

इस प्रसङ्गमें जर्मन-विद्वान्‌की अपेक्षा प्रख्यात विद्वान् बैरि॰सावरकर-की हिंसा-अहिंसा सम्बन्धी चिन्तना भी विचारणीय है। वे लिखते है:—"हिंसा और अहिंसाके कारण दुनिया चलती है। अपनी-अपनी सीमाके अन्दर दोनों आवश्यक हैं। इनके बिना संसार नहीं चल सकता। माता अपने वक्षस्थलसे बच्चेको दूध पिलाती है, उसके इस त्यागमें अहिंसा जरूर है परन्तु इस समय उसपर कोई दूसरा आक्रमण करनेके लिए आता है तो वह मुकाबलेपर हिंसाके लिए तैयार हो जाती है। इस प्रकार हिंसा-अहिंसा दोनों एक स्थानपर विद्यमान हैं। समस्त सृष्टि हिंसा-अहिंसा पर खड़ी है, इससे तो यह प्रतीत होता है कि माता जो आक्रमणकारीकी हिंसाके लिए उतरती है, वह उचित है।" इस प्रसङ्गमें जैन गृहस्थकी दृष्टिसे यदि हम विचार करें तो आक्रमणकारीके मुकाबलेके लिए माताका पराक्रम प्रशंसनीय गिना जाएगा, उसे विरोधी हिंसाकी मर्यादाके भीतर कहना होगा जिसका गृहस्थ परिहार नहीं कर सकता। आगे चलकर श्रीसावरकर संकल्पी-हिंसाको भी उचित बताते हैं। उसका वैज्ञानिक अहिंसक समर्थन नहीं करेगा।

वे कहते हैं—"यदि मैं चित्रकार होता, तो ऐसी शेरनीका चित्र बनाता, जिसके मुँहसे रक्तकी बिन्दु टपकती होती। इसके अतिरिक्त उसके सामने एक हिरन पड़ा होता, जिसे मारनेके कारण उसके मुँहमें रक्त लगा होता। साथ ही वह अपने स्तनोंसे बच्चेको दूध पिला रही हो। ऐसा चित्र देखकर आदमी झट समझ सकता है कि दुनियाको

चलानेके लिए किस प्रकार हिंसा अहिंसाकी आवश्यकता है। हिंसा-अहिंसा एक दूसरे पर निर्भर हैं।"[1]

यह चित्र पराक्रमी अहिंसककी वृत्तिका अवास्तविक चित्रण करता है। सच्चा अहिंसक अपने पराक्रमके द्वारा दीन-दुर्बलका उद्धार करता है, उस पर आई हुई विपत्तिको दूर करता है। दीन पर अपना शौर्य प्रदर्शन करनेमें अत्याचारीकी आभा दिखाई देती है। वेचारा मृग असमर्थ है, कमजोर है; किन्तु, है पूर्णतया निर्दोष। उसके रक्तसे रञ्जित शेरनीका मुख शौर्यका प्रतीक नहीं कहा जा सकता। वह क्रूरता और अत्याचारका चित्र आंखोंके आगे खड़ा कर देता है। शेरनीके समान महान् शक्तिका सञ्चय प्रशसनीय है, अभिवन्दनीय है, किन्तु अत्याचारीके स्थानपर दीनोंको उसका शिकार बनाया जाना "शक्तिः परेषां परपीडनाय"की सूक्तिको स्मरण कराता है। वास्तविक अहिंसक गृहस्थ मजबूरीकी अवस्थामें विरोधी हिंसा करता है। ठीक शब्दोंमें तो यों कहना चाहिए कि उसे हिंसा करनी पड़ती है। प्राण-घात करनेमें उसे प्रसन्नता नहीं है, किन्तु वह करे क्या ? उसके पास ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे वह कण्टकका उन्मूलनकर न्यायकी प्रतिष्ठा स्थापित कर सके। व्याघ्रीकी सर्वदा पशुओंकी हिंसन-वृत्ति मानवका पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकती; कारण उसमें पशुताकी ओर आमंत्रण है। उसमें पशुबलके सद्भावके साथ-साथ पशु-वृत्तिका भी प्रदर्शन है। अतः शौर्यके नामपर अत्याचारीके चित्रको आदर्श अहिंसाधारीकी तस्वीर नहीं कहा जा सकता। वह चित्र अत्याचारी और स्वार्थी (Tyrant and Selfish) प्राणीका वर्णन करता है। आदर्श अहिंसक मानवका नहीं।

१, विशालभारत, सन् ४१।

स्व० रा० ब० जस्टिस जे० एल० जैनीने जैन-अहिंसाके विषयमें जो महत्त्वपूर्ण उद्‌गार प्रकट किए थे उनका अवतरण इतिहासज्ञ स्मिथ महाशय अपने भारतीय-इतिहासमें इस प्रकार देते हैं—"जैन आचार-शास्त्र सब अवस्था वाले व्यक्तियोंके लिए उपयोगी है। वे चाहे नरेश, योद्धा, व्यापारी, शिल्पकार अथवा कृषक हों, वह स्त्री-पुरुषकी प्रत्येक अवस्थाके लिए उपयोगी है। जितनी अधिक दयालुतासे बन सके अपना कर्त्तव्य पालन करो। सूत्र रूपमें यह जैन धर्मका मुख्य सिद्धान्त है।"[१]

हिंसाका तृतीय भेद आरम्भी हिंसा कहा जाता है। जीवन-यात्राके लिए शरीररूपी गाड़ी चलानेके लिए उचित रीतिसे उसका भरण-पोषण करनेके लिए आहार-पान आदिके निमित्त होनेवाली हिंसा आरम्भी हिंसा है। शुद्ध भोजन-पानका आत्म-भावोंके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है; यह बात पहिले स्पष्ट की जा चुकी है। हितोपदेशमें हरिण पात्रके द्वारा शुद्ध-आहारके सम्बन्धमें एक महत्त्वपूर्ण पद्य आया है—

"स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते।
अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात् पातकं महत्॥"

जब स्वच्छन्दरूपसे वनमें उत्पन्न वनस्पतिके द्वारा उदर-पोषण हो सकता है तब इस दग्ध-उदरके लिए कौन बड़ा पाप करे।

---

१ "A Jain will do nothing to hurt the feelings of another person, man, woman, or child; nor will he violate the principles of Jainism, Jain ethics are ment for men of all position-for kings, warriors, traders, artisans, agriculturists, and indeed for men and women in every walk of life. Do your duty and do it as humanely as you can—this, in brief is the primary principle of Jainism." V. Smith's History of India. p. 53.

जिनके प्राण रसना इन्द्रियमें वसते हैं, वे तो इन्द्रियके दास बन विना विवेकके राक्षस सदृश सर्वभक्षी बननेसे नहीं चूकते। मद्य, मांसादि द्वारा शरीरका पोषण उनका ध्येय रहता है। अनेक प्रकारके व्यंजनादिसे जिह्वाको लांच-सी देकर अधिक-से-अधिक परिमाणमें भोज्य सामग्री उदरस्थ की जाती है। पशुजगत्के आहारपानमें भी कुछ मर्यादा रहती हैं, किन्तु भोगी मानव ऐसे पदार्थों तकको स्वाहा करनेसे नहीं चूकता, जिनका वर्णन सुन सात्विक प्रवृत्तिवालोंको वेदना होती है।

बौद्ध वाङ्मयमें, बुद्ध-देवके 'सूकर-मद्दव' भक्षणका उल्लेख पा 'शूकर का मांस बुद्धने खाया' यह अर्थ, मालूम होता है, चीन और जापानने हृदयङ्गम किया है। यदि ऐसा न होता तो आज मांसभक्षणमें वे देश अन्य मांस-भक्षी देशोंसे आगे न बढ़ते। एक वार 'समाचार' पत्रोंमें बौद्ध जगत्के लोगोंके आहार-पानमें प्रकाश डालनेवाला लेख प्रकट हुआ था। उससे विदित होता था कि वे लोग आहारके नामपर किसी जीवको नहीं छोड़ते। सर्वभक्षी हैं, सर्पभक्षी भी हैं। कृत्रिम उपायोंसे मलिन वस्तुओंमें कीटादि उत्पन्न कर वे अपनी इच्छाको तृप्त करते हैं। प्रतीत होता है अपने धर्ममें आनन्दका अतिरेक अनुभव करनेवाले धर्मानन्दजी कोसम्बी ने यह सोचनेका कष्ट नहीं किया कि धर्मके प्रधान स्तम्भमें जीवनके शैथिल्यसे गतानुगतिक वृत्तिवाली जनताका क्या हाल होता है। बुद्ध जगत्की अमर्यादित मांस-गृद्धता यह निर्णय निकालनेके लिए प्रेरित करती है, कि शाक्य मुनिके जीवनके साथ शूकर-मद्दव-शूकर मांसका दुर्भाग्यसे सम्बन्ध रहा होगा। उसे देख चेलोंने अपनी प्रवृत्ति द्वारा गुरुको भी पीछे कर दिया। कोसम्बीजीको इसी प्रकाशमें जैनोंका आहार-पान और महावीरकी जीवन-चर्याका अध्ययन करना चाहिए था। कदाचित् 'कुक्कुडमंस, बहु अट्ठियं' का सम्बन्ध प्रक्षिप्त

न होकर यदि वास्तवमें महावीरके साथ होता तथा उसका मांस-परक अर्थ रहता, तो बौद्ध जगत्के समान जैन जगत् भी आमिष आहार द्वारा अहिंसा तत्त्वज्ञानकी सुन्दर समाधि बनाए बिना न रहता। बाह्य जाली प्रमाणोंकी निस्सारताका पता अन्तरङ्ग साक्षियोंके द्वारा न्यायविद्याके पण्डित आजकी चुस्त, चालाक अदालतोंमें लगाया करते हैं। उसी अन्तरङ्ग साक्षीके प्रकाशमें यह ज्ञात होता है कि बौद्धजगत्के समान हिंसन-प्रवृत्तिके पोषणनिमित्त परम कारुणिक महावीरके पुण्य जीवनमें बुद्ध-जीवनकी तरह आमिष आहारकी कल्पना की गई। किन्तु, जैन आचार-शास्त्र, जैन श्रमणोंकी ही नहीं, गृहस्थोंकी चर्याका मांसके सिवा अन्य भी असात्त्विक शाकाहार तकसे असम्बन्ध रूप अन्तरङ्ग साक्षियाँ महावीर की अहिंसाको सूर्य प्रकाशके समान जगत्के समक्ष प्रकट करती हैं और मुमुक्षुको सम्यक् मार्ग सुझाती हैं कि विश्वका हित पवित्र जीवनमें है।

श्रीयुत् गंगाधर रामचन्द्र साने बी० ए० ने 'भारतवर्षाचा मार्मिक इतिहास, लिखनेमें निष्पक्ष दृष्टिको भुला धर्मका विकृत चित्रण कर अपनी साम्प्रदायिक दृष्टिको परितृप्त करनेका प्रयत्न किया है। पानी छानकर पीनेसे क्या लाभ हैं, आज यन्त्र विद्याके विकाश होनेके कारण प्रत्येक विचारकके ध्यानमें आ जाते हैं। पानी छानकर पीनेसे अनेक जलस्थ जन्तु पेटमें पहुँचनेसे बच जाते हैं। जन्तुओंके रक्षणके साथ पीने वालेका भी रक्षण होता है। क्योंकि कई विचित्र रोग जैसे नहरुआ आदि अनछने पानीके ही दुष्परिणाम हैं। अत्यन्त सूक्ष्म जीवोंका छन्नेके द्वारा भी रक्षण सम्भव नहीं है, फिर भी माइक्रास कोप—अणुवीक्षण यन्त्र-द्वारा इस बातका पता चलता है कि कितने जीवोंका एक साधारण सी प्रक्रियासे रक्षण हो जाता है। मनुस्मृति सदृश हिंसात्मक बलिके समर्थक शास्त्रमें भी निम्नलिखित श्लोक छनेजल ग्रहणका समर्थक पाया जाता है :—

"दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।

सत्यपूतां वदेद् वाचं, मनःपूतं समाचरेत् ॥" ६, ४६ ।

इससे जैनियोंके दया-धर्मरक्षक तत्त्वका पोषक छना पानी पीनेका उपहास करनेमें सानेजीका सयानापन सत्यके प्रकाशमें नहीं दीखता। जैन धर्ममें अहिंसाका सम्बन्ध उस प्रवृत्तिसे है जो मानसिक निर्मलता एवं आत्मीक स्वास्थ्यका संरक्षण करे। साधनाके पथमें मनुष्यका जैसा-जैसा विकास होता जाता है, वैसे-वैसे वह अपनी चर्या प्रवृत्तिको सात्त्विक प्रबोधक और संवर्धक बनाता है। जिन पदार्थोंसे इन्द्रियोंकी लोलुपता बढ़ती है, उच्च साधनाके पथमें उनका परिहार बताया गया है। भोजन-की पवित्रता जिस प्रकार उच्च साधकके लिए आवश्यक है, उसी प्रकार जल विषयक विशुद्धता भी लाभप्रद है। जैसे रोगी व्यक्तिको वैद्य उष्ण किए हुए जल देनेकी सलाह देता है क्योंकि वह पिपासाका वर्धक नहीं होता, दोषोंको शमन करता है, अग्निको प्रदीप्त करता है और क्या-क्या लाभ देता है, यह छोटे-बड़े सभी वैद्य बतावेंगे। आत्माको स्वस्थ बनानेके लिए सावधान रहता है कि—शरीरं व्याधिमन्दिरं न बने और स्वास्थ्य सदन रहे, तो तपःसाधना, लोकहित, ब्रह्मचिन्तन आदिके कार्योंमें बाधा नहीं आएगी। अन्यथा रोगाक्रान्त होने पर—

"कफ-वात-पित्तैः कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ।"

वाली समस्या आए बिना न रहेगी।

आत्मनिर्मलताके लिए शरीरका नीरोग रखना साधकके लिए इष्ट है। और शरीरकी स्वस्थताके लिए शुद्ध आहार पान वांछनीय है। इसलिए स्वाध्यवर्धक आहार पान पर दृष्टि रखना आत्मीक निर्मलताकी दृष्टिसे आवश्यक है। उष्ण जल तैयार करनेमें स्थूल दृष्टिसे जलस्थ जीवोंका तो ध्वंस होता ही है; साथ ही अग्नि आदिके निमित्तसे और भी

जीवोंका घात होता है। किन्तु, इस द्रव्यहिंसाके होते हुए भी मानसिक निर्मलता, नीरोगता आदिकी दृष्टिसे उच्च साधकको गरम किया हुआ जल लेना आवश्यक बताया है। यदि बाह्य हिंसाके सिवाय मनःस्थिति-पर दृष्टि न डाली जाए तो संसारमें बड़ी विकट व्यवस्था हो जाएगी और तत्त्वज्ञानकी बड़ी उपहासास्पद स्थिति होगी। अमृतचन्द्र आचार्य-ने लिखा है, कि अहिंसाका तत्त्वज्ञान अतीव गहन है और इसके रहस्यको न समझनेवाले अज्ञोंके लिए सद्गुरु ही शरण हैं जिनको अने-कान्त विद्याके द्वारा प्रबोध प्राप्त होता है। प्राणघातको ही हिंसाकी कसौटी समझनेवाला, खेतमें कृषि कर्म करते हुए अपने हल द्वारा अगणित जीवोंको मृत्युके मुखमें पहुँचानेवाले किसानको बहुत बड़ा हिंसक समझेगा और प्रभातमें जगा हुआ मछली मारनेकी योजनामें तल्लीन किन्तु कारणविशेषसे मछली मारनेको न जा सकनेवाले मनस्ताप संयुक्त धीवरको शायद अहिंसक मानेगा। अहिंसक विद्याके प्रकाशमें किसान उतना अधिक दोषी नहीं है जितना वह धीवर[1] है, किसानकी दृष्टि जीववधकी नहीं है, भले ही उसके कार्यसे जीवोंकी हिंसा होती है। इसके ठीक विपरीत धीवरकी स्थिति है। उसकी आत्मा आकण्ठ हिंसामें निमग्न है; यद्यपि वह एक भी मछलीको सन्ताप नहीं दे रहा है। अत एव यह स्वीकार करना होगा कि यथार्थ अहिंसाका उदय, अवस्थिति और विकास अन्तःकरण वृत्तिपर निर्भर है। जिस बाह्य प्रवृत्तिसे उस निर्मल वृत्तिका पोषण होता है, उसे अहिंसाका अङ्ग माना जाता है। जिससे निर्मलताका शोषण होता है, उस बाह्य वृत्तिको (भले ही वह अहिंसात्मक दीखे) निर्मलताका घातक होनेके कारण हिंसाका अङ्ग माना है।

---

१ घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः। —सागारधर्मामृत २. ८२।

देखो, रोगीके हितकी दृष्टिवाला डॉक्टर आपरेशनमें असफलता वश यदि किसीका प्राणहरण कर देता है, तो उसे हिंसक नहीं माना जाता। हिंसाके परिणामके विना हिंसाका दोष नहीं लगता। कोई व्यक्ति अपने विरोधीके प्राणहरण करनेकी दृष्टिसे उसपर बन्दूक छोड़ता है और दैववश निशाना चूकता है। ऐसी स्थितिमें भी वह व्यक्ति हिंसाका दोषी माना जाता है, क्योंकि उसके हिंसाके परिणाम थे। इसीलिए वह आजके न्यायालयमें भयंकर दण्डको प्राप्त करता है। इस प्रकाशमें भारतवर्षके धार्मिक इतिहासके लेखकका जैन-अहिंसा पर आक्षेप निर्मूल प्रमाणित होता है।[1]

उद्योगी हिंसा वह है जो खेती, व्यापार आदि जीविकाके उचित उपायोंके करनेमें हो जाती है। प्राथमिक साधक बुद्धिपूर्वक किसी भी प्राणीका घात नहीं करता, किन्तु कार्य करनेमें हिंसा हो जाया करती है। इस हिंसा-अहिंसाकी मीमांसामें 'हिंसा करना' और 'हिंसा हो जाना' में अंतर है। हिंसा करनेमें बुद्धि और मनोवृत्ति प्राणघातकी ओर स्वेच्छापूर्वक जाती है, हिंसा हो जानेमें मनोवृत्ति प्राणघातकी नहीं है, किन्तु साधन तथा परिस्थितिविशेषवश प्राणघात हो जाता है। मुमुक्षु ऐसे व्यवसाय, वाणिज्यमें प्रवृत्ति करता है, जिनसे आत्मा मलिन नहीं होती, अतः क्रूर अथवा निन्दनीय व्यवसायमें नहीं लगता। न्याय तथा अहिंसाका रक्षणपूर्वक अल्पलाभमें भी वह सन्तुष्ट रहता है। वह जानता है कि शुद्ध तथा उचित उपायोंसे आवश्यकतापूरक संपत्ति मिलेगी, अधिक नहीं। वह सम्पत्तिके स्थानमें पुण्याचरणको बड़ी और सच्ची सम्पत्ति मानता है। आत्मानुशासनमें लिखा है :—

---

१ अध्याय ७'

"शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न संपदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिंधवः ॥४५॥"

सत्पुरुषों तककी सम्पत्ति शुद्ध धनसे नहीं बढ़ती है। स्वच्छ जलसे कभी भी समुद्र नहीं भरा जा सकता।

एक कोट्यधीश प्रख्यात जैन व्यवसायी बन्धुने हमसे पूछा—"हमने दुग्धादिके प्रचार तथा पशुपालन निमित्त बहुतसे पशुओंका पालन किया है। जब पशु वृद्ध होनेपर दूध देना बिलकुल बन्द कर देते हैं, तब अन्य लोग तो उन निरुपयोगी पशुओंको कसाइयोंको बेच खर्चेसे मुक्त हो द्रव्यलाभ उठाते हैं, किन्तु जैन होनेके कारण हम उनको न बेचकर उनका भरण-पोषण करते हैं, इससे प्रतिस्पर्धाके बाज़ारमें हम विशेष आर्थिक लाभसे वंचित रहते हैं। बताइये आपकी उद्योगी हिंसाकी परिधिके भीतर क्या हम उन असमर्थ पशुओंको बेच सकते हैं?" मैंने कहा—कभी नहीं। उन्हें बेचना क्रूरता, कृतघ्नता तथा स्वार्थपरता होगी। जैसे अपने कुटुम्बके माता, पिता आदि वृद्धजनोंके अर्थशास्त्रकी भाषामें निरुपयोगी होने पर भी नीतिशास्त्र तथा सौजन्य विद्याके उज्ज्वल प्रकाशमें दीन से दीन भी मनुष्य उनकी सेवा करते हुए उनकी विपत्तिकी अवस्थामें आराम पहुँचाता है, ऐसा हीं व्यवहार उदार तथा विशाल दृष्टि रख पशु जगत्के उपकारी प्राणियोंका रक्षण करना कर्तव्य है। बड़े बड़े व्यवसायी अन्य मार्गोंसे धनसंचय करके यदि अपनी उदारता द्वारा पशुपालनमें प्रवृत्ति करें, तो अहिंसा धर्मकी रक्षाके साथ ही साथ राष्ट्रके स्वास्थ्य तथा शक्तिसंवर्धनमें भी विशेष सहायता प्राप्त हो।

मनुष्यजीवन श्रेष्ठ और उज्ज्वल कार्योंके लिए है। जो दिग्भ्रान्त प्राणी उसे अर्थ अर्जन करनेकी मशीन सोच येन केन प्रकारेण सम्पत्ति संचयका साधन मानते हैं, वे अपने यथार्थ कल्याणसे वञ्चित रहते हैं।

विवेकी मानव अपने आदर्श रक्षणके लिए आपत्तिकी परवाह नहीं करता। वह तो विपत्तियोंको आमंत्रण देता है और अपने आत्मबलकी परीक्षा लेता है। ऐसा अहिंसक शराब, हड्डी, चमड़ा, मछलीके तेल सदृश हिंसासे साक्षात् सम्बन्धित वस्तुओंके व्यवसाय द्वारा बड़ा धनी बन राज-प्रासाद खड़े करनेके स्थान पर ईमानदारी और करुणापूर्वक कमाई गई सूखी रोटीके टुकड़ोंको अपनी झोपड़ीमें बैठकर खाना पसंद करेगा। वह जानता है कि हिंसादि पापोंमें लगनेवाला व्यक्ति नरक तथा तिर्यञ्च पर्यायमें वचनातीत विपत्तियोंको भोगा करता है। अहिंसात्मक जीवनसे जो आनन्दनिर्झर आत्मामें बहता है उसका स्वप्नमें भी दर्शन हिंसकवृत्तिवालोंके पास नहीं होता। बाह्य पदार्थोंके अभावमें तनिक भी कष्ट नहीं है, यदि आत्माके पास सद्विचार, लोकोपकार और पवित्रताकी अमूल्य सम्पत्ति है। मेवाड़की स्वतंत्रताके लिए अपने राजसी ठाठको छोड़ वनचरोंके समान घासकी रोटी तक खा जीवन व्यतीत करनेवाले क्षत्रिय-कुल-अवतंस महाराणा प्रतापकी आत्मामें जो शान्ति और शक्ति थी, क्या उसका शतांश भी अकबरके अधीन बन माल उड़ाते हुए मातृभूमिको पराधीन करनेमें उद्यत मानसिंहको प्राप्त था? इसी दृष्टिसे अहिंसाकी साधनामें कुछ ऊपरी अड़चनें आवें भी तो कुतर्ककी ओटसे हिंसाकी ओर झुकना लाभ-प्रद न होगा। जिस कार्यमें आत्माकी निर्मल वृत्तिका घात हो उससे सावधानीपूर्वक साधकको बचना चाहिए।

इस अहिंसात्मक जीवनके विषयमें लोगोंने अनेक भ्रान्त धारणाएँ बाँध रखी हैं। कोई यह सुझाते हैं कि यदि आनन्दकी अवस्थामें किसीको मार डाला जाए, तो शान्तभावसे मरण करने वालेकी सद्गति होगी। वे लोग यह नहीं सोचते कि मरते समय क्षण-मात्रमें परिणामोंकी क्या

से क्या गति नहीं हो जाती। प्राण परित्याग करते समय होने वाली वेदनाको वेचारा प्राण लेनेवाला क्या समझे !

"जाके पांव न फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई।"

यह कथन पूर्णतया सत्य है।

कोई सोचते हैं दुखी प्राणीके प्राणोंका अन्त कर देनेसे उसका दुख दूर हो जाता है। ऐसी ही प्रेरणासे अहिंसाके विशेष आराधक गांधीजीने अपने साबरमती आश्रममें एक रुग्ण गो-वत्सको इन्जेक्शन द्वारा यम-मन्दिर पहुँचाया था। अहिंसाके अधिकारी आचार्य **अमृतचन्द्र** स्वामी इस कृतिमें पूर्णतया हिंसाका सद्भाव बतलाते हैं। जीवन-लीला समाप्त करने वाला भ्रमवश अपनेको अहिंसक मानता है। वह नहीं सोचता कि जिस पूर्वसंचित पापकर्मके उदयसे प्राणी कष्टका अनुभव कर रहा है, प्राण लेनेसे उसकी वेदना कम नहीं होगी। उसके प्रकट होनेके साधनों का अभाव हो जानेसे हमें उसकी यथार्थ अवस्थाका परिचय नहीं हो पाता। हाँ, प्राणघात करनेके समान यदि उस जीवके असाता देने वाले कर्मका भी नाश हो जाता, तो उस कार्यमें अहिंसाका सद्भाव स्वीकार किया जाता। पशुके साथ मनमाना व्यवहार इसलिए कर लिया जाता है कि—उनके पास अपने कष्टोंको व्यक्त करनेका समुचित साधन नहीं है। बछड़ेके समान मनुष्याकृतिधारी किसी व्यक्तिके प्रति पूर्वोक्त करुणा का प्रदर्शन होता तो आधुनिक न्यायालय उसका उचित इलाज किए बिना न रहता।

यह भी कहा जाता है कि आँख बंदकर उन पशुओं आदिके प्राण लो, जो दूसरोंके प्राण लिया करते हैं। इस भ्रान्त दृष्टिके दोषको बताते हुए पं०प्रवर **आशाधरजी** समझाते हैं कि इस प्रक्रियासे संसारमें चारों ओर हिंसाका दौर-दौरा हो जाएगा तथा अतिप्रसङ्ग नामका दोष

आएगा। बड़े हिंसकोंका मारने वाला उससे भी बड़ा हिंसक माना जाएगा और इस प्रकार वह भी हनन किया जानेका पात्र समझा जाएगा। हिंसक शरीर धारण करने मात्रसे ही हिंसात्मक प्रवृत्तिका प्रदर्शन किए बिना उन्हें मार डालना विवेकशील मानवके लिए उचित नहीं कहा जा सकता। पशु जगत्में भी कभी-कभी कोई विशिष्ट हिंसक-प्राणीकी आत्मामें अहिंसाकी एक झलक आ जाती है। जैसा पहिले बता दिया गया है कि भगवान् महावीर बननेवाले सिंहकी पर्यायमें उस जीवने अहिंसाकी चमत्कारिणी साधना आरम्भ कर दी थी। क्या बिना सोचे समझे उसके सिंह शरीरको देख उसे मृगादि मान लेना और उसके प्राणघातके लिए प्रवृत्ति करना उचित होगा? आचार्य गुणभद्रने उस सिंहके विषयमें यह लिखा है—'**स्वार्थं मृगारिशब्दोऽसौ जहे तस्मिन् दयावति**'—उस दयावान् सिंहके विषयमें मृगारि-मृगोंका शत्रु इस शब्द ने अपने यथार्थ अर्थका परित्याग कर दिया था—वह शब्द रूढिवश प्रचारमें आता था।

यह भी बात साधक सोचता है कि इस अनन्त संसारमें भ्रमण करता हुआ यह जीव आज सिंह, सर्पादि पर्यायमें है और अपनी पर्याय-दोषके कारण अहिंसात्मक वृत्तिको धारण नहीं कर सकता है, तो उसके जीवनकी समाप्ति कर देना कहाँ तक उचित है? क्योंकि हिंसन करना उन आत्म-विकासहीन पशुओंके समान मेरा धर्म नहीं है। जिस पशुको मैं मारनेकी सोचता हूँ सम्भव है कि मेरे अत्यन्त स्नेही हितैषी जीवका ही उस पर्यायमें उत्पाद हुआ हो और दुर्भाग्यवश उस हतभाग्य-को मनुष्योंके द्वारा क्रूर मानी जानेवाली पर्यायमें जन्म मिला हो। ऐसे प्राणीके हनन करनेके विचारसे आत्मामें क्रूरताका शैतान अड्डा जमा लेता है। फिर उसमेंसे अहिंसात्मक वृत्ति दूर हो जाती है। अत एव

दयालु व्यक्तिको अधिक-से-अधिक प्रयत्न प्राणरक्षाका करना चाहिए। कभी-कभी जन्मान्तर हिंसित जीव अच्छा बदला भी लेता है, यह नहीं भूलना चाहिए।

अहिंसाके नामपर एक बड़ी विचित्र धारणा सर्वभक्षी चीन, जापान आदि देशोंमें पाई जाती है। अहिंसाका विनोदमय प्रदर्शन देख लाहौरके प्रो० डॉ० रघुवीर, एम० ए०, पी० एच० डी० ने "जापानमें बुद्ध-अहिंसा-सिद्धान्तका परिपालन" शीर्षक लेखमें बताया था कि जापानी लोग चेरी नामक वृक्षकी लकड़ियोंको खुदाईके काममें लाते हैं इसलिए टोकियोमें उनकी आत्माकी शान्तिके लिए प्रार्थना की जाती है। टूटी हुई पुतलियों तथा सुइयोंमें आत्माका सद्भाव स्वीकार करके उनकी शान्ति निमित्त बुद्धदेवसे अभ्यर्थना की जाती है। जिन-जिन जानवरोंको जापानी लोग खा जाते हैं उनकी शान्तिनिमित्त वे प्रार्थना करते हैं।[1]

१ "In the earlier and middle years of Japan the monks, nuns and a few pious men and women practised vegetarianism, but it is so superficial that at the mere thought of the West, it disappeared rapidly. Formerly a nation of fish-eaters, it is now equally proud of being beef and pork eaters. Even the pious, whether among the clergy or the laity, relish without any compunction forbidden meat. But it should not be understood that the idea has altogether been become extinct. In recent years it has taken a new form that of memorial services. 1. Wood print engravers guild holds memorial services in honour of the spirit of the countless cherry trees......mass for silkworms. ......spirits of fish......service for the broken dolls & broken needles, the needles being regarded as living being."

Prof. Raghuvira, M. A., Ph. D., D. Lit.'s article 'The Practice of the Buddhist tenets of Ahimsa in Japan' in Modern Review, Feb. 1938 p. 165.

इस पद्धतिसे वे अपनेको पवित्र और शुद्ध समझने लगते हैं। यह परिताप वाणीके स्थानमें तथा दम्भके बदलेमें. यदि सत्यसे समन्वित होकर हृदयसे उदित होता तो जापानियोंके जीवनमें 'अहिंसा परमो धर्मः'का जागरण हुए बिना न रहता।

आज जो विश्वमें विपत्ति और संकटका नग्न नर्तन दिखाई पड़ रहा है, उसका यथार्थ कारण यही है कि लोगोंमें 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना प्रसुप्त हो गई है, और उसके स्थानपर स्वार्थसाधनकी जघन्य एवं संकीर्ण दृष्टि जाग्रत हो उठी है। शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णवमें बताते हैं—

"यत्किञ्चित्संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम्।
दौर्भाग्यादि समस्तं तद्धिंसासम्भवं ज्ञेयम्॥" पृ० १२०।

इस संसारमें जीवोंके दुःख, शोक, भयके बीजस्वरूप दुर्भाग्य आदिका दर्शन होता है, वह सब हिंसासे उत्पन्न समझना चाहिए। एक कविने कितना सुन्दर कहा है—

"Whoever places in man's path a snare,
Himself will in the sequel stumble there.
Joys fruit upon the branch of kindness grows
Who sows the bramble, will not pluck the rose."

जो दूसरेके मार्गमें जाल बिछाता है, वह स्वयं अन्तमें गिरेगा। करुणाकी शाखामें आनन्दके फल लगते हैं। जो काँटा बोता है वह गुलाबको नहीं पावेगा।

समन्वयका मार्ग—स्याद्वाद

साधकके लिए जिस प्रकार पुण्य-जीवन और पवित्र प्रवृत्तियोंकी आवश्यकता है, उसी प्रकार हृदयसे सत्यका भी निकटतम परिचय होना आवश्यक है। मनुष्यकी मर्यादित शक्तियाँ हैं। पदार्थोंके परिज्ञानके साधन भी सदा सर्वथा सर्वत्र सबको एक ही रूपमें पदार्थोंका परिचय नहीं कराते। एक वृक्ष समीपवर्ती व्यक्तिको पुष्प-पत्रादि-प्रपूरित प्रतीत होता है, तो दूरवर्तीको उसका एक विलक्षण आकार दीखता है। पर्वतके समीप आनेपर वह हमें दुर्गम और भीषण मालूम पड़ता है, किन्तु दूरस्थ व्यक्तिको वह रम्य प्रतीत होता है—दूरस्थाः भूधराः रम्याः'। इसी प्रकार विश्वके पदार्थोंके विषयमें हम लोग अपने-अपने अनुभव और अध्ययन-का विश्लेषण करें, तो एक ही वस्तुके भिन्न-भिन्न प्रकारके अनुभव मिलेंगे; जिनको अकाट्य होनेके कारण सदोष या भ्रम-पूर्ण नहीं कहा जा सकता। एक 'संखिया' नामक पदार्थके विषयमें विचार कीजिए। साधारण जनता उसे विष रूपसे जानती है, किन्तु, वैद्य उसका भयङ्कर रोग निवारणमें सदा प्रयोग करते हैं। इसलिए जनताकी दृष्टिसे उसे मारक कहा जाता है और वैद्योंकी दृष्टिसे लाभ-प्रद होनेके कारण उसका सावधानीपूर्वक प्रयोग किया जाता है।

इसी प्रकार वस्तुओंके विषयमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी दृष्टियाँ सुनी जाती हैं और अनुभवमें भी आती हैं। इन दृष्टियों पर गम्भीर विचार न कर कूप-मण्डूकवत् सङ्कीर्ण भावसे अपनेको ही यथार्थ समझ विरोधी दृष्टिको एकान्त असत्य मान बैठते हैं। दूसरा भी इनका अनुकरण करता है। ऐसे सङ्कीर्ण विचार वालोंके संयोगसे जो संघर्ष होता है उसे देख साधारण-तो क्या बड़े-बड़े साधुचेतस्क व्यक्ति भी सत्य-समीक्षणसे दूर हो

परोपकारी जीवनमें प्रवृत्ति करनेकी प्रेरणा कर चुप हो जाते हैं। और, यह कहने लगते हैं—सत्य उलझनकी वस्तु है। उसे अनन्त कालतक सुलझाते जाओगे तो भी उलझन जैसीकी तैसी गोरख-धन्धेके रूपमें बनी रहेगी। इसलिए थोड़ेसे अमूल्य मानव-जीवनको प्रेमके साथ व्यतीत करना चाहिए। इस दृष्टिवाले बुद्धिके धनी होते हैं, तो यह शिक्षा देते हैं—

"कोई कहैं कछु है नहीं, कोई कहै कछु है।
है औ नहींके बीचमें, जो कुछ है सो है॥"

साधारण जनताकी इस विषयमें उपेक्षा दृष्टिको व्यक्त करते हुए कवि अकबरने कहा है—

"मज़हबी बहस मैंने की ही नहीं
फालतू अक्ल मुझमें थी ही नहीं।"

ऐसी धारणावाले जिस मार्गमें लगे हुए चले जारहे हैं, उसमें तनिक भी परिवर्तनको वे तैयार नहीं होते। कारण, अपने पक्षको एकान्त सत्य समझते रहनेसे सत्य-सिन्धुके सर्वांगीण परिचयके सौभाग्यसे वे वञ्चित रहते हैं। एक बार एक विश्वधर्म सम्मेलनमें मुझे सम्मिलित होनेका सुयोग मिला। बौद्ध धर्मका प्रतिनिधित्व करनेवाले दर्शन-शास्त्रके आचार्य एक डॉक्टर महानुभावने कहा था कि—बुद्ध-देवने प्रपञ्चके विषयमें सत्य समीक्षणकी दृष्टिमें अपने भक्तोंका काल-क्षेप करना उचित नहीं समझकर लोक-सेवा, प्रेम, धर्म-प्रचार आदिको जीवनोपयोगी कहा। इसलिए डाक्टर महाशयकी दृष्टिमें दार्शनिकताका मार्ग कण्टक-मय और मृग-मरीचिकाका रास्ता था। उस समय जैन-धर्मकी समन्वयकारी दृष्टि पर प्रकाश डालनेकी चिन्तनामें मैं निमग्न था। जैन धर्मके अपने भाषणके प्रारम्भमें मैंने बौद्ध प्रतिनिधिके प्रभावको ध्यानमें रखते हुए कहा-

कि—चार्वाकने तो पूर्वोक्त दृष्टिसे भी आगे बढ़ लोकोपयोगी आकर्षक युक्ति द्वारा विश्वकी समीक्षाको 'बालू पेलि निकालैं तेल' जैसी सारहीन समस्या समझाया। देखिए वह क्या कहता है—तर्कके सहारे सत्यको देखना चाहो तो वह हमारा ठीक मार्ग-दर्शन नहीं करता। जिस प्रकार तर्क एक पक्षके औचित्यको बतानेवाली सामग्री उपस्थित करता है उसी प्रकार अन्य पक्षको उचित बताने वाली सामग्रीकी भी कमी नहीं है। शास्त्रोंके प्रमाण भी परस्पर विचित्रताओंसे परिपूर्ण हैं। एक ज्ञानी पुरुषकी लिखी बात प्रमाणिक मानें और दूसरेकी नहीं, यह सलाह ठीक नहीं जँचती। धर्मका स्वरूप मनुष्यकी बुद्धि के परे है। वह है अथवा नहीं, नहीं कह सकते। गड़रियेके नेतृत्वमें जिस प्रकार भेड़ोंका झुण्ड रहा करता है उसी प्रकार प्रभावशाली पुरुष अपने-अपने पन्थका नेता बन लोगोंको अपनी ओर खींच लेता है। इस दृष्टिसे तो मानव-जीवनकी जो विशेष-शक्ति तर्कणा है, वह बिल्कुल अकार्यकारी हो जाती है। ऐसी निबिड़-निराशाकी अवस्थामें भी जैनधर्मका अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद नामका वैज्ञानिक उपाय पर्याप्त प्रकाश तथा स्फूर्ति प्रदान करता है।

सत्यका स्वरूप समझनेमें डरकी कोई बात ही नहीं है। भ्रम, असामर्थ्य अथवा मानसिक दुर्बलताके कारण कोई बड़ा सन्त बन और कोई दार्शनिकके रूपमें आ हमें रस्सीको साँप बता डराता है। स्याद्वाद विद्याके प्रकाशमें साधक तत्काल जान लेता है कि यह सर्प नहीं रस्सी है—इससे डरनेका कोई कारण नहीं है।

पुरातनकालमें जब साम्प्रदायिकताका नशा गहरा था, तब इस स्याद्वाद-सिद्धान्तकी विकृत रूप-रेखा प्रदर्शित कर किन्हीं-किन्हीं नामाङ्कित धर्माचार्योंने इसके विरुद्ध अपना रोष प्रकट किया और उस सामग्रीके

प्रति 'बाबावाक्यं प्रमाणम्'की आस्था रखनेवाला आज भी सत्यके प्रकाशसे अपनेको वंचित करता है। आनन्दकी बात है कि इस युगमें साम्प्रदायिकताका भूत वैज्ञानिक दृष्टिके प्रकाशमें उतरा, इसलिए स्याद्वादकी गुण-गाथा बड़े-बड़े विशेषज्ञ गाने लगे। जर्मन विद्वान् प्रो० हर्मन जेकोबीने लिखा है—"जैनधर्मके सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक पद्धतिके अभ्यासियोंके लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस स्याद्वादसे सर्व सत्य विचारोंका द्वार खुल जाता है।" इण्डिया आफिस लन्दनके प्रधान पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ० थामसके उद्गार बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—"न्यायशास्त्रमें जैन न्यायका स्थान बहुत ऊँचा है। स्याद्वादका स्थान बड़ा गम्भीर है। वह वस्तुओंकी भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंपर अच्छा प्रकाश डालता है।" भारतीय विद्वानोंमें निष्पक्ष आलोचक स्व० पंडित **महावीरप्रसादजी द्विवेदी**की आलोचना अधिक उद्बोधक है—"प्राचीन ढर्रेके हिन्दू-धर्मावलम्बी बड़े-बड़े शास्त्रीतक अब भी नहीं जानते कि जैनियोंका 'स्याद्वाद' किस चिड़ियाका नाम है। धन्यवाद है जर्मनी, फ्रांस और इङ्गलैण्डके कुछ विद्यानुरागी विशेषज्ञोंको जिनकी कृपासे इस धर्मके अनुयायियोंके कीर्ति-कलापकी खोज की और भारतवर्षके इतरजनों का ध्यान आकृष्ट हुआ। यदि ये विदेशी विद्वान् जैनोंके धर्मग्रन्थोंकी आलोचना न करते, उनके प्राचीन लेखकोंकी महत्ता प्रकट न करते तो हमलोग शायद आज भी पूर्ववत् अज्ञानके अन्धकारमें ही डूबते रहते।"

गांधीजीने लिखा है "जिस प्रकार स्याद्वादको मैं जानता हूँ, उसी प्रकार मैं उसे मानता हूँ। मुझे यह अनेकान्त बड़ा प्रिय है।"

श्रीयुत **महामहोपाध्याय सत्य सम्प्रदायाचार्य पं० स्वामी राममिश्रजी** शास्त्रीने लिखा है कि—"स्याद्वाद जैन धर्मका एक अभेद्य किला है, जिसके अन्दर प्रतिवादियोंके मायामय गोले प्रवेश नहीं कर सकते।"

अब हमें देखना है कि यह स्याद्वाद क्या है जो शान्त गम्भीर और असाम्प्रदायिकोंकी आत्माके लिए पर्याप्त भोजन प्रदान करता है। 'स्यात्' शब्दका कथञ्चित्–किसी दृष्टिसे (from some point of view) अर्थका बोधक है। 'वाद' शब्द कथनको बताता है। इसका भाव यह है कि वस्तु किसी दृष्टिसे इस प्रकार है, किसी दृष्टिसे दूसरी प्रकार है। इस तरह वस्तुके अनेक धर्मों-गुणोंको दृष्टिमें गौण बनाते हुए गुण-विशेषको प्रमुख बना प्रतिपादन करना स्याद्वाद है। स्वामी **समन्तभद्र** कहते हैं—

"स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।"

—आप्तमीमांसा १०४।

लघीयस्त्रयमें अकलङ्कदेव लिखते हैं—"अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः[१]—अनेकान्तात्मक-अनेक धर्म-विशिष्ट वस्तुका कथन करना स्याद्वाद है।" कथनके साथ स्यात् शब्दका प्रयोग करनेसे सर्वथा एकान्त दृष्टिका परिहार हो जाता है। स्याद्वादमें वस्तुके अनेक धर्मोंका कथन होनेके कारण उसे अनेकधर्मवाद अथवा अनेकान्तवाद कहते हैं। जब अनन्त धर्मोंपर दृष्टि रहती है तब उसे सकलादेश–परिपूर्ण दृष्टि कहते हैं। जब एक धर्मको प्रधान बना शेष धर्मोंको गौण बना दिया जाता है तब उसे विकलादेश-अपूर्ण दृष्टि कहते हैं। विकलादेशको नय-दृष्टि और सकलादेशको प्रमाण-दृष्टि कहते हैं। जीवमें ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति आदि अनन्त गुण विद्यमान हैं। जब प्रतिपादककी विवक्षा-दृष्टि अनन्त गुणोंपर केन्द्रित रहती है तब स्यात् शब्दके साथ 'जीव' पदका प्रयोग उसके अनन्त धर्मोंको सूचित करता

---

१ "उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ।
स्याद्वादः सकलादेशः नयो विकलसंकथा ॥६२॥" —लघीयस्त्रय।

है। इसलिए अकलङ्क स्वामीने लिखा है—'स्यात् जीव एव' ऐसा कथन होनेपर 'स्यात्' शब्द अनेकान्त–अनेक धर्मपुञ्जको विषय करता है। 'स्यात् अस्ति जीव एव' इस वाक्यमें 'स्यात्' शब्द जीवके अस्तित्व गुणको प्रधानतासे बताता है। इस प्रकार स्यात् शब्द द्वारा अनेकान्त और सम्यक् एकान्तका बोध होता है।[१]

वस्तुके अनन्त धर्मोंका जिन एकान्तियोंको पता नहीं है, वे स्याद्वाद विद्याका प्रतिपादन करनेमें समर्थ न हो सके। भगवान् ऋषभदेवसे लेकर महावीर पर्यन्त चौवीस तीर्थङ्करोंने श्रेष्ठ साधनाके फलस्वरूप सर्वज्ञताके सूर्यको प्राप्त किया और उसके प्रकाशमें स्याद्वाद विद्याका परिचय पाया। इसीलिए अकलङ्क देवने लघीयस्त्रय ग्रन्थके प्रमाण प्रवेश प्रकरणके प्रारम्भमें तीर्थङ्करोंको पुनः पुनः स्वात्मोपलब्धिके लिए प्रणाम करते समय 'स्याद्वादी' शब्दसे समलङ्कृत किया है। कितना भावपूर्ण मङ्गल श्लोक है—

"धर्मतीर्थंकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः।
ऋषभादि-महावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये॥"

आत्माकी सर्वज्ञतापर तार्किक दृष्टिसे पहिले प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ हम बौद्धोंके अत्यन्त मान्य ग्रन्थ मज्झिम निकाय (भाग १, पृ० ९२–९३) का निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित करते हैं, जिससे जैन धर्मके प्रबल प्रतिद्वंद्वी बौद्ध साहित्य द्वारा भगवान् महावीरकी सर्वज्ञताकी मान्यतापर प्रकाश पड़ता है। पुरातन बौद्ध पाली वाङ्मयमें भगवान् महावीर और जैन संस्कृतिके विरुद्ध काफी असंयत तथा रोषपूर्ण उद्गार अनेक स्थलोंपर व्यक्त किए गए हैं। भगवान् महावीरके समकालीन

---

१ "स्याज्जीव एव इत्युक्तेऽनेकान्तविषयः स्याच्छब्दः। 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्युक्ते एकान्तविषयः स्याच्छब्दः।"—लघी० पृ० २१।

साहित्यमें निर्ग्रन्थ ज्ञात-पुत्र महावीरको सर्वज्ञ और सर्वदर्शी तथा परिपूर्ण ज्ञान, दर्शनके ज्ञातापनेकी मान्यताका उल्लेख अत्यधिक प्रभावपूर्ण साक्षी माना जाना चाहिए। पालीमें शब्द ये हैं—

"निगण्ठो, आवुसो, नाथपुत्तो सब्बञ्ञु, सब्बदस्सावी अपरिसेसं ञाण-दस्सनं परिजानाति।" (म० नि०. भाग १, पृ० ९१–९३ : P. T. S.)

वाणीके द्वारा एक साथ परिपूर्ण सत्यका प्रतिपादन करना सम्भव नहीं है, इसलिए जिस धर्म या जिन धर्मोंका वर्णन किया जाए वे प्रधान हो जाते हैं और अन्य गौण बन जाते हैं। एकान्त दृष्टिमें अन्य गौण धर्मोंको वस्तुसे पृथक् कर उन्हें अस्तित्वहीन बना दिया जाता है इसलिए मिथ्या एकान्त दृष्टिके द्वारा सत्यका सौंदर्य समाप्त हो जाता है। अनेकान्त विद्याके प्रकाण्ड आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं[1]—जिस प्रकार दधि मन्थन कर मक्खन निकालनेवाली ग्वालिन अपने एक हाथसे रस्सीके एक छोरको सामने खींचती है, तो उसी समय वह दूसरे हाथके छोरको शिथिल कर पीछे पहुँचा देती है, पर छोड़ती नहीं है, पश्चात् पीछे गये हुए छोरको मुख्य बना रस्सीके दूसरे भागको पीछे ले जाती है। इस प्रकार आकर्षण और शिथिलीकरण क्रियाओं द्वारा दधिमेंसे सारभूत तत्त्वको प्राप्त करती है। अनेकान्त विद्या एक दृष्टिको मुख्य बनाती है और अन्यको गौण करती है। इस प्रक्रियाके द्वारा वह तत्त्वज्ञान रूप अमृतको प्राप्त कराती है।

पहिले संखियाको जन साधारणकी भाषामें प्राण-घातक बताया था, वैद्यराजकी दृष्टिमें उसे उसके विपरीत प्राण-रक्षक कहा था। इन परस्पर

---

१ "एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥"—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २२५

विरोधी प्रतीत होने वाले वक्तव्योंमें विरोध इस प्रकार दूर किया जा सकता है कि यदि मनमानी मात्रामें बिना योग्य अनुपानके वह खाया जाय तो प्राण-रक्षण नहीं होगा किन्तु चतुर-चिकित्सकके तत्त्वावधानमें यथाविधि सेवन करनेपर वही रोग-निवारक होगा । इसलिए उसे एक दृष्टिसे प्राणरक्षक कहना ठीक है । दूसरी दृष्टिसे प्राणघातक कहना भी सत्यकी मर्यादाके भीतर है ।

एक तीन इञ्च लम्बी रेखा खिंची है। उसे हम न तो छोटी कह सकते हैं और न बड़ी। उसका छोटापन अथवा लम्बापन सापेक्ष (Relative) है। पांच इञ्चवाली रेखा ऊपर खींचने पर वह लघु कही जाती है और दो इञ्च मानवाली दूसरी रेखाकी अपेक्षा वह बड़ी कही जाती है। इसी प्रकार वस्तुके स्वरूपके विषयमें साधकको पता लगेगा कि समन्वयकारी परस्परमें मैत्री रखनेवाली दृष्टियोंसे वस्तुका स्वरूप ठीक रीतिसे हृदय-ग्राही हो जाता है। यह स्याद्वाद हमारे नित्य व्यवहारकी वस्तु है। इसकी उपादेयता स्वीकार किए बिना हमारा लोक-व्यवहार एक क्षण भी नहीं बन सकता।

आचार्य हेमचन्द्रने बताया है, कि स्याद्वादका सिक्का सम्पूर्ण विश्व में चलता है। इसकी मर्यादाके बाहर कोई भी वस्तु नहीं रह सकती। छोटेसे दीपकसे लेकर विशाल आकाश पर्यन्त सभी वस्तुएँ किसी दृष्टिसे नित्य और किसी दृष्टिसे अनित्य रूप अनेकान्त मुद्रासे अङ्कित हैं—

"आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥"

—अन्ययोगव्य०।

लोक-व्यवहारमें हम देखते हैं एक व्यक्ति अपने पिताकी दृष्टिसे पुत्र कहलाता है, वही व्यक्ति जो पुत्र कहलाता है भानजेकी अपेक्षा

मामा, पुत्रकी दृष्टिसे पिता भी कहलाता है; इस प्रकार देखनेसे प्रतीत होता है कि पुत्रपना, पितापना, मामापना आदि विशेषताएँ परस्पर जुदी-जुदी हैं किन्तु उनका एक व्यक्तिमें भिन्न दृष्टियोंकी अपेक्षा विना विरोधके सुन्दर समन्वय पाया जाता है। इसी प्रकार पदार्थोंके विषयमें भी सापेक्षताकी दृष्टिसे अविरोधी तत्त्व प्राप्त होता है। वैज्ञानिक आन्स्टाइनने अपने सापेक्षतावाद सिद्धान्त (theory of relativity) द्वारा स्याद्वाद दृष्टिका ही समर्थन किया है।

वस्तुके अस्तित्व गुणको प्रधान माननेपर सद्भाव सूचकदृष्टि समक्ष आती है और जब प्रतिषेध्य-निषेध किए जानेवाले धर्म मुख्य होते हैं, तब नास्ति नामक द्वितीय दृष्टि उदित होती है। वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी दृष्टिसे सत्स्वरूप है, वही वस्तु अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा नास्ति रूप होती है। हाथी अपने स्वरूपकी अपेक्षा सद्भाव रूप है लेकिन हाथीसे भिन्न ऊँट, घोड़ा आदि गजसे भिन्न वस्तुओंकी अपेक्षा हाथी असद्भावात्मक होता है। यदि स्वरूपकी अपेक्षा हाथीके सद्भावके समान पररूपकी भी अपेक्षा हाथीका सद्भाव हो तो हाथी, ऊँट, घोड़े आदिमें कोई अन्तर न होगा। इसी प्रकार यदि ऊँट आदि हाथीसे भिन्न पदार्थोंकी अपेक्षा जैसे गजको असद्भाव-नास्ति रूप कहते हैं उसी प्रकार स्वरूपकी अपेक्षा भी यदि गज नास्ति रूप हो जाए तो हाथीका सद्भाव नहीं रहेगा।

[1]तत्त्वार्थ राजवार्तिकमें आचार्य अकलङ्कदेवने बताया है कि—वस्तुका वस्तुत्व इसीमें है कि वह अपने स्वरूपको ग्रहण करे और परकी अपेक्षा अभाव रूप हो। इन विधि और निषेधरूप दृष्टियोंको अस्ति और नास्ति नामक दो भिन्न धर्मों द्वारा बताया है।

१ "स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्।" पृ० २४

इस विषयको समझानेके लिए न्याय-शास्त्रमें एक उदाहरण दिया जाता है कि दधि स्वरूपकी अपेक्षा दधि है, यदि वह दधिसे भिन्न ऊँटकी अपेक्षा भी दधि हो तो जिसतरह 'दधि खाओ' कहनेपर व्यक्ति दहीकी ओर जाता है उसी प्रकार उपर्युक्त वाक्य सुनकर उसे ऊँटकी ओर दौड़ना था। किन्तु इस प्रकारका क्रम नहीं देखा जाता। इससे यह निष्कर्ष न्यायोपात्त है कि वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा अस्तिरूप है और पररूपकी अपेक्षा नास्तिरूप। इस रहस्यको तिरस्कारकी दृष्टिसे देखनेवाले बौद्ध-आचार्य धर्मकीर्तिकी कटु आलोचनाका उपहासपूर्ण भाषा द्वारा निराकरण करते हुए अकलङ्कदेव कहते हैं—बुद्धदेव अपने पूर्वभवमें एकबार मृग रह चुके हैं। वास्तवमें अनेकान्त विद्याके प्रकाशमें जीवकी मृग पर्याय और सुगत पर्याय पृथक् हैं। मृगपर्यायमें सुगत पर्यायका अभाव है और सुगत पर्यायमें मृग पर्यायका अभाव है। यदि उनका परस्पर में अभाव न माना जाए तो निम्न प्रकार उपहासपूर्ण अवस्था प्राप्त होगी।—

"सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः।
तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते ॥ ३७३ ॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ? ॥ ३७४ ॥"

—न्यायविनिश्चय

सुगत भी मृग हुए थे और मृग भी सुगत हुआ (इनमें यदि परस्पर भिन्नता न हो तो मृगके समान सुगतको भक्ष्यको मानना होगा अथवा सुगतके समान मृगको भी वन्दनीय कहना होगा) फिर भी सुगतको जिस प्रकार तुम वन्द्य और मृगको खाद्य मानते हो, उसी

प्रकार वस्तुस्वभावके बलसे भेद-अभेदकी व्यवस्था होती है। इसलिए 'दही खाओ' कहनेपर ऊँटकी ओर क्यों दौड़ा जाए ?

इस कथनका सार यह है कि, यदि दधिमें ऊँटका सद्भाव होता अर्थात् दधि अपने स्वरूपमें अस्तिरूप रहते हुए भी ऊँट आदिकी अपेक्षासे भी अस्तिरूप होता, तो दहीके समान ऊँटको खानेकी ओर प्रवृत्ति होती; किन्तु ऐसा नहीं है। इसी दृष्टिको सुगतके उदाहरण द्वारा परिहासपूर्ण शैलीसे धर्मकीर्तिको संतुष्ट किया है। आजके युगमें यह पद्धति प्रिय न लगेगी। किन्तु धर्मकीर्ति और उनकी सदृश शैली-वाले बौद्ध विद्वानोंने जिस ढंगसे अनेकान्त तत्त्वज्ञानपर क्रूर प्रहार किया है उसे दृष्टिपथमें रखते हुए तार्किक अकलङ्कका परिहास अकलङ्क ज्ञात होता है। क्या राहुलजी अकलङ्ककी आलोचनाके प्रकाशमें यह बात देखनेका प्रयत्न करेंगे कि दिग्नाग आदि कुछ प्रतिभाशाली बौद्धा-चार्योंके द्वारा सभी विषय चर्वित होनेके कारण उच्छिष्ट नहीं हैं। समन्तभद्र अकलङ्क प्रभाचन्द्र प्रभृति प्रभावक जैन तार्किकोंने समीक्षकोंको विपुल मौलिक मधुर जीवनदात्री भोज्य सामग्री प्रस्तुत की है।[1]

जिस प्रकार स्वरूप-चतुष्टय (स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव) की अपेक्षा वस्तु अस्तिरूप है और परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्ति-रूप है उसीप्रकार वस्तु उपर्युक्त अस्ति-नास्ति धर्मोंको एक साथ कथन करनेकी वाणीकी असमर्थतावश अवक्तव्य-अनिर्वचनीयरूप भी कही गई है। इस विषयमें एकान्तवादी वस्तुको सर्वथा अनिर्वचनीय शब्दके द्वारा अनिर्वचनीय कहते हुए परिहासपूर्ण अवस्थाको उत्पन्न करते हैं। इसी कारण **स्वामी समन्तभद्रने** आप्तमीमांसामें लिखा है—

१ 'दर्शन दिग्दर्शन' पुस्तकमें धर्मकीर्ति परिचयके जैन धर्मपर आक्षेपकी समीक्षा।

"अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ।"—श्लोक १३।

अवाच्यता रूप एकान्त माननेपर वस्तु अवाच्य रूप है—अनिर्वचनीय है, यह कथन सङ्गत नहीं है। तार्किकके ध्यानमें यह बात तनिकमें आ जाएगी, कि जब अनिर्वचनीय शब्दके द्वारा वस्तुका प्रतिपादन किया जाता है तब उसे सर्वथा अनिर्वचनीय कैसे कह सकते हैं।

तत्त्वको एकान्ततः अनिर्वचनीय माना जाए, तो किस प्रकार दूसरेको उसका बोध कराया जाएगा। क्या मात्र अपने ज्ञानसे वाणीकी सहायता पाए विना अन्यको ज्ञान कराया जा सकेगा? इसलिए उसे कथञ्चित् अनिर्वचनीय कहना होगा। पदार्थकी स्थूल पर्यायें शब्दोंके द्वारा कहने सुननेमें आती ही हैं। सत्त्व और असत्त्व, भाव और अभाव, विधि और प्रतिषेध तथा एक और अनेक रूप तत्त्वका एक समयमें प्रतिपादन शब्दोंकी शक्तिके परे होनेसे कथञ्चित् अनिर्वचनीय धर्मका सद्भाव स्वीकार करना पड़ता है। इन तीन अर्थात् स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्यके संयोगसे चार और दृष्टियों—भङ्गों का उदय होता है–(१) अस्ति-नास्ति, (२) अस्ति अवक्तव्य, (३) नास्ति अवक्तव्य (४) अस्ति-नास्ति अवक्तव्य। इन चार भंगोंका स्पष्टीकरण इस भाँति जानना चाहिए। अस्तित्व और नास्तित्वको क्रमपूर्वक ग्रहण करनेसे 'अस्ति-नास्ति,' अस्तित्वके साथ ही उभय धर्मोंको ग्रहण करनेवाली दृष्टि समक्ष रखनेसे 'अस्ति-अवक्तव्य' नास्तित्वके साथ अवक्तव्य दृष्टिकी योजनासे 'नास्ति-अवक्तव्य' तथा अस्ति नास्तिके साथ अवक्तव्यकी योजना द्वारा 'अस्तिनास्ति अवक्तव्य' भङ्ग बनता है। इन सात भङ्गोंको सप्तभङ्गी-न्यायके नामसे कहते हैं।

गणित-शास्त्रके 'Law of permutation and combination' नियमानुसार अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य इन तीन भङ्गोंके

चार संयुक्त-भंग बनकर सप्तभङ्ग दृष्टिका उदय होता है। नमक, मिर्च, खटाई इन तीन स्वादोंके संयोगसे चार और स्वाद उत्पन्न होंगे। नमक, मिर्च, खटाई, नमक-मिर्च, नमक-खटाई, मिर्च-खटाई, नमक, मिर्च और खटाई इस प्रकार सात स्वाद होंगे। इस सप्तभङ्गी न्यायकी परिभाषा करते हुए जैनाचार्य लिखते हैं—"**प्रश्नवशात् एकत्र वस्तुनि अविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी**" (राजवा० १।६)—प्रश्न वशसे एक वस्तुमें अविरोध रूपसे विधि-निषेध अर्थात् अस्ति नास्तिकी कल्पना सप्तभङ्गी कहलाती है।

आचार्य विद्यानन्दि अपनी अष्टसहस्री टीकामें बताते हैं कि सप्त प्रकारकी जिज्ञासा उत्पन्न होती है; क्योंकि सप्त प्रकारका संशय उत्पन्न होता है। इसका भी कारण यह है कि उसका विषयरूप वस्तु धर्म सप्त प्रकार है। सप्तविध जिज्ञासाके कारण सप्त प्रकारके प्रश्न होते हैं। अनन्त धर्मोंके सद्भाव होते हुए भी प्रत्येक धर्ममें विधि-निषेधकी अपेक्षा अनन्त सप्तभङ्गियाँ अनन्त धर्मोंकी अपेक्षा माननी होंगी।

स्वेच्छानुसार जैसी लहर आई उसके अनुसार अस्ति-नास्ति आदि भङ्ग नहीं होते अन्यथा स्याद्वाद अव्यवस्थावादकी प्रतिकृति बन जाएगा। इसीलिए सप्तभङ्गीकी व्याख्यामें 'अविरोधेन' शब्द ग्रहण किया गया है।

'स्यात्' शब्दका अर्थ कोई-कोई 'शायद' करके स्याद्वादको सन्देह-वाद समझते हैं। वास्तवमें स्यात्के साथ 'एव' शब्द इस बातको द्योतित करता है कि है कि उस विशेष दृष्टि बिंदुसे पदार्थका वही रूप है और वह निश्चित है, उस दृष्टिसे वह अन्यथा नहीं हो सकता। वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा अस्तिरूप ही है। कभी भी स्वरूपकी अपेक्षा वह नास्तिरूप नहीं कही जा सकती। काशीके प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान्

स्याद्वादमें वेदान्तियोंके अनिर्वचनीयतावादकी झलक पाते हैं। उनके शब्द हैं—"जो हो, जैन मतका "स्याद्वाद" वही वेदान्त मतका अनिर्वचनीयता वाद। शब्दोंका भेद है, अर्थका नहीं।"[1]

अनिर्वचनीयतावाद सप्तभङ्ग न्याय-प्रणालीका एक विकल्प है। वस्तुके अस्ति और नास्ति रूप धर्मोंको एक साथ कहनेकी असमर्थताके कारण उसे कथञ्चित् अनिर्वचनीय कहा है। वेदान्त दृष्टि एकान्तरूप है, वह सत्त्व, असत्त्व आदि धर्मोंके अस्तित्वको अस्वीकार करती है। स्याद्वादसे सम्बद्ध अनिर्वचनीयता वादमें अस्तित्व-नास्तित्व आदि धर्मोंकी अवस्थिति पाई जाती है। आचार्य **विद्यानन्दि** कहते हैं,—"सत्त्व अर्थात् अस्तित्व पदार्थका धर्म है, उसे अस्वीकार करनेपर वस्तुका वस्तुत्व नहीं रहेगा। वह गधेके सींगके समान अभावरूप हो जायगा। वस्तु कथञ्चित् असत् रूप है, स्वरूप आदिके समान पर-रूपसे भी वस्तुका असत्त्व यदि आपत्तिपूर्ण हो तो प्रतिनियत-प्रत्येक पदार्थका पृथक् पृथक् स्वरूप नहीं रहेगा। और तब वस्तुओंके प्रतिनियमका विरोध होगा। इसी प्रकार अन्य धर्मोंका अस्तित्व एकान्त अनिर्वचनीयवाद सिद्धान्तकी अपरमार्थताको प्रमाणित करता है[2]।

वेदान्त वादियोंको स्याद्वाद यदि अभीष्ट होता तो वेदान्त सूत्रमें 'नैकस्मिन्नसम्भवात्' सूत्र और उसके शाङ्कर भाष्यमें आक्षेप न किया जाता। **शङ्कराचार्यने** अपने शाङ्करभाष्य अध्याय २, सूत्र ३३ में जो

---

१ डॉ० भगवान्‌दास जी, जैनदर्शनका स्याद्वादांक पृ० १८०।

२ "तत्र सत्त्वं वस्तुधर्मः, तदनुपगमे वस्तुनो वस्तुत्वायोगात् खरविषाणादिवत्। तथा कथञ्चिदसत्त्वं, स्वरूपादिभिरिव पररूपादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वानिष्टौ प्रतिनियतस्वरूपाभावाद्वस्तुप्रतिनियमविरोधात्"—अष्टसहस्रीविवरण पृ० १८३।

स्याद्वादके विरुद्ध लिखा है उसकी आलोचना करनेके पूर्व यह लिख देना उपयुक्त प्रतीत होता है कि वर्तमान युगके प्रकाण्ड दार्शनिक किन्हीं किन्हीं जैनेतर विद्वानोंने शंकराचार्यकी आलोचनाको सदोष और अज्ञानपूर्ण लिखा है। संस्कृतके प्रकाण्ड पण्डित डॉ० **महामहोपाध्याय गंगानाथझा** वाइसचांसलर प्रयागविश्वविद्यालयने लिखा था—"जबसे मैंने शंकराचार्य द्वारा जैनसिद्धान्तका खण्डन पढ़ा है, तबसे मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धान्तमें बहुत कुछ है, जिसे वेदान्तके आचार्योंने नहीं समझा। और जो कुछ मैं अबतक जैनधर्मको जान सका हूं उससे मेरा यह दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे (शङ्कराचार्य) जैनधर्मको उसके असली ग्रन्थोंसे देखनेका कष्ट उठाते तो उन्हें जैनधर्मके विरोध करनेकी कोई बात नहीं मिलती।"

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालयके दर्शनशास्त्रके अध्यक्ष **प्रो० फणिभूषण अधिकारी** स्याद्वादपर शङ्कराचार्यके आक्षेपके विषयमें कितने मार्मिक उद्गार व्यक्त करते हैं। वे लिखते हैं[1]—"विद्वान् शङ्कराचार्यने इस सिद्धान्तके प्रति अन्याय किया है। यह बात अल्प योग्यतावाले पुरुषोंमें क्षम्य हो सकती थी; किन्तु यदि मुझे कहनेका अधिकार है तो मैं भारतके इस महान् विद्वान्में सर्वथा अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षिको अतीव आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्मके (जिसके लिए अनादरसे विवसन-समय अर्थात् नग्न लोगोंका सिद्धान्त ऐसा नाम वे रखते हैं) दर्शन-शास्त्रके मूलग्रंथोंके अध्ययनकी परवाह न की।" अस्तु।

शङ्कराचार्य एक पदार्थमें सप्तधर्मोंके सद्भावको असम्भव मानते हुए लिखते हैं—"एक धर्मीमें युगपत् सत्त्व-असत्त्व आदि विरूद्ध धर्मोंका

१ जै० द०, स्याद्वादांक, पृ०१८२।

समावेश शीत और उष्णपनेके समान सम्भव नहीं है। जो सप्त पदार्थ निर्धारित किये गये हैं वे इसी रूप हैं, वे इसी रूप में रहेंगे अथवा इस रूप नहीं रहेंगे अन्यथा इस रूप भी होंगे, अन्य रूप भी होंगे इस प्रकार अनिश्चित स्वरूपज्ञान संशयज्ञानके समान अप्रमाण होगा।"[१] अपनी अनोखी दृष्टिसे इस प्रकार वे संशय और विरोध नामके दोषोंका उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य प्रतिवादी वैयधिकरण्य दोषको बताते हैं, कारण भेदका आधार दूसरा है और अभेदका दूसरा। अनवस्था दोष इसलिए मानते हैं कि जिस स्वरूपकी अपेक्षा भेद होता है और जिसकी अपेक्षा अभेद है वे भिन्न हैं या अभिन्न? और उनमें भी इसी प्रकार भिन्न-अभिन्नकी कल्पना उत्पन्न होगी। जिस रूपसे भेद है उसी रूपसे भेद भी है और अभेद भी है इस प्रकार सङ्करदोष बताया जाता है। जिस अपेक्षासे भेद है उसी अपेक्षासे अभेद और जिस अपेक्षासे अभेद है उसी अपेक्षासे भेद है इस प्रकार व्यतिकर दोष होता है। वस्तुमें भेद और अभेदका वर्णन करनेसे यह निश्चय नहीं होता कि यथार्थमें उसका क्या रूप है इसलिए 'संशय' दोष दिखता है। संशय होने पर सम्यक् परिज्ञान नहीं होगा, अतः उसका अभाव होगा। इस प्रकार अभाव दोष भी होता है। इस प्रकार प्रतिवादियोंने अनेकान्त सिद्धान्तपर उपर्युक्त दोषोंको अपनी दृष्टिसे लादनेका प्रयास किया है।

उनका निराकरण करते हुए प्रतिभाशाली जैन तार्किक सत्य-धर्मकी प्रतिष्ठा इस प्रकार स्थापित करते हैं कि—वस्तुमें भेद और अभेदरूप धर्मों

---

१ "न ह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत्सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः सम्भवति शीतोष्णवत्। य एते सप्तपदार्थाः निर्धारिता एतावन्त एवं रूपाश्चेति ते तथैव वा स्युर्नैव वा तथा स्युः, इतरथा हि तथा वा स्युरतथा वेत्यनिर्धारितरूपज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणमेव स्यात्।"—वेदान्तसूत्र, शांकरभाष्य २।२।३३।

की प्रत्यक्षमें उपलब्धि होती है, तब इसमें दोषकी क्या बात है? जब एक ही दृष्टिसे सत्त्व-असत्त्व, भेद-अभेद कहा जाय, तब विरोधकी आपत्ति उचित कही जा सकती है। भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे एक ही वस्तुको हम ठंडा और गरम भी कह सकते हैं। एक आदमी अपने एक हाथको बहुत गर्म पानीमें डाले और दूसरेको हिमसदृश शीतलजलमें रखे, पश्चात् दोनों हाथोंको कुन-कुने पानीमें डाले, तो शीतल जलवाला हाथ उस जलको अधिक उष्ण बताएगा और अधिक उष्णजलवाला हाथ उस जलको शीतल सूचित करेगा। इस प्रकार भिन्न-भिन्न हाथोंकी दृष्टिसे जल एक ही समय शीत और उष्ण रूपसे अनुभवगोचर होता है। यह बात जब प्रत्यक्ष अनुभवमें आती है, तब विरोध और असम्भव दोष नहीं रहते। सत् और असत् धर्म एक ही पदार्थमें पाये जाते हैं इसलिए वैयधिकरण्य दोष नहीं रहता। स्वरूपकी अपेक्षा वस्तुको सत् और पर-रूपकी अपेक्षा असत् स्वीकार किया है। इसमें भी सहकारियोंके भेदसे शक्तिके अनन्त भेद हो जाते हैं। अनन्त धर्मात्मक वस्तु होनेसे वह यथार्थ है, अतः अनवस्था दूषण धराशायी हो जाता है। सत्त्व और असत्त्व अथवा भेद-अभेद दृष्टियोंको भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे कहते हैं। पिताकी अपेक्षा पुत्र है, भाई आदिकी अपेक्षा पुत्र नहीं है। इस प्रकार एक व्यक्तिमें पुत्रपनेका सद्भाव और असद्भाव दोनों पाये जाते हैं। इस प्रत्यक्ष अनुभवके प्रकाशमें सङ्कर और व्यतिकर दोष भी नहीं रहते। वस्तुका स्वरूप स्वरूप-चतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिरूप ही है और अन्य चतुष्टयकी अपेक्षा असत् रूप ही है, ऐसी निश्चित ज्ञानकी अवस्थामें संशयदोष भी नहीं रहता। अनेक धर्ममय वस्तु-स्वरूपकी उपलब्धि होनेसे अभावदोषका अभाव हो जाता है। शङ्कराचार्यने सुदृढ़ तर्कपर अवस्थित स्याद्वादके प्रासादपर आक्रमण न कर अपनी मनोनीत

कल्पना-मय कुटीरको स्याद्वादका नाम दे तर्कास्त्रोंसे ध्वस्त करनेका प्रयत्न किया है। इसीलिए स्याद्वाद विद्वेषियोंकी भ्रान्त बुद्धिका परिचय कराते हुए स्याद्वादका मनोज्ञ सुदृढ़ प्रासाद अनेकान्त पताकाको फहराता हुआ सत्यान्वेषियोंको अपनी ओर आकर्षित करता है।

शङ्करके दुर्बल युक्तिवादको अकाट्य समझ अध्यापक **श्री बलदेवजी उपाध्यायने** अपने भारतीयदर्शनमें स्याद्वादको 'आपाततः उपादेय और मनोरञ्जक' कहते हुए लिखा है कि—"वह व्यवहार और परमार्थके बीचों-बीच तत्त्वविचारका कतिपय क्षणके लिए विश्रम्भ तथा विराम देने वाले विश्रामगृहसे बढ़कर अधिक महत्त्वका नहीं है।" हमारे साहित्याचार्यजीने दार्शनिक शङ्करके सहारे पूर्वोक्त बातें कहीं किन्तु, जब तर्क और अनुभवने शङ्करकी युक्तियोंको प्राण-हीन प्रमाणित किया और स्वयं अधिकार-पूर्ण समर्थ वैदिक विद्वानोंने इसे स्वीकार किया, तब बलदेवजीके प्रतिवादकी आवश्यकता नहीं रहती। ऐसी मूल तत्त्वका स्पर्श न करनेवाली आलोचना सत्य दृष्टिवालोंके समक्ष अन्धेन नीयमान अन्धकी तरह मालूम होती है।

शङ्कराचार्य द्वारा स्याद्वादकी चिन्तनापर विशेषज्ञोंकी कड़ी आलोचना देख **डॉ० एस० के० बेलवलकर** एक मनोहर कल्पना द्वारा शंकरका समर्थन और ममत्व प्रकट करनेका विचित्र प्रयास करते हैं। डॉक्टर महाशयकी दलील है कि शंकराचार्यने अपनी व्याख्यामें पुरातन जैन दृष्टिका प्रतिपादन किया है और इसलिए उनका प्रतिपादन जान-बूझकर मिथ्या प्ररूपण नहीं कहा जा सकता। जैनधर्मका जैनेतर साहित्यमें सबसे प्राचीन उल्लेख बादरायणके वेदान्त सूत्रमें मिलता है, जिसपर शंकराचार्यकी टीका है। हमें इस बातको स्वीकार करनेमें कोई कारण नजर नहीं आता कि जैनधर्मकी पुरातन बातको यह द्योतित करता है। यह बात

जैनधर्मकी सबसे दुर्बल और सदोष रही है। हाँ, आगामी कालमें स्याद्वादका दूसरा रूप हो गया, जो हमारे आलोचकोंके समक्ष है और अब उसपर विशेष विचार करनेकी किसीको आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।[१]"

स्याद्वादकी डा० वेलवलकरकी दृष्टिसे शङ्कराचार्यके समयतककी प्रतिपादना और आधुनिक रूपरेखामें अन्तर प्रतीत होता है। अच्छा होता कि पूनाके डाक्टर महाशय किसी जैन शास्त्रके आधारपर अपनी कल्पनाको सजीव प्रमाणित करते। जैनधर्मके प्राचीनसे प्राचीन शास्त्रमें स्याद्वादके सप्त भङ्गोंका उल्लेख आया है; अतः डाक्टर साहब अपनी

१ "Sankaracharya was a Bhasyakara and the account he has given of Jainism represents merely an expanded form of the view of Jainism, which is as old as Badarayana, the author of Vedanta Sutras. The sutra "नैकस्मिन्नसम्भवात्" (2–2–33) has been interpreted by all the Bhasyakaras in the same manner and its very wording suggests that the view here taken of Jainism is an ancient view, which cannot entirely have been a deliberate misrepresentation...In any case that is the oldest account of Jainism in non–Jain texts that is to us available and (the theory of a wilful and malicious misrepresentation apart) there is no reason why we should not regard it as not untruly representing a tendency in Jainism, which was its weakest and the most vulnerable spot. In its later presentation of course Syadvada becomes all that my critics claim for it, nay more it becomes almost a platitude which nobody would care to seriously call in question."

Dr. S. K. Belvalker, M. A., Ph. D.—Article on The Under Current of Jainism in Jain Sahitya Samshodhak, 1920, vol. 1, p. 2–3.

तर्कणाके द्वारा शङ्कर और उनके समान आक्षेप कर्त्ताओंको विचारकोंके समक्ष निर्दोष प्रमाणित नहीं कर सकते। यह देखकर आश्चर्य होता है कि कभी कभी विख्यात विद्वान भी व्यक्ति-मोहको प्राधान्य दे सुदृढ़ सत्यको भी फूँकसे उड़ानेका विनोदपूर्ण प्रयत्न करते हैं। जब तक जैन-परम्परामें स्याद्वादकी भिन्न २ प्रतिपादना वेलवलकर महाशय स-माण नहीं बता सकते और जब है ही नहीं तब बता भी कैसे सकेंगे—तब तक उनका उद्गार साम्प्रदायिक संकीर्णताके समर्थनका सुन्दर संस्करण सुज्ञोंके द्वारा समझा जायगा।

स्याद्वाद जैसे सरल और सुस्पष्ट हृदयग्राही तत्त्व-ज्ञानपर सम्प्रदाय-मोहवश भ्रम उत्पन्न करनेमें किन्हीं-किन्हीं लेखकोंने जैनशास्त्रोंका स्पर्श किये बिना ही केवल विरोध करनेकी दृष्टिसे ही यथेष्ट लिखनेका प्रयास किया है। उन्होंने तनिक भी न सोचा कि सत्य-सूर्यकी किरणोंके समक्ष भ्रमान्धकार कबतक टिकेगा। ऐसे भ्रम-जनक दो-एक लेखकोंकी बातोंपर हम प्रकाश डालेंगे। अन्यथा स्याद्वाद-शासनपर ही समग्र-ग्रन्थ पूर्ण हो जायगा। श्री बलदेवजी उपाध्याय 'स्याद्वाद' शब्दके मूलरूप 'स्यात्' शब्दके विषयमें लिखते हैं—"स्यात्—(शायद, सम्भव) शब्द 'अस्' धातुके विधिलिङ्के रूपका तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय माना जाता है।" परन्तु स्यात् शब्दके विषयमें स्वामी समन्तभद्रका निम्नलिखित कथन ध्यान देने योग्य है—

"वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यम्प्रति विशेषकः।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि॥"

—आप्तमीमांसा, १०३

यहाँ स्यात् शब्दको अनेकान्तको द्योतित करनेवाला बताया है, वह निपातरूप शब्द है।

पञ्चास्तिकायकी टीकामें अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं—

"सर्वथात्व-निषेधकोऽनेकान्तता-द्योतकः कथञ्चिदर्थे स्याच्छब्दो निपातः"—स्यात् शब्द निपात है, वह सर्वथापनेका निषेधक, अनेकान्तपनेका द्योतक, कथञ्चित् अर्थवाला होता है। एक शब्दके अनेक अर्थ होते हैं। सैंधवका नमकरूप अर्थके साथ घोड़ा भी अर्थ होता है। प्रकरणके अनुसार वक्ताकी दृष्टिको ध्यानमें रख उचित अर्थ किया जाता है। इसी प्रकार स्यात् शब्दका प्रस्तुत प्रकरणमें अनेकान्त द्योतकरूप अर्थ मानना उचित है। अष्टसहस्रीकी टिप्पणी (पृ० २८६) की निम्न पंक्तियाँ भी इस विषयमें ध्यान देने योग्य हैं—

"विध्यादिष्वर्थेष्वपि लिङ्लकारस्य स्यादिति क्रियारूपं पदं सिद्ध्यति, परन्तु नायं स शब्दः, निपात इति विशेष्योक्तत्वात्।"

स्याद्वाद विद्याको महत्त्वपूर्ण मान आजका शोधक संसार जब उसे जैनधर्मकी संसारको अपूर्व देन समझने लगा, तब स्याद्वाद सिद्धान्तपर एक नवीन प्रकारका मधुर आरोप प्रारम्भ हुआ है। अतः स्यात् शब्दका अर्थ शायद नहीं है किन्तु एक सुनिश्चित दृष्टिकोण है।

बौद्ध-भिक्षु श्रीराहुलजीने अपने दर्शन-दिग्दर्शनमें अन्य कतिपय लेखकोंका अनुकरण करते हुए सामञ्ञफलसुत्त नामक अपने सम्प्रदायके शास्त्राधारपर संजयवेलट्ठिपुत्तके मुखसे जो कहलाया है कि—"अत्थिति पि नो, नत्थिति पि नो, अत्थि च नत्थि च ति पि नो, नैवत्थि ना नत्थि ति पि नो।"—मैं उसे इस रूपमें नहीं मानता, मैं उसे अन्य रूप भी नहीं कहता, मैं इस रूप तथा अन्य रूप भी नहीं कहता, मैं यह भी नहीं कहता कि वह इस रूप और अन्य रूप नहीं है।—इसमें स्याद्वादके बीज उन्हें विदित होते हैं। प्रो० ध्रुवजीने भी इस विषयमें सङ्केत किया है, किन्तु उनके लेखमें राहुलजीकी भाषाका अनुकरण न कर सौजन्य

और शालीनताका पूर्णतया निर्वाह किया गया है। उपर्युक्त अवतरणमें स्याद्वादके बीज मानना काँचकी आँखको वास्तविक आँख माननेके समान होगा। स्याद्वादकी सुदृढ़ और सत्यकी नींवपर प्रतिष्ठित तर्कसंगत शैली और पूर्वोक्त अवतरणकी शिथिल तर्कविरुद्ध विचारधाराओंमें सजीव और निर्जीव सदृश अन्तर है। सञ्जयवेलट्ठिपुत्तका वर्णन एकान्त अनिर्वचनीयवादकी ओर झुकता है, जो कि अनुभव और तर्कसे बाधित है। आचार्य विद्यानन्दि इस प्रकारकी दृष्टिपर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि—वस्तुको सद्भावरूप तथा असद्भावरूप भी न कहनेपर जगत्में मूकत्वकी परिस्थिति आ जाएगी।[1] स्याद्वाद ऐसे मूकत्वका निराकरणकर सयुक्तिक अविरोधी सम्भाषण-शीलताका मार्ग खोलता है। एकान्त पक्ष अङ्गीकार करनेसे लोक व्यवहार तथा यथार्थ दार्शनिक चिन्तनाके लिए स्थान ही नहीं रहता।

सामञ्ञफलसुत्तके वाक्य मूलमें 'श्रमणों और ब्राह्मणोंके द्वारा' कहे गये हैं। इन शब्दोंके आधारपर ध्रुव महाशय स्याद्वादके विकृतरूपको जैनेतर स्रोतसे सम्बन्धित कहते हैं। किन्तु डा० ए० एन० उपाध्ये अपनी प्रवचनसारकी भूमिकामें यह तर्क करते हैं—"मूलमें आगत 'Recluses and Brahmins' में श्रमणके द्योतक 'Recluses' को विशेष ध्यानमें लाना चाहिए। श्रमण शब्द मुख्यतया जैनियोंको द्योतित करता है।[2]

१ "तह्यस्तीति न भणामि, नास्तीति च न भणामि, यदपि च भणामि तदपि न भणामीति दर्शनमस्तु इति कश्चित्, ...। सद्भावेतराभ्यामनभिलाप्ये वस्तुनः केवलं मूकत्वं जगतः स्यात्, विधिप्रतिषेधव्यवहारायोगात्।"—अष्टसहस्री, १२९।

२ "This deduction is based on the supposition that Syadvada had non-Jain beginnings as proposed by himself on account of its being attributed to 'Recluses and Brahmins.' The deduction is fallacious, because as shown about the term 'recluse', a Sramana, pre-eminently means a Jain." Pravachanasara's introduction p. LXXXVIII.

सूक्ष्म-दार्शनिक चिन्तना तो इस विचारको पुष्ट करती है कि जिसने सर्वाङ्गीण सत्य-तत्त्वका दर्शन किया है, वही स्याद्वाद विद्याका प्रवर्तक हो सकता है। एकान्त अपूर्ण दृष्टि सत्यको विकृत करनेके सिवा क्या कर सकती है ? अन्धमण्डलने हाथीको स्तम्भ, सूप आदिके आकारका बता लड़ना प्रारम्भ किया था। परिपूर्ण हाथीका दर्शन करनेवाले व्यक्तिने ही अन्धमण्डलीके विवाद और भ्रमका रहस्य समझ समाधानकारी मार्ग बताया था कि प्रत्येकका कथन पूर्ण सत्य नहीं है. उसमें सत्यका अंश है और वह कथन सत्यांश तभीतक माना जा सकता है, जब तक कि वह अन्य सत्यांशोंके प्रति अन्याय प्रवृत्तिका त्याग करता है। इसी प्रकार सकलज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थङ्करोंके सिवाय समन्तभद्र-स्याद्वाद-तत्त्व-ज्ञानका निरूपण एकान्त दृष्टिवाले नहीं कर सकते। एकान्त सदोष दृष्टिमें स्याद्वादके बीज मानना अज्ञतामें विज्ञताका बीज मानने सदृश होगा। वृक्षको देखकर बीजका बोध होता है। सुस्वादु पवित्र आनन्द और शान्तिप्रद स्याद्वाद वृक्षके बीज कटु, घृणित, एकान्तवादमें कैसे हो सकते हैं ?

अब हम कुछ एकान्त दार्शनिक मान्यताओंका वर्णन करना उचित समझते हैं जिन्हें स्याद्वादरूपी रसायनके संयोग बिना जीवन नहीं मिल सकता।

बौद्ध-दर्शन जगतके सम्पूर्ण पदार्थोंको क्षण-क्षणमें विनाशी बता नित्यत्वको भ्रम मानता है। बौद्ध तार्किक कहा करते हैं—'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्'। बौद्धदृष्टिको हम जगतमें चरितार्थ देखते हैं। ऐसा कौनसा पदार्थ है जो परिवर्तनके प्रहारसे बचा हो। लेकिन, एकान्त रूपसे क्षणिक तत्त्व माना जाय तो संसारमें बड़ी विचित्र स्थिति उत्पन्न होगी। व्यवस्था, नैतिक उत्तरदायित्व आदिका अभाव हो जायगा।

स्वामी समन्तभद्र कहते हैं—प्रत्येक क्षणमें यदि पदार्थका निरन्वय नाश स्वीकार करोगे, तो हिंसाका सङ्कल्प करनेवाला नष्ट हो जायगा और एक ऐसा नवीन प्राणी हिंसा करेगा जिसने हिंसाका सङ्कल्प नहीं किया। हिंसा करनेवाला भी नष्ट हो जायगा इसलिए बन्धनबद्ध कोई अन्य होगा। दण्डप्राप्त भी नष्ट हो जायगा इसलिए बन्धन-मुक्ति किसी अन्यकी होगी। इस प्रकारकी अव्यवस्था बौद्धोंके एकान्त क्षणिक सिद्धान्त द्वारा होगी। समन्तभद्र स्वामीका महत्त्वपूर्ण पद्य यह है—

"न हिनस्त्यभिसन्धातृ हिनस्त्यनभिसन्धिमत्।
बध्यते तद्‌द्वयापेतं चित्तं बद्धं न मुच्यते॥ ५१॥"

वे यह भी लिखते हैं कि—

"क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसम्भवः।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम्॥ ४१॥"

—आप्तमीमांसा

क्षणिक रूप एकान्त पक्षमें प्रत्यभिज्ञान, स्मृति, इच्छा आदिका अभाव होगा? जिस प्रकार किसी दूसरेके अनुभवमें आई हुई वस्तुका हमें स्मरण नहीं होता, उसी प्रकार किसी भी व्यक्तिको स्मरण नहीं होगा, क्योंकि अनुभव करनेवाला जीव नष्ट हो गया और स्मरण करनेवाला एक नवीन उत्पन्न हुआ। प्रत्यभिज्ञान आदिके अभाव होनेके कारण कार्यका आरम्भ नहीं होगा, इसलिए पाप-पुण्य लक्षण स्वरूप फल भी नहीं होगा। इसके अभावमें न बन्ध होगा न मोक्ष।

क्षणिक पक्षमें कारणसे कार्यकी उत्पत्तिके विषयमें भी अव्यवस्था होगी। बौद्धदर्शनकी मान्यताके अनुसार कारण सर्वथा नष्ट हो जायगा और कार्य बिल्कुल नवीन होगा। इसलिए उपादान नियमकी

व्यवस्था नहीं होगी। सूतके बिना भी सूती वस्त्रकी उत्पत्ति होगी। सूतरूपी उपादान कारणका कार्यरूप वस्त्र परिणमन बौद्ध स्वीकार नहीं करता। असत् कार्यवाद स्वीकार करनेपर आकाश-पुष्पकी तरह पदार्थ-की उत्पत्ति नहीं होगी। ऐसी स्थितिमें उपादान नियमके अभाव होने-पर कार्यकी उत्पत्तिमें कैसे सन्तोष होगा? असत्‌रूप कार्यकी उत्पत्ति मानने पर तन्तुओंसे वस्त्र उत्पन्न होता है और लकड़ीसे नहीं होता, यह नियम नहीं पाया जायगा।[1]

युक्त्यनुशासनमें **स्वामी समन्तभद्रने** कहा है—एकान्त रूपसे क्षणिक-तत्त्व माननेपर पुत्रकी उत्पत्ति क्षणमें माताका स्वयं नाश हो जायगा, दूसरे क्षणमें पुत्रका प्रलय होनेसे अपुत्रकी उत्पत्ति होगी। लोक-व्यवहारसे दूरतर माताके विनाशके लिए प्रवृत्ति करनेवाला मातृघाती नहीं कहलाएगा। कुलीन महिलाका कोई पति नहीं कहलाएगा, कारण जिसके साथ विवाह-संस्कार होगा उस पतिका विनाश होनेसे नवीनकी उत्पत्ति होगी। जिस स्त्रीके साथ विवाह हुआ दूसरे क्षण उसका भी विनाश होनेसे अन्यकी उत्पत्ति होगी। इस प्रकार परस्त्री-सेवनका उस व्यक्तिको प्रसङ्ग आएगा। इसी नियमके अनुसार स्व-स्त्री भी नहीं होगी। धनी पुरुष किसी व्यक्तिको ऋणमें धन देते हुए भी उस सम्पत्तिको बौद्धतत्त्वज्ञानके अनुसार नहीं पा सकेगा, क्योंकि ऋण देनेके दूसरेही क्षण साहूकारका नाश हुआ, लिखित साक्षी आदि भी नहीं रही और न उधार लेनेवाला बचा। शास्त्राभ्यास भी विफल हो जाएगा; कारण स्मृतिका सद्भाव

---

१ "यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खपुष्पवत्।
मोपादाननियामो भून्माऽऽश्वासः कार्यजन्मनि ॥ ४२ ॥"

—आप्तमीमांसा

क्षणिक तत्त्वज्ञानमें नहीं रहेगा; आदि दोष क्षणिकैकान्तकी स्थिति संकटपूर्ण बनाते हैं।[1]

एक आख्यायिका क्षणिकैकांत पक्षकी अव्यावहारिकताको स्पष्ट करती है। एक ग्वाला क्षणिक तत्त्वके एकांत भक्त पंडितजीके पास गाय चरानेका पैसा माँगने प्रथम बार पहुँचा। अपने क्षणिक विज्ञानकी धुनमें मग्न हो पंडितजीने ग्वालेको यह कहकर वापिस लौटा दिया कि जिसकी गाय थी और जो ले गया था, वे दोनों अब नहीं हैं, बदल गये। इसलिए कौन और किसे पैसा दे! दुखी हो, ग्वाला किसी स्याद्वादीके पास पहुँचा और उसके सुझावानुसार जब दूसरे दिन पंडितजीके यहाँ गाय न पहुँची, तब वे ग्वालेके पास पहुँच गायके विषयमें पूछने लगे। अनेकांत विद्यावाले बंधुने उसे मार्ग बता ही दिया था, इसलिए उसने कहा—"महाराज गाय देने वाला, लेने वाला तथा गाय, सभी तो बदल गये, इसलिए आप मुझसे क्या माँगते हैं? पंडितजी चक्करमें पड़ गये। व्यावहारिक जीवनने भ्रमांधकार दूर कर दिया, इसलिए उन्होंने कहा—"गाय सर्वथा नहीं बदली है, परिवर्तन होते हुए भी उसमें अविनाशीपना भी है" इस तरह ग्वालेका वेतन देकर उनका विरोध दूर हो गया। इससे स्पष्ट होता है कि एकांत पक्षके आधारपर लौकिक जीवनयात्रा नहीं बन सकती।

कोई बौद्धदर्शनकी मान्यताके विपरीत वस्तुको एकांत रूपसे नित्य मानते हैं। इस संबंधमें समन्तभद्राचार्य 'युक्त्यनुशासन'में लिखते हैं-

---

१ "प्रति क्षणं भङ्गिषु तत्पृथक्त्वान्न मातृघाती स्वपतिः स्वजाया।
दत्तग्रहो नाधिगतस्मृतिर्न न क्त्वार्थ सत्यं न कुलं न जातिः॥ १६॥"
—युक्त्यनुशासन पृ० ४२।

"भावेषु नित्येषु विकारहानेर्न कारकव्यापृतकार्ययुक्तिः ।
न बन्धभोगौ न च तद्विमोक्षः समन्तदोषं मतमन्यदीयम् ॥ ८ ॥"

पदार्थोंके नित्य माननेपर विक्रिया—परिवर्तनका अभाव होगा और परिवर्तन न होनेपर कारणोंका प्रयोग करना अप्रयोजनीय ठहरेगा। इसलिए कार्य भी नहीं होगा। बंध, भोग तथा मोक्षका भी अभाव होगा। इस प्रकार सर्वथा नित्यतत्त्व माननेवालोंका पक्ष समंतदोष-दोषपूर्ण होता है। एकांत नित्य सिद्धांत माननेपर अर्थक्रिया नहीं पायी जायगी। पुण्य-पापरूप क्रियाका भी अभाव होगा। आप्तमीमांसामें कहा है—

"पुण्य-पाप क्रिया न स्यात् प्रेत्यभावः फलं कुतः ।
बन्धमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायकः ॥ ५० ॥"

वस्तु स्वरूपकी दृष्टिसे विचार किया जाय, तो उसमें क्षणिकत्वके साथ नित्यत्व धर्म भी पाया जाता है। इस संबंधमें दोनों दृष्टियोंका समन्वय करते हुए स्वामी समन्तभद्र लिखते हैं :—

"नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा ।
क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः ॥ ५६ ॥"—आप्तमीमांसा।

वस्तु नित्य है, कारण उसके विषयमें प्रत्यभिज्ञानका उदय होता है। दर्शन और स्मरण ज्ञानका संकलन रूप ज्ञान-विशेष प्रत्यभिज्ञान कहलाता है; जैसे वृक्षको देखकर कुछ समयके अनन्तर यह कथन करना कि यह वही वृक्ष है जिसे हमने पहिले देखा था। यदि वस्तु नित्य न मानी जाय, तो वर्तमानमें वृक्षको देखकर पहले देखे गये वृक्षसंबंधी ज्ञानके साथ संमिश्रित ज्ञान नहीं पाया जायगा।

यह प्रत्यभिज्ञान अकारण नहीं होता; उसका अविच्छेद पाया जाता है। दूसरी दृष्टिसे (अवस्थाकी दृष्टिसे) तत्त्वको क्षणिक मानना होगा, कारण वही प्रत्यभिज्ञान नामक ज्ञानका पाया जाना है। क्षणिक तत्त्वको माने

बिना वह ज्ञान नहीं बन सकता। कारण इसमें कालका भेद पाया जाता है। पूर्व और उत्तर पर्यायमें प्रवृत्तिका कारण कालभेद अस्वीकार करनेपर बुद्धिमें दर्शन और स्मरणकी संकलनरूपताका अभाव होगा। प्रत्यभिज्ञानमें पूर्व और उत्तर पर्याय बुद्धिका संचरण कारण पड़ता है।

सुवर्णकी दृष्टिसे कुंडलका कंकणरूपमें परिवर्तन होते हुए भी कोई अन्तर नहीं है। इसलिए स्वर्णकी अपेक्षा उक्त परिवर्तन होते हुए भी उसे नित्य मानना होगा। पर्याय (modification) की दृष्टिसे उसे अनित्य कहना होगा, क्योंकि कुंडल पर्यायका क्षय होकर कंकण अवस्था उत्पन्न हुई है। इसी तत्त्वको समझाते हुए 'आप्तमीमांसा'में स्वर्णके घटनाश और मुकुटनिर्माणरूप पर्यायोंकी अपेक्षा अनित्य मानते हुए स्वर्णकी दृष्टिसे उसी पदार्थको नित्य भी सिद्ध किया है। आप्तमीमांसाकारके शब्द इस प्रकार हैं :—

"घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥ ५९ ॥"

अद्वैत तत्त्वका समर्थक 'एकं ब्रह्म, द्वितीयं नास्ति' कथन द्वारा द्वैत तत्त्वका निषेध करता है। इस विषयपर विचार किया जाय तो इस पक्षकी दुर्बलताको जगत्का अनुभव स्पष्ट करता है। यदि सर्वत्र एक ब्रह्म ही का साम्राज्य हो, तब जब एकका जन्म हो, उसी समय अन्यका मरण नहीं होना चाहिए। एकके दुःखी होनेपर उसी समय दूसरेको सुखी नहीं होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। जब किसी का जन्म है उसी समय अन्यका मरण आदि होता है।

"यदैवेकोऽश्नुते जन्म जरां मृत्युं सुखादि वा।
तदैवान्योन्यदित्यंग्या भिन्नाः प्रत्यङ्गभङ्गिनः ॥"

—अनगारधर्मामृत पृ० १०६।

किन्हीं वेदान्तियोंका कथन है जैसे एक बिजलीका प्रवाह सर्वत्र विद्यमान रहता है, फिर भी जहाँ बटन दबाया जाता है, वहाँ प्रकाश हो जाता है, सर्वत्र नहीं। इसी प्रकार एक व्यापक ब्रह्मके होते हुए भी किसीका जन्म किसीका बुढ़ापा, किसीका मरण आदि होना न्याया-विरुद्ध है।

इस समाधानपर सूक्ष्म विचार किया जाय, तो इसकी सदोषता स्पष्ट हो जाती है। बिजलीका अविच्छिन्न प्रवाह देखकर भ्रमसे विद्युत्को सर्वत्र एक समझते हैं, यथार्थमें विद्युत् एक नहीं है। जैसे पानीके नलमें प्रवाहित होनेवाला जल बिन्दुपुंज रूप है। एक-एक बिन्दु पृथक्-पृथक् है। समुदायरूप पर्याय होनेके कारण वह एक माना जाता है। यही न्याय बिजलीके विषयमें जानना चाहिए। जलते हुए बिजलीके और बुझे हुए बल्बकी विद्युतमें प्रवाहकी दृष्टिसे एकत्व होते हुए भी सूक्ष्म दृष्टिसे अंतर है। भ्रमवश सदृशको एक माना जाता है। नाईके द्वारा पुनः-पुनः बनाये जानेवाले बालोंमें पृथक्ता होते हुए भी एकत्वकी भ्रांति होती है। इसी प्रकार ब्रह्माद्वैतवादीको एकत्वकी भ्रांति होती है।

अद्वैततत्त्वके समर्थनमें कहा जाता है 'मायाके कारण भेद प्रतीति अपरमार्थरूपमें हुआ करती है।' यह ठीक नहीं है ; कारण भेदको उत्पन्न करनेवाली माया यदि वास्तविक है तो माया और ब्रह्मका द्वैत उत्पन्न होता है। यदि माया अवास्तविक है, तो खरविषाणके समान वह भेद-बुद्धिको कैसे उत्पन्न कर सकेगी ?

अद्वैतके समर्थनमें यदि कोई युक्ति दी जाती है, तो हेतु तथा साध्य रूप द्वैत आ जायगा। कदाचित् हेतुके बिना वचनमात्रसे अद्वैत प्ररूपण ठीक माना जाय, तो उसी न्यायसे द्वैत तत्त्व भी सिद्ध होगा। इसीलिए स्वामी समन्तभद्रने लिखा है—

"हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेत् द्वैतं स्यात् हेतुसाध्ययोः ।
हेतुना चेद्विना सिद्धिः, द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥ २६ ॥"

—आप्तमी०

अद्वैत शब्द जब द्वैतका निषेधपरक है तो वह स्वयं द्वैतके सद्भावको सूचित करता है। निषेध किये जानेवाले पदार्थके अभावमें निषेध नहीं किया जाता। अतः अद्वैत शब्दकी दृष्टिसे द्वैत तत्त्वका सद्भाव असिद्ध नहीं होता[1]।

"अद्वैतं न विना द्वैतात्, अहेतुरिव हेतुना।
संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यात् ऋते क्वचित् ॥ २७ ॥"

—आप्तमीमांसा

एक मार्मिक शंकाकार कहता है 'यदि वास्तविक द्वैतको स्वीकार किये बिना अद्वैत शब्द नहीं बन सकता, तो वास्तविक एकांतके अभावमें उसका निषेधक अनेकांत शब्द भी नहीं हो सकता' ?

इसके समाधानमें आचार्य विद्यानन्दि कहते हैं कि हम सम्यक् एकांतके सद्भावको स्वीकार करते हैं, वह वस्तुगत अन्यधर्मोंका लोप नहीं करता। मिथ्या एकांत अन्य धर्मोंका लोप करता है। अतः सम्यक् एकांतरूप तत्त्व इस चर्चामें बाधक नहीं है।

एक दार्शनिक कहता है, 'अवस्तुका भी निषेध देखा जाता है; गधेके सींगका अभाव है, ऐसे कथनमें क्या बाधा है ? इसी प्रकार

---

१ "अद्वैतशब्दः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षो नञ्पूर्वाखण्डपदत्वात् अहेत्वभिधानवत् ।"—अष्टसहस्री पृ० १६१—अद्वैत शब्द अपने वाच्यके विरोधी परमार्थरूप द्वैतकी अपेक्षा धारण करता है, कारण अद्वैत यह अखण्ड तथा नञ्पूर्व अर्थात् निषेधपूर्व पद है। जैसे अहेतु शब्द है।

अपरमार्थरूप द्वैतका भी अद्वैत शब्दद्वारा निषेध माननेमें क्या बाधा है ?'

द्वैत शब्द अखंड (Simple) है और खरविषाण संयुक्तपद (Compound) है। अतः यह द्वैतके समान नहीं है। खरविषाण नामकी कोई वस्तु नहीं है। खर और विषाण दो पृथक्-पृथक् अस्तित्व धारण करते हैं। उनका संयोग असिद्ध है। जैसा निषेधयुक्त अखंडपद अद्वैत है, उस प्रकारकी बात खरविषाणके निषेधमें नहीं है।

अद्वैततत्त्व माननेपर स्वामी समन्तभद्र कहते हैं—

"कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्यात् बन्धमोक्षद्वयं तथा॥ २५॥"

—आप्तमीमांसा

पुण्यपापरूप कर्मद्वैत, शुभ-अशुभ फलद्वैत, इहलोक-परलोकरूप लोकद्वैत, विद्या-अविद्यारूप द्वैत तथा बंधमोक्षरूप द्वैतका अभाव हो जायगा।

समन्तभद्राचार्य इस द्वैत-अद्वैत एकान्तके विवादका निराकरण करते हुए कहते हैं—

"सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथक् द्रव्यादिभेदतः॥ ३४॥"

सामान्य सत्त्वकी अपेक्षा सब एक हैं, द्रव्य गुण पर्याय आदिकी दृष्टिसे उनमें पृथक्पना है।

इस दृष्टिसे एकत्वका समर्थन होता है। साथ ही अनेकत्व भी पारमार्थिक प्रमाणित होता है।

कोई-कोई जिज्ञासु पूछते हैं—आपके यहाँ एकान्त दृष्टियोंका समन्वय करनेके सिवाय वस्तुका अन्य स्वरूप माना गया है या नहीं ?

इसके समाधानमें यह लिखना उचित जँचता है कि स्याद्वाद दृष्टि

द्वारा वस्तुका यथार्थ स्वरूप प्रकाशित किया जाता है। अन्य स्वरूप बताना सत्यकी नींवपर अवस्थित दृष्टिके लिए, अनुचित है। स्याद्वाद दृष्टिमें मिथ्या एकान्तोंका समूह होनेपर भी सत्यताका पूर्णतया संरक्षण होता है, कारण यहाँ वे दृष्टियाँ 'भी'[1] के द्वारा सापेक्ष हो जाती हैं।

स्याद्वादके प्रकाशमें अन्य एकान्त धारणाओंके मध्य मैत्री उत्पन्न की जा सकती है। **स्वामी समन्तभद्रकी** आप्तमीमांसामें समन्वयका मार्ग विस्तृत रीतिसे स्पष्ट किया गया है।

इस स्याद्वाद शैलीका लौकिक लाभ यह है कि जब हम अन्य व्यक्ति के दृष्टिबिन्दुको समझनेका प्रयत्न करेंगे तो परस्परके भ्रममूलक दृष्टि-जनित विरोध-विवादका अभाव हो मित्रतामें एकत्व (Unity in divosity) की सृष्टि होगी। आधुनिक युगमें यदि स्याद्वाद शैलीके प्रकाश-में भिन्न-भिन्न संप्रदायवाले प्रगति करें, तो बहुत कुछ विरोधका परिहार हो सकता है।

आत्मविकासके क्षेत्रमें भी अनेकान्त विद्या द्वारा निर्मल ज्योति प्राप्त होती है। लौकिक दृष्टिसे जैसे घृतसम्बद्ध मिट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहते हैं, उसी प्रकार शरीरसे सम्बद्ध जीवको भिन्न-भिन्न नाम आदि उपाधियों सहित कहते हैं। परमार्थ दृष्टिसे घीका घड़ा कथन सत्य नहीं है, क्योंकि घड़ा मिट्टीका है। मिट्टी घड़ेका उपादान कारण है, घृत उपादान कारण नहीं है। इस कारण मिट्टीका घड़ा कथन वास्तविक है। इसी प्रकार पारमार्थिक निश्चय दृष्टिसे आत्मा शरीरसे जुदा है। ज्ञान आनंद शक्तिका अक्षय भंडार है। व्यावहारिक-लौकिक दृष्टिसे तत्त्वको जानकर

---

१ एकान्त दृष्टि, तत्त्व ऐसा ही है, कहती है। अनेकांत दृष्टि कहती है-तत्त्व ऐसा भी है। 'भी'से सत्यका संरक्षण होता है, 'ही'से सत्यका संहार होता है।

परमार्थ दृष्टिद्वारा साधनाके मार्ग पर चलकर निर्वाणको प्राप्त करना साधकका कर्तव्य है।

व्यवहार दृष्टि जहाँ ईश-चिंतन, भगवद्भक्ति आदिको कल्याणका मार्ग प्राथमिक साधकको बताती है, वहाँ निश्चय दृष्टि श्रेष्ठ पथको प्रदर्शित करते हुए कहती है—

"यः परमात्मा स एवाहं योऽहं सः परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यः नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥"

—समाधिशतक ३१।

जो परमात्मा है, वह मैं हूँ। जो मैं हूँ, वह परमात्मा है। अतः मुझे अपनी आत्माकी आराधना करनी चाहिए, अन्यकी नहीं; यह वास्तविक बात है।

स्याद्वाद तत्त्वज्ञानके मार्मिक आचार्य अमृतचन्द्र अनेकांतवादके प्रति इन शब्दोंमें प्रणामांजलि समर्पित करते हैं—

"परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनय-विलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥"

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २।

कर्मसिद्धान्त

साधकके आत्मविकासमें जिस शक्तिके कारण बाधा उपस्थित होती है उसे जैन-शासनमें 'कर्म' कहते हैं। भारतीय दार्शनिकोंने 'कर्म' शब्दका विभिन्न अर्थोंमें प्रयोग किया है। वैयाकरण[1] जो कर्त्ताके लिए अत्यन्त इष्ट हो उसे कर्म मानते हैं। यज्ञ आदि क्रिया काण्डको मीमांसाशास्त्री

१ "कर्तुरीप्सिततमं कर्म"—पाणिनीय सू० १।४।७९।

कर्म जानते हैं। वैशेषिकदर्शनमें कर्मकी इस प्रकार परिभाषा की है[1]— 'जो एक द्रव्यमें समवायसे रहता हो जिसमें कोई गुण न हो और जो संयोग तथा विभागमें कारणान्तरकी अपेक्षा न करे। सांख्य दर्शनमें संस्कार अर्थमें कर्मका प्रयोग हुआ है[2]।' गीतामें[3] क्रिया-शीलता को कर्म मान अकर्मण्यताको हीन बताया है। महाभारतमें[4] आत्मा को बाँधने वाली शक्तिको कर्म मानते हुए शांति पर्व २४०-७ में लिखा है—'प्राणी कर्मसे बंधता है और विद्यासे मुक्त होता है।' बौद्ध साहित्यमें प्राणियोंकी विविधताका कारण कर्मोंकी विभिन्नता कहा है। अंगुत्तर निकायमें सम्राट् मिलिन्दके प्रश्नके उत्तरमें भिक्षु **नागसेन** कहते हैं[5]- 'राजन्, कर्मोंके नानात्वके कारण सभी मनुष्य समान नहीं होते।' महाराज भगवान्ने भी कहा है—'मानवोंका सद्भाव कर्मोंके अनुसार है। सभी प्राणी कर्मोंके उत्तराधिकारी हैं। कर्मके अनुसार योनियोंमें जाते हैं। अपना कर्म ही बन्धु है, आश्रय है और वह जीवका उच्च और नीचरूप में विभाग करता है।' अशोकके शिलालेखकी सूचना नं० ८ द्वारा कर्म का प्रभाव व्यक्त करते हुए सम्राट् कहते हैं[6]—'इस प्रकार देवताओं

---

१ "एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्।" —वैशेषिक-दर्शन सभाष्य १-१७ पृ० ३५।

२ सांख्यतत्त्वकौमुदी ६७।

३ "योगः कर्मसु कौशलम्"—गीता। "कर्मज्यायो ह्यकर्मणः।"—गीता।

४ "कर्मणा बध्यते जन्तुः, विद्यया तु प्रमुच्यते।"

५ "महाराज कम्मानं नानाकरणेन मनुस्सा न सब्बे समका'''। भासितं पेतं महाराज भगवता कम्मस्स कामाणव सत्ता, कम्मदायादा कम्मयोनी कम्मबंधु कम्मपटिसरणा कम्मं सत्ते विभजति यदिदं हीनप्पणीततायीति।"—Pali Reader P. 39.

६ बुद्ध और बौद्ध धर्म पृ० २५६।

का प्यारा अपने कर्मोंसे उत्पन्न हुए सुखको भोगता है।' पातञ्जल योग-सूत्रमें[1]—क्लेशका मूल कर्माशय-वासनाको बताया है। वह कर्माशय इस लोक और परलोकमें अनुभवमें आता है। हिन्दू जगत्के दृष्टिकोण को गो० तुलसीदासजी इन शब्दोंमें प्रकट करते हैं—

"कर्मप्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा॥"

इस प्रकार भारतीय दार्शनिकोंके कर्मपर विशेष विचार व्यक्त हुए हैं। जैन सिद्धान्तमें इस कर्म-विज्ञानपर जो प्रकाश डाला गया है वह अन्य दर्शनोंमें नहीं पाया जाता। यहाँ कर्म-विज्ञान (Philosophy) पर बहुत गम्भीर, विशद, वैज्ञानिक चिन्तना की गई है। कर्म शब्दका उल्लेख अथवा नाममात्रका वर्णन किसी सम्प्रदायकी पुस्तकोंमें पढ़ कोई-कोई आधुनिक पण्डित कर्म-सिद्धान्तके बीज जैनेतर साहित्यमें सोचते हैं। किन्तु, जैन वाङ्मयके कर्म-साहित्य नामक विभागके अनुशीलनसे यह स्पष्ट होता है कि जैन-आगमकी यह मौलिक विद्या रही है। बिना कर्म-सिद्धान्तके जैन शास्त्रका विवेचन पंगु हो जाता है। ईश्वरको कर्त्ता माननेवाले सिद्धान्त भगवान्के हाथमें अपने भाग्यकी डोर सौंप विश्व-वैचित्र्य आदिके लिए किसी अन्य शक्तिका वर्णन करना तर्ककी दृष्टिसे आवश्यक नहीं मानते और यथार्थमें फिर उन्हें आवश्यकता रह भी क्यों जाए? जैन-सिद्धान्त प्रत्येक प्राणीको अपना भाग्यविधाता मानता है, तब फिर बिना ईश्वरकी सहायताके विश्वकी विविधताका व्यवस्थित समाधान करना जैन दार्शनिकोंके लिए अपरिहार्य है। इस कर्म-तत्त्व ज्ञान द्वारा वे विश्व-वैचित्र्यका समाधान तर्कानुकूल पद्धतिसे

---

१ "क्लेशमूलः कर्माशयः, दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।" २-१२

करते हैं। कर्मकी वन्धन नामकी एक अवस्थाका वर्णन करनेवाला ही चालीस हजार श्लोक प्रमाण 'महाबन्ध' नामका जैन ग्रन्थ प्राकृत-भाषामें विद्यमान है।

इस प्रकार कर्मके विषयमें विशद वैज्ञानिक जैन विवेचनाके सार पूर्ण अंश पर ही यहाँ हम विचार कर सकेंगे। जैनाचार्य बताते हैं कि-आत्माके प्रदेशोंमें कम्पन होता है और उस कम्पनसे पुद्गल (Matter) का परमाणु-पुञ्ज आकर्षित होकर आत्माके साथ मिल जाता है, उसे कर्म कहते हैं। प्रवचनसारके टीकाकार **अमृतचन्द्र सूरि**[1] लिखते हैं—"आत्माके द्वारा प्राप्य होनेसे क्रियाको कर्म कहते हैं। उस क्रियाके निमित्तसे परिणमन-विशेषको प्राप्त पुद्गल भी कर्म कहलाता है। जिन भावोंके द्वारा पुद्गलपिण्ड आकर्षित हो जीवके साथ सम्बन्धित होता है उसे भावकर्म कहते हैं। और आत्मामें विकृति उत्पन्न करनेवाले पुद्गलपिंडको द्रव्यकर्म कहते हैं।" **स्वामी अकलङ्कदेवका** कथन है[2]—"जिस प्रकार पात्रविशेषमें रखे गये अनेक रसवाले बीज, पुष्प तथा फलोंका मद्यरूपमें परिणमन होता है, उसी प्रकार आत्मामें स्थित पुद्गलोंका क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों तथा मन, वचन, कायके निमित्तसे आत्मप्रदेशोंके परिस्पन्दनरूप योगके कारण कर्मरूप परिणमन होता है।

पञ्चाध्यायीमें यह बताया है कि—"आत्मामें एक वैभाविक शक्ति

---

१ "क्रियाया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म, तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म।" –प्रवचनसार टी० २-२५।

२ "यथा भाजनविशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरसबीजपुष्पफलानां मदिराभावेन परिणामः, तथा पुद्गलानामपि आत्मनि स्थितानां योगकषायवशात् कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यः।" –त० रा० पृ० २९४।

है जो पुद्गल-पुंजके निमित्त को पा आत्मामें विकृति उत्पन्न करती है।"

"जीवके परिणामोंका निमित्त पाकर पुद्गल स्वयमेव कर्मरूप परिणमन करते हैं[1]।" तात्विक भाषामें आत्मा पुद्गलका सम्बन्ध होते हुए भी जड़ नहीं बनता और न पुद्गल इस सम्बन्धके कारण सचेतन बनता है।

प्रवचनसार संस्कृत टीकामें तात्विक दृष्टिको लक्ष्य कर यह लिखा है। "द्रव्य कर्मका कौन कर्त्ता है? स्वयं पुद्गलका परिणमन-विशेष ही। इसलिए पुद्गल ही द्रव्यकर्मोंका कर्ता हैं, आत्मपरिणामरूप भावकर्मोंका नहीं। अतः आत्मा अपने स्वरूपसे परिणमन करता है। पुद्गल स्वरूपसे नहीं करता।"[2]

कर्मोंका आत्माके साथ सम्बन्ध होनेसे जो अवस्था उत्पन्न होती है उसे बन्ध कहते हैं। इस बन्ध-पर्यायमें जीव और पुद्गलकी एक ऐसी नवीन अवस्था उत्पन्न हो जाती है जो न तो शुद्ध-जीवमें पाई जाती है और न शुद्ध-पुद्गलमें ही। जीव और पुद्गल अपने-अपने गुणोंसे कुछ च्युत होकर एक नवीन अवस्थाका निर्माण करते हैं। राग, द्वेष युक्त आत्मा पुद्गलपुञ्जको अपनी ओर आकर्षित करता है। जैसे, चुम्बक लोहा आदि पदार्थोंको आकर्षित करता है। जैसे फोटोग्राफर चित्र खींचते समय अपने कैमरेको व्यवस्थित ढंगसे रखता है और उस समय उस कैमरेके समीप आने वाले पदार्थकी आकृति लेन्सके माध्यमसे प्लेट पर

---

१ "जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्‌गलाः कर्मभावेन॥"–पु० सिद्ध्युपाय १२।

२ "अथ द्रव्यकर्मणः कः कर्तेति चेत्? पुद्‌गलपरिणामो हि तावत् स्वयं पुद्‌गल एव। ततस्तस्य परमार्थात् पुद्‌गलात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मण एव कर्ता। न त्वात्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मणः। तत आत्मा आत्मस्वरूपेण परिणमति, न पुद्‌गलस्वरूपेण परिणमति।" पृ० १७१–१६२।

अङ्कित हो जाती है; उसी प्रकार राग, द्वेष रूपी कांचके माध्यमसे पुद्गल-पुञ्ज आत्मामें एक विशेष विकृति उत्पन्न कर देते हैं, जो पुनः आगामी रागादि भावोंको उत्पन्न करता है। 'स्वगुण-च्युतिः बन्धः'—अपने गुणोंमें परिवर्तन होनेको बन्ध कहा है। हल्दी और चूनेके संयोगसे जो लालिमा उत्पन्न होती है वह पीत हल्दी और श्वेत चूनेके संयोगका कार्य है, उनमें यह पृथक्-पृथक् बात नहीं है। किसीने कहा है—

"हरदी ने जरदी तजी, चूना तज्यो सफेद।
दोऊ मिल एकहि भये, रह्यौ न काहू भेद॥"

जब आत्मा कर्मोंका बन्ध करता है, तब शब्दकी दृष्टिसे ऐसा विदित होता है कि आत्माने कर्मोंको ही बाँधा है, कर्मोंने आत्माको नहीं। किन्तु, वास्तवमें बात ऐसी नहीं है। जिस प्रकार आत्मा कर्मोंको बाँधता है, उसी प्रकार कर्म भी जीव (आत्मा) को बाँधते हैं। एकने दूसरेको पराधीन किया है। पञ्चाध्यायीमें कहा है—

"जीवः कर्मनिबद्धो हि जीवबद्धं हि कर्म तत्।" (१०४)

इस कर्मबन्धके अन्तस्तलपर भगवज्जिनसेनाचार्य बड़े सुन्दर शब्दोंमें प्रकाश डालते हैं—

"सङ्कल्पवशगो मूढः वस्त्विष्टानिष्टतां नयेत्।
रागद्वेषौ ततः ताभ्यां बन्धं दुर्मोचमश्नुते॥" —महापुराण।

"यह अज्ञानी जीव इष्ट-अनिष्ट सङ्कल्प द्वारा वस्तुमें प्रिय-अप्रिय कल्पना करता है जिससे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। इस राग-द्वेषसे दृढ़ कर्मका बन्धन होता है।" आत्माके कर्म-जाल बुननेकी प्रक्रियापर प्रकाश डालते हुए महर्षि कुन्दकुन्द पंचास्तिकायमें कहते हैं—

"जो पुण संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसुगदी॥

गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो य दोसो वा।।
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इति जिणवरेंहि भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा।।"

—१२८-१३०।

जो संसारी जीव है वह राग, द्वेष आदि भावोंको उत्पन्न करता है, जिनसे कर्म आते हैं और कर्मोंसे मनुष्य, पशु आदि गतियोंकी उत्पत्ति होती है। गतियोंमें जाने पर शरीरकी प्राप्ति होती है। शरीरसे इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका ग्रहण होता है जिससे राग और द्वेष होते हैं। इस प्रकारका भाव संसारचक्रमें भ्रमण करते हुए जीवके सन्ततिकी अपेक्षा अनादि-अनन्त और पर्यायकी दृष्टिसे सान्त भी होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।"

इस विवेचनसे यह स्पष्ट होता है कि यह कर्म-चक्र राग-द्वेषके निमित्तसे सतत चलता रहता है और जब तक राग, द्वेष, मोहके वेगमें न्यूनता न होगी तब तक यह चक्र अबाधित गतिसे चलता रहेगा। राग-द्वेषके बिना जीवकी क्रियाएँ बन्धनका कारण नहीं होतीं। इस विषयको कुन्दकुन्द स्वामी समयप्राभृतमें समझाते हुए लिखते हैं कि—[1]'कोई व्यक्ति अपने शरीरको तैलसे लिप्त कर धूलिपूर्ण स्थानमें जाकर शस्त्र-संचालन रूप व्यायाम करता है और ताड़, केला, बाँस आदिके वृक्षोंका छेदन-भेदन भी करता है। उस समय धूलि उड़कर उसके शरीरमें चिपट जाती है। यथार्थमें देखा जाए तो उस व्यक्तिका शस्त्र-सञ्चालन शरीरमें धूलि चिपकनेका कारण नहीं है। वास्तविक कारण तो तैलका लेप है, जिससे

---

[1] समयसार गा० २४२—२४६।

धूलिका सम्बन्ध होता है। यदि ऐसा न हो, तो वही व्यक्ति जब विना तैल लगाए पूर्वोक्त शस्त्र-सञ्चालन कार्य करता है—तब उस समय वह धूलि शरीरमें क्यों नहीं लिप्त होती? इसी प्रकार राग-द्वेषरूपी तैलसे लिप्त आत्मामें कर्म-रज आकर चिपकती है और आत्माको इतना मलीन बना पराधीन कर देती है कि अनन्तशक्तिसम्पन्न आत्मा क्रीतदासके समान कर्मोंके इशारेपर नाचा करता है।

इस कर्मका और आत्माका कबसे सम्बन्ध है? यह प्रश्न उत्पन्न होता है। इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि—कर्मसन्तति-परम्पराकी अपेक्षा यह सम्बन्ध अनादिसे है। जिस प्रकार खानिसे निकाला गया सुवर्ण किट्ट कालिमादिविकृतिसम्पन्न पाया जाता है, पश्चात् अग्नि तथा रासायनिक द्रव्योंके निमित्तसे विकृति दूर होकर शुद्ध सुवर्णकी उपलब्धि होती है, उसी प्रकार अनादिसे यह आत्मा कर्मोंकी विकृतिसे मलीन हो भिन्न-भिन्न योनियोंमें पर्यटन करता फिरता है। तपश्चर्या, आत्म-श्रद्धा, आत्म-बोधके द्वारा मलिनताका नाश होनेपर यही आत्मा परमात्मा बन जाता है। जो जीव आत्म-साधनाके मार्गमें नहीं चलता, वह प्रगति-हीन जीव सदा दुःखोंका भार उठाया करता है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्तीने कितना सुन्दर उदाहरण देकर इस विषयको समझाया है—

"जह भारवहो पुरिसो वहइ भरं गेहिऊण कावडियं।
एमेव वहइ जीवो कम्मभरं कायकावडियं ॥ २०१ ॥"

—गोम्मटसार-जीवकाण्ड।

—जिस प्रकार एक बोझा ढोनेवाला व्यक्ति कांवड़को लेकर बोझा ढोता है, उसी प्रकार यह संसारी जीव शरीररूपी कांवड़ द्वारा कर्मभारको ढोता है।

यह कर्मबन्धन पर्यायकी दृष्टिसे अनादि नहीं है। तत्त्वार्थसूत्रकारने

"अनादि सम्बन्धे च" (२।४१)—सूत्र द्वारा यह बता दिया है कि कर्म-सन्ततिकी अपेक्षा अनादि सम्बन्ध होते हुए भी पर्यायकी दृष्टिसे वह सादि सम्बन्धवाला है। बीज और वृक्षके सम्बन्धपर दृष्टि डालें तो परम्पराकी दृष्टिसे उनका कार्य-कारणभाव अनादि होगा। जैसे अपने सामने लगे हुए नीमके वृक्षका कारण हम उसके बीजको कहेंगे। यदि हमारी दृष्टि अपने नीमके झाड़ तक ही सीमित है तो हम उसे बीजसे उत्पन्न कह सादि सम्बन्ध सूचित करेंगे। किन्तु इस वृक्षके उत्पादक बीजके जनक अन्य वृक्ष और उसके कारण अन्य बीज आदिकी परम्परापर दृष्टि डालें तो इस अपेक्षासे इस सम्बन्धको अनादि मानना होगा। किन्हीं दार्शनिकोंको यह भ्रम हो गया है कि जो अनादि है, उसे अनन्त होना ही चाहिए। वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। अनादि वस्तु अनन्त हो, न भी हो; यदि विरोधी कारण आ जावे तो अनन्त होनेवाले सम्बन्धकी जड़ उखाड़ी जा सकती है। तत्त्वार्थसारमें लिखा है—

"दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥"

—श्लोक ७, पृ० ५८।

—जैसे बीजके जल जानेपर पुनः नवीन वृक्षमें निमित्त बननेवाला अंकुर नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार कर्मबीजके भस्म होनेपर भवाङ्कुर उत्पन्न नहीं होता।

आत्मा और कर्मका अनादि सम्बन्ध मानना तर्कसिद्ध है। यदि सादि सम्बन्ध मानें तो अनेक आपत्तियाँ उपस्थित होंगी। इस विषयमें निम्न प्रकार विचार करना उचित प्रतीत होता है। आत्मा कर्मोंके अधीन है, इसीलिए कोई दरिद्र और कोई श्रीमान् पाया जाता है। पंचाध्यायीमें कहा है—

"एको दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कर्मणः"

—उत्त० श्लो० ५०।

संसारी आत्मा कर्मोंके अधीन है, यह प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है। फिर भी तर्कप्रेमियोंको विद्यानन्दि स्वामी आप्तपरीक्षामें इस प्रकार युक्ति द्वारा समझाते हैं—"संसारी जीव बँधा हुआ है क्योंकि यह परतंत्र है। जैसे आलान-स्तम्भमें प्राप्त हाथी परतंत्र होनेके कारण बंधा हुआ है। यह जीव परतंत्र है क्योंकि इसने हीन स्थानको ग्रहण किया है। जैसे कामके वेगसे पराधीन कोई श्रोत्रिय ब्राह्मण वेश्याके घरको स्वीकार करता है। जिस हीन स्थानको इस जीवने ग्रहण किया है, वह शरीर है। उसे ग्रहण करनेवाला संसारी जीव प्रसिद्ध है। यह शरीर हीन स्थान कैसे कहा गया? शरीर हीन स्थान है, क्योंकि वह आत्माके लिए दुःखका कारण है। जैसे किसी व्यक्तिको जेल दुःखका कारण होनेसे वह जेलको हीन स्थान समझता है[1]।" विद्यानन्दि स्वामीका भाव यह है कि इस पीड़ाप्रद 'मलबीजं मलयोनिम्' शरीरको धारण करनेवाला जीव कर्मोंके अधीन नहीं तो क्या है? कौन समर्थ ज्ञानवान् व्यक्ति इस सप्त धातुमय निन्द्य शरीरमें वन्दी बनना पसंद करता है। यह तो कर्मोंका आतङ्क है कि जीवकी यह अवस्था हो गई है, जिसे दौलतरामजी अपने पदमें इस मधुरताके साथ गाते हैं—

"अपनी सुध भूल आप, आप दुख उपायौ।
ज्यौं शुक नभ चाल विसरि, नलिनी लटकायौ॥
चेतन अविरुद्ध शुद्ध दरश बोध मय विशुद्ध।
तज, जड़ रस फरस रूप पुद्गल अपनायौ॥

---

१ आप्तपरीक्षा पृ० १।

चाह-दाह दाहै, त्यागै न ताहि चाहै।
समता-सुधा न गाहै, जिन निकट जो बतायौ ॥"

जब यह जीव कर्मोंके अधीन सिद्ध हो चुका तब उसकी पराधीनता या तो अनादि होगी जैसा कि ऊपर बताया गया है अथवा उसे सादि मानना होगा। अनादि पक्षको न माननेवाले देखें कि सादि मानना कितनी विकट समस्या उपस्थित कर देता है। कर्म-बन्धनको सादि माननेका स्पष्ट भाव यह है कि पहिले आत्मा कर्मबन्धनसे पूर्णतया शून्य था, उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति आदि गुण पूर्णतया विकसित थे। वह निजानन्द रसमें लीन था। ऐसा आत्मा किस प्रकार और क्यों कर्म-बन्धनको स्वीकार कर अपनी दुर्गतिके लिए स्वयं अपनी चिता रचनेका प्रयत्न करेगा? आत्मा मोही, अज्ञानी, अविवेकी और असमर्थ होता तो बात दूसरी थी। यहां तो शुद्धात्माको अशुद्ध बननेके लिए कौन सी विकारी शक्ति प्रेरणा कर सकती है? शुद्ध सुवर्ण पुनः किट्टकालिमाको जैसे अङ्गीकार नहीं करता, उसी प्रकार परिशुद्ध-आत्मा अत्यन्त घृणित शरीरको धारण करनेका स्वप्नमें भी विचार नहीं करेगा। इस प्रकार शुद्ध आत्माका अशुद्ध बनना जब असम्भव है, तब गत्यन्तराभावात् अनादिसे उसे कर्म-बंधन युक्त स्वीकार करना होगा।

कर्मोंके विपाकसे यह आत्मा विविध प्रकारके वेष धारणकर विश्वके रंगमंचपर आ हास्य, शोक, शृंगार आदि रसमय खेल दिखाता फिरता है पर जब कभी भूले-भटके जिनेन्द्र-मुद्राको धारणकर शान्त-रसका अभिनय करने आता है तो आत्माकी अनन्त निधि अर्पण करते हुए कर्म इसके पाससे बिदा हो जाते हैं।

जिस कर्मने आत्माको पराधीन किया है, वह साङ्ख्यकी प्रकृतिके

समान अमूर्तीक नहीं है। कर्मका फल मूर्तिमान पदार्थके सम्बन्धसे अनुभवमें आता है, इसलिए वह मूर्तीक है, यह स्वीकार करना तर्क-सङ्गत हैं। जैसे चूहेके काटनेसे उत्पन्न हुआ शरीरमें शोथ आदि विकार देख स विषको मूर्तिमान स्वीकार करते हैं, उसी तरह पुष्प, मणि, स्त्री आदिके निमित्तसे सुखका तथा सर्प, सिंह, विष आदिके निमित्तसे दुखरूप कर्म-फलका अनुभव करता है। इसलिए यह कर्म अनुमानद्वारा मूर्तिमान सिद्ध होता है।

जब कर्म-पुञ्ज (Karmic mobcules) स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णयुक्त होनेके कारण पौद्‌गलिक हैं और आत्मा उपर्युक्त गुणोंसे शून्य चैतन्य ज्योतिमय है, तब अमूर्ति आत्माका मूर्तिमान कर्मोंसे कैसे बन्ध होता है? मूर्तीक-मूर्तीकका बन्ध तो उचित है, अमूर्तीकका मूर्तिमानसे बन्ध होना मानना आश्चर्य-प्रद है?

इस शङ्काका समाधान करते हुए आचार्य अकलङ्कदेव तत्त्वार्थराजवार्तिक (पृ० ८१ अ० २ सूत्र ७) में लिखते हैं,—"अनादिकालीन कर्मकी बन्ध परम्पराके कारण पराधीन आत्माके अमूर्तीकत्वके सम्बन्धमें एकान्त नहीं है। बन्ध पर्यायके प्रति एकत्व होनेसे आत्मा कथञ्चित् मूर्तीक है और अपने ज्ञानादिक लक्षणका परित्याग न करनेके कारण कथञ्चित् अमूर्तीक भी है··· । मद, मोह तथा भ्रमको उत्पन्न करनेवाली मदिराको पीकर मनुष्य काष्ठकी भांति निश्चल स्मृति-शून्य हो जाता है तथा कर्मेन्द्रियोंके मदिराके द्वारा अभिभूत होनेसे जीवके ज्ञानादि लक्षणका प्रकाश नहीं होता। इसलिए आत्माको मूर्तिमान निश्चय करना पड़ता है।"[1]

---

१ "अनादिकर्मबन्धसन्तानपरतन्त्रस्यात्मनः अमूर्तिं प्रत्यनेकान्तः। बन्धपर्यायं प्रत्येकत्वात् स्यान्मूर्तं तथापि ज्ञानादिस्वलक्षणापरित्यागात् स्यादमूर्तिः। ···मदमोहविभ्रमकरीं सुरां पीत्वा नष्टस्मृतिर्जनः काष्ठवदपरिस्पन्द उपलभ्यते, तथा कर्मेन्द्रियाभिभवादात्मा नाविर्भूतस्वलक्षणो मूर्त इति निश्चीयते।"

यदि ऐसा है तो कर्मोदय—मद्यके आवेशसे वशीकृत आत्माका अस्तित्व कैसे ज्ञात होगा ? यह कोई दोष नहीं है। कारण, कर्मोदयादिके आवेश होनेपर भी आत्माके निज लक्षणकी उपलब्धि होती है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्तीका कथन है—

"वण्ण-रस-पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो॥"

—द्रव्यसंग्रह

—जीवमें वर्ण ५, रस ५, गन्ध २, और स्पर्श ८—ये २० गुण तात्त्विक दृष्टिसे नहीं पाए जाते इसलिए उसे अमूर्तीक कहते हैं। व्यवहार नयसे (From practical stand-point) बन्धकी अपेक्षा उसे मूर्तीक कहा है।

प्रवचनसारमें स्वामी कुन्दकुन्दने इस विषयमें एक बड़ी मार्मिक बात लिखी है—

"रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि॥"—२।२८।

—जैसे रूपादिरहित आत्मा रूपीद्रव्यों और उनके गुणोंको जानता है, देखता है, उसी प्रकार रूपादिरहित जीव भी रूपी कर्म-पुद्गलोंसे बांधा जाता है। यदि यह न माना जाए तो अमूर्त आत्मा द्वारा मूर्त पदार्थोंका जानना, देखना भी नहीं बनेगा।

जब जीव और कर्मका सम्बन्ध प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है और सादि सम्बन्ध आगम, तर्क तथा अनुभवसे बाधित है, तब अनादिसम्बन्ध स्वीकार करना न्याय-सङ्गत होगा। वस्तुका स्वभाव तर्कके परे रहता है। जैसे, अग्निकी उष्णता तर्कका विषय नहीं है। अग्नि क्यों उष्ण है, इस शङ्काके उत्तरमें यही कहना होगा—'स्वभावोऽतर्कगोचरः' जो इसे न

मानें उन्हे पञ्चाध्यायीकार स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा अनुभव करनेकी सलाह देते हुए सुझाते हैं—'नो चेत् स्पर्शेन स्पृश्यताम्' ।

जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि है और यदि आत्माने कर्मके उच्छेद करनेके लिए साधना-पथमें प्रवृत्ति न की तो किन्हीं-किन्हींका वह कर्म बन्धन सान्त न हो अनन्त रहेगा। अनन्त-अनादिके विषयमें जिन्हें एक झलक लेनी हो वे महाकवि बनारसीदासजीके निम्नलिखित चित्रणको ध्यानसे देखें और उसके प्रकाशमें अनादि सम्बन्धको भी कल्पना द्वारा जाननेका प्रयत्न करें।—

"अनन्तता कहा ताको विचार—

अनंतताको स्वरूप दृष्टान्त करि दिखाइयतु है, जैसैं—वट वृक्षको बीज एक हाथ विषै लीजै, ताको विचार दीर्घ दृष्टि सौं कीजै तो वा वटके बीज विषै एक वटको वृक्ष है, सो वृक्ष जैसो कछु भाविकाल होनहार है तैसो विस्तार लिये विद्यमान वामें वास्तव रूप छतो है. अनेक शाखा प्रशाखा पत्र पुष्प फल संयुक्त है, फल फल विषै अनेक बीज होंहि। या भांतिकी अवस्था एक वटके बीज विषै विचारिये। और भी सूक्ष्म दृष्टि दीजै तो जे जे वा वट वृक्ष विषै बीज हैं ते ते अंतर्गर्भित वट वृक्ष संयुक्त होंहि। याही भांति एक वट विषै अनेक अनेक बीज, एक एक बीज विषै एक एक वट, ताको विचार कीजै तौ भाविनय प्रधान करि न वटवृक्षनि की मर्यादा पाइए न बीजनि की मर्यादा पाइए। याही भांति अनन्तताको स्वरूप जाननौ। ता अनंतताके स्वरूपको केवल ज्ञानी पुरुष भी अनन्त ही देखै जाणै कहै—अनन्तका और अंत है ही नाहीं जो ज्ञान विषै भासै। तातैं अनन्तता अनंत ही रूप प्रतिभासै या भांति आगम अध्यातमकी अनंतता जाननी।"

—बनारसीविलास पृ० २१९।

स्वामी समन्तभद्र आप्तमीमांसा (श्लो० ९९) में इस प्रकार कर्मके विषयमें प्रकाश डालते हैं—

"कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः ।
तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्धयशुद्धितः ॥"

कामादिकी उत्पत्ति रूप जो विविधतामय भाव संसार है, वह अपने अपने कर्मबन्धनके अनुसार होता है। वह कर्म रागादि कारणोंसे उत्पन्न होता है। वे जीव शुद्धता और अशुद्धतासे समन्वित होते हैं।

इस विषयमें टीकाकार आचार्य विद्यानन्दि अष्टसहस्रीमें लिखते हैं कि—"अज्ञान, मोह, अहङ्कार रूप जो भाव संसार है, वह एक स्वभाव वाले ईश्वरकी कृति नहीं है; क्योंकि उसके कार्य सुख-दुःखादिमें विचित्रता पाई जाती है। जिस वस्तुके कार्यमें विचित्रता पाई जाती है वह एक स्वभाववाले कारणसे उत्पन्न नहीं होती। जैसे धान्यांकुरादि अनेक विचित्र कार्य अनेक शालिबीजादिसे उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार सुख-दुःखादि विचित्र कार्यमय यह संसार है। वह एक स्वभाववाले ईश्वरकी कृति नहीं हो सकता। कारणके एक होने पर कार्यमें विविधता नहीं पाई जाती। एक धान्य बीजसे एक ही प्रकारके धान्य अंकुरकी उत्पत्ति होगी। जब इस प्रकार नियम है तब काल, क्षेत्र, स्वभाव, अवस्थाकी अपेक्षा भिन्न शरीर, इन्द्रिय आदि रूप जगत्का करता एक स्वभाववाले ईश्वरको मानना महान् आश्चर्यप्रद है।"[1]

यहाँ एक स्वभाववाले ईश्वरकी कृति, यह विविधतामय जगत्, नहीं बन सकता; इतनी बात तो स्पष्ट हो जाती है। किन्तु, यह कर्म विविधतामय आन्तरिक जगत्का किस प्रकार कार्य कर्त्ता है, यह बात

१ देखो पृ० २६८ से २७३ पर्यन्त, अष्टसहस्री।

विचारणीय है। कारण, कोई व्यक्ति अन्धा है, कोई लङ्गड़ा; कोई मूर्ख है, कोई बुद्धिमान्; कोई भिखारी है, कोई धनवान्; कोई दातार है, कोई कंजूस; कोई उन्मत्त है, कोई प्रबुद्ध; कोई दुर्बल है तो कोई शक्तिशाली। इन विभिन्न विविधताओंका समन्वय कर्म-सिद्धान्तके द्वारा किस प्रकार होता है?

कुन्दकुन्द स्वामी इस विषयका समाधान करते हुए लिखते हैं कि,—[1]जिस प्रकार पुरुषके द्वारा खाया गया भोजन जठराग्निके निमित्त-से मांस, चरबी, रुधिर आदि रूप परिणमनको प्राप्त होता है, उसी प्रकार यह जीव अपने भावोंके द्वारा जिस कर्मपुञ्जको—कार्माण वर्गणाओंको ग्रहण करता है उनका, इसके तीव्र, मन्द, मध्यम कषायके अनुसार विविध रूप परिणमन होता है। **पूज्यपाद स्वामी** भी इस सम्बन्धमें भोजनका उदाहरण देते हुए समझाते हैं कि जिस प्रकार [2]जठराग्निके अनुरूप आहारका विविध रूप परिणमन होता है, उसी प्रकार तीव्र, मन्द, मध्यम कषायके अनुसार कर्मोंके रस तथा स्थितिमें विशेषता आती है। इस उदाहरणके द्वारा प्रकृत विषयका भली भाँतिं स्पष्टीकरण होता है कि निमित्त विशेषसे पदार्थ कितना विचित्र और विविध परिणमन दिखाता है। हम भोजनमें अनेक प्रकारके पदार्थोंको ग्रहण करते हैं। वह वस्तु श्लेष्माशयको प्राप्त करती है, ऐसा कहा गया है। पश्चात् द्रव रूप धारण करती है; अनन्तर पित्ताशयमें पहुँचकर अम्लरूप होती है। बादमें वाताशयको प्राप्त कर

१ "जह पुरिसेणाहारो गहिओ परिणमइ सो अणेयविहं।
मंसवसारुहिरादिभावे उयरग्गिसंजुत्तो॥" —समयप्राभृत १७९।

२ "जठराग्न्यनुरूपाहारग्रहणवत्तीव्रमन्दमध्यमकषायानुरूपस्थित्यनुभवविशेषप्रतिपत्त्यर्थम्।" —स० सि० ७।२।

वायुके द्वारा विभक्त हो खल भाग तथा रस भाग रूप परिणत होती है। खल भाग मल-मूत्रादि रूप हो जाता है और रस भाग रक्त, मांस, चरबी, मज्जा, वीर्य रूप परिणत होता है यह परिणमन प्रत्येक जीवमें भिन्न-भिन्न रूपमें पाया जाता है। स्थूल रूपसे तो रक्त, मांस, मज्जा आदिमें भिन्नता मालूम नहीं होती किन्तु सूक्ष्मतया विचार करने पर विदित होगा कि प्रत्येकके रक्त आदिमें व्यक्तिकी जठराग्निके अनुसार भिन्नता पाई जाती है। भोज्य वस्तुके समान कार्माणवर्गणा इस जीवके भावोंकी तरतमताके अनुसार विचित्र रूप धारण करती है। इस कर्मका एक विभाग ज्ञानावरण कहलाता है, जिसके उदय होने पर आत्माकी ज्ञान-ज्योति ढँक जाती है और कभी न्यून, कभी अधिक हुआ करती है। इस कर्मकी तरतमताके अनुसार कोई जीव अत्यन्त मूर्ख होता है तो कोई चमत्कारपूर्ण विद्याका अधिपति बनता है। कम-से-कम ज्ञान-शक्ति दबकर एकेन्द्रिय जीवोंमें अक्षरके अनन्तवें भागपनेको प्राप्त होती है और इस ज्ञानावरण—ज्ञानको ढांकनेवाले कर्मके दूर होनेपर आत्मा सर्वज्ञताकी ज्योतिसे अलंकृत होता है। जगत्में बौद्धिक विभिन्नताका कारण यह ज्ञानावरण कर्म है। आत्माकी दर्शन-शक्तिपर आवरण करने वाला दर्शनावरण कर्म है। इस जीवको स्वाभाविक निर्मल आत्मीय आनन्दसे वञ्चित कर अनुकूल अथवा प्रतिकूल पदार्थोंमें इन्द्रियोंके द्वारा सुख-दुःखका अनुभव करानेवाला वेदनीय कर्म है। मदिराको पीनेवाला व्यक्ति ज्ञानवान् होते हुए भी उन्मत्त बन उत्पथगामी होता है, इसी प्रकार मोहनीय कर्मरूप मद्यके ग्रहण करनेके कारण अपनी आत्माको भूल पुद्गल तत्त्वमें अपनी आत्माका दर्शन कर अपनेको समझनेका प्रयत्न नहीं करता। यह मोहकर्म कर्मोंका राजा कहा जाता है। दृष्टिमें मोहका असर होने पर यह जीव विपरीत दृष्टिवाला बन

शरीरको आत्मरूप और आत्माको शरीररूप मानकर दुःखी होता है।

इस मोहके फन्देमें फँसा हुआ अभागा जीव अपने भविष्यका कुछ भी ध्यान न रख इन्द्रियोंके आदेशानुसार प्रवृत्ति करता है। कभी-कभी यह दौलतरामजी के शब्दोंमें 'सुरतरु जार कनक बोवत है' और बनारसी दासजीकी उद्बोधक वाणीमें यह—

"कायासे विचारि प्रीति माया हीमें हार जीति,
लिये हठ-रीति जैसे हारिलकी लकरी।
चुंगुलके जोर जैसे गोह गहि रहै भूमि,
त्यों ही पाँय गाड़े पै न छांड़ै टेक पकरी॥
मोहकी मरोर सौं भरमको न ठोर पावे,
धावै चहुँ ओर ज्यों बढ़ावै जाल मकरी।
ऐसी दुरबुद्धि भूलि झूठके झरोखे झूलि,
फूली फिरै ममता जंजीरन सौं जकरी॥ ३७॥"

—नाटक समयसार, सर्वविशुद्धिद्वार।

घड़ीमें मर्यादित कालके लिए चाभी भरी रहती है। मर्यादा पूर्ण होनेपर घड़ीकी गति बन्द हो जाती है। इसी भांति आयु नामके कर्म द्वारा इस जीवकी मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियोंमें नियत काल पर्यन्त अवस्थिति होती है। काल-मर्यादापूर्ण होने पर जीव क्षण-भर भी उस शरीरमें नहीं रहता। इस आयु-कर्मके कारण ही यह जीव जन्म-मरणका खेल खेला करता है। इस रहस्यको न जानकर लोग जीवनको ईश्वरकी दया और मृत्युको परमात्माकी इच्छा कह दिया करते हैं। किन्तु परमात्माके साथ जगत् भरके प्राणियोंके जीवन तथा मरणका अकारण सम्बन्ध जोड़ना उस सच्चिदानन्दको संकटोंके सिन्धुमें समा देने जैसी बात होगी। यथार्थमें यह आयु कर्म है जिसके अनुसार यह जीवनकी

घड़ी जब तक चाभी भरी रहती है चलती है। विष, वेदना, भय, शस्त्र-प्रहार, संक्लेश आदिके कारण यह घड़ी पहिले भी बिगड़ सकती है। इसीका परिणाम अकाल-मरण कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वमें निर्धारित पूर्ण आयुको भोगे बिना कारण-विशेषसे अल्पकालमें प्राणोंका विसर्जन कर देना अकाल-मरण है। अकाल-मरण द्वारा आयुमें कमी तो हो जाती है पर प्रयत्न करने पर भी पूर्व निश्चित आयुमें वृद्धि नहीं होती। इसका कारण अन्यत्र न ढूँढ़ घड़ीकी चाभीसे ही स्पष्ट ज्ञात किया जा सकता है। इस आयुके प्रहारको कोई भी नहीं बचा सकता। आत्म-दर्शन, आत्म-बोध और आत्म-निमग्नता इस रत्नत्रय मार्गसे ही आत्मा मृत्युके चक्रसे बच सकता है। अन्यथा प्रत्येकको इसके आगे मस्तक झुकाना पड़ता है। विश्वकी सारी शक्ति और सम्पूर्ण शक्ति-शालियोंका सहयोग भी क्षण-भरके लिए निश्चित जीवनमें वृद्धि नहीं कर सकता। प्रबुद्ध कवि कितनी मार्मिक बात कहते हैं—

"सुर असुर खगाधिप जेते। मृग ज्यों हरि काल दलेते।
मणि मन्त्र तन्त्र बहु होई। मरतै न बचावै कोई॥"

—दौलतराम-छहढाला।

जिस प्रकार चित्रकार अपनी तूलिका और विविध रंगोंके योगसे सुन्दर भीषण आदि चित्रोंको बनाया करता है, उसी प्रकार नाम-कर्म-रूपी चितेरा इस जीवको भले-बुरे, दुबले-पतले, मोटे-ताजे, लूले-लङ्गड़े, कुबड़े, सुन्दर अथवा सड़े-गले शरीरमें स्थान दिया करता है। इस जीवकी अगणित आकृतियाँ और विविध प्रकारके शरीरोंका निर्माण नाम-कर्मकी कृति है। विश्वकी विचित्रतामें नाम-कर्मरूपी चितेरेकी कला अभिव्यक्त होती है। शुभ नाम-कर्मके प्रभावसे मनोज्ञ और सातिशय अनुपम शरीरका लाभ होता है। अशुभ नाम-कर्मके कारण निन्दनीय

असुहावनी शारीरिक सामग्री उपलब्ध होती है। जो लोग जगत्का निर्माता किसी विधाता या स्रष्टाको बताते हैं, यथार्थमें वह इस नाम-कर्मके सिवाय और कोई दूसरी वस्तु नहीं है। आचार्य भगवज्जिनसेनने इस नाम कर्मको ही वास्तविक ब्रह्मा, स्रष्टा अथवा विधाता कहा है। एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त चौरासी लाख योनियोंमें जो जीवोंकी अनन्त आकृतियाँ हैं उसका निर्माता यह नाम-कर्म है। इस नाम-कर्मके द्वारा बनाए गए छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े शरीरमें यह जीव अपने प्रदेशोंको सङ्कुचित अथवा विस्तृत कर रह जाता है। शरीरके बाहर आत्मा नहीं रहता। और न शरीरके एक अंश मात्रमें ही जीव रहता है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने लिखा है—

"अणुगुरु-देहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्चयणयदो असंखदेसो वा ॥१०॥"

—द्रव्यसंग्रह।

"जीव व्यवहारसे अपने प्रदेशोंके सङ्कोच अथवा विस्तारके कारण छोटे, बड़े शरीर प्रमाण, समुद्घात अवस्थाको छोड़कर, होता है। निश्चय नयसे यह जीव असंख्यातप्रदेशी है।"

स्वामी शङ्कराचार्य इस जैन दृष्टिके महत्त्वको हृदयङ्गम न करते हुए कहते हैं कि—शरीर प्रमाण आत्माको मानने पर शरीरके समान आत्मा अविनाशी नहीं होगा और उसे विनाशशील मानने पर परम-मुक्ति नहीं मिलेगी। शंकराचार्य सदृश विचारकोंकी धारणा है कि मध्यमपरिमाण-वाली वस्तु अनित्य ही होती है। नित्य होनेके लिए उसे या तो आकाशके समान व्यापक होना चाहिए अथवा अणुके समान एक प्रदेशी होना चाहिए। यह कथन कल्पनामात्र है। क्योंकि यह तर्ककी कसौटी पर नहीं टिकता। अणु परिमाण और महत् परिमाणका नित्यताके साथ

अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है और न मध्यम परिमाणका अनित्यताके साथ कोई सम्बन्ध है। इसके सिवाय एकान्त नित्य अथवा अनित्य वस्तुका सद्भाव भी नहीं पाया जाता। वस्तु द्रव्यदृष्टिसे नित्य और पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। यह बात हम पिछले अध्यायमें स्याद्वादका विवेचन करते हुए स्पष्ट कर चुके हैं।

आचार्य अनन्तवीर्यने प्रमेयरत्नमालामें आत्माको शरीरप्रमाण सिद्ध किया है। क्योंकि, आत्माके ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य लक्षण गुणोंकी सर्वाङ्गमें उपलब्धि होती है।[१]

सर राधाकृष्णन्ने शङ्कराचार्यकी पूर्वोक्त दृष्टिका उल्लेख करते हुए कहा है कि—"इन आक्षेपोंका जैन लोग उदाहरण देकर समाधान करते हैं। जैसे—घड़ेके भीतर रखा गया दीपक घटाकाशको प्रकाशित करता है और बड़े कमरेमें रखे जाने पर वही दीपक पूरे कमरेको भी प्रकाशित करता है। इसी भांति, भिन्न-भिन्न शरीरोंके विस्तारके अनुसार जीव सङ्कोच और विस्तार किया करता है[२]।" यह विषय तत्त्वार्थसूत्रके

---

१ "तदसाधारणगुणा ज्ञानदर्शनसुखवीर्यलक्षणास्ते च सर्वाङ्गीणास्तत्रैव चोपलभ्यन्ते।" —पृ० १८२।

२ "According to Sankara, the hypothesis of the soul having the same size as its body is untenable, far from its being limited by the body, it would follow that the soul like the body is also impermanent and if impermanent, it would have no final release.

The Jains answer these objections by citing analogies. As a lamp whether placed in a small pot or a large room illumines the whole space, even so does the Jiva contract and expand according to the dimensions of the different bodies."

Indian Philosophy, p. 311, Sir Radhakrishnan.

निम्नलिखित सूत्रसे सरलतापूर्वक स्पष्ट हो जाता है—"प्रदेशसंहार-विसर्पाभ्यां प्रदीपवत्" (५, १६)।

जिस प्रकार कुम्भकार मृत्तिका आदिको छोटे बड़े घट आदिके रूपमें परिणत कर दिया करता है उसी प्रकार छोटे बड़े भेदोंसे विमुक्त इस जीवको गोत्र-कर्म कभी तो उच्च कुलमें जन्म धारण कराता है, कभी हीन-संस्कार, दूषित आचार-विचार एवं हीन परम्परावाले कुलोंमें उत्पन्न कराता है। सदाचारके आधारपर उच्चता और कुलीनता अथवा अकुलीनता और नीचताके व्यवहारका कारण उच्च-नीच गोत्र कर्मका उदय है। आज वर्णव्यवस्था सम्बन्धी उच्चता-नीचता पौराणिकोंकी मान्यता मानी जाती है; किन्तु जैन-शासनमें उसे गोत्र कर्मका कार्य बताया है। पवित्र कार्योंके करनेसे तथा निरभिमान वृत्तिके द्वारा यह जीव उच्च संस्कारसम्पन्न वंश-परम्पराको प्राप्त करता है। शिक्षा, वस्त्र, वेष-भूषा आदिके आधारपर संस्कार तथा चरित्र-हीन नीच व्यक्ति शरीरपरिवर्तन हुए विना उच्च गोत्रवाले नहीं बन सकते, क्योंकि उच्च गोत्रके उदयके लिए उच्च संस्कार-परम्परामें उत्पन्न शरीरको नोकर्म माना है।[1]

जीव बहुत कुछ सोचता है। बड़े-बड़े कार्य करनेके मनसूबे भी बाँधता है। अनुकूल साधन भी हैं। फिर भी वह अपनी मनोभावनाको पूर्ण नहीं कर पाता। क्योंकि अन्तराय नामका कर्म दान, लाभ आदिमें विघ्न उपस्थित कर देता है। दातारने किसी व्यक्तिकी दीन अवस्था देख दयासे द्रवित हो अपने भण्डारीको दान देनेका आदेश दे दिया; फिर भी, भण्डारी कोई-न-कोई विघ्न उपस्थित कर देता है, जिससे दाताके दानमें और याचकके लाभमें विघ्न आ जाता है। इस अन्तराय

१ गो० क० गा० ८४।

कर्मका कार्य सदा बने-बनाये खेलको बिगाड़, रंगमें भंग कर देनेका रहा करता है। हर एक प्रकारके वैभव और विभूतिके मध्यमें रहते हुए भी यदि भोगान्तराय, उपभोगान्तरायका उदय हो जाए तो पानीमें भी मीन पियासी-जैसी विचित्र स्थिति शारीरिक अवस्था आदिके कारण उत्पन्न हो सकती है।

इन आठ कर्मोंमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय को घातिया कर्म कहते हैं, क्योंकि ये आत्माके गुणोंका घातकर जीवको पंगु बनाया करते हैं। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्रको अघातिया कहते हैं क्योंकि ये आत्माके गुणोंको क्षति नहीं पहुँचाते। हाँ, अपने स्वामी मोहनीयके नेतृत्वमें ये जीवको परतन्त्र बना सच्चिदानन्दकी प्राप्तिमें बाधक अवश्य बनते हैं।

इन कर्मोंमें ज्ञान, दर्शन आदि आत्मगुणोंके घात करनेकी प्रकृति-स्वभाव प्राप्त होनेको **प्रकृतिबन्ध** कहते हैं। कर्मोंके फलदानकी काल-मर्यादाको **स्थितिबन्ध** कहा है। कार्माण वर्गणाओंके पुञ्जमें ज्ञानावरण आदि रूप विविध कर्म-शक्तिके परमाणुओंका पृथक्-पृथक् विभाजन **प्रदेश-बन्ध** है। और, गृहीत कर्म-पुञ्जमें फल-दान शक्ति-विपाक प्राप्ति-को **अनुभाग-बन्ध** कहते हैं। इन कर्मोंके अनन्त भेद हैं। स्थूल रूपसे १४८ भेदोंका जिन्हें कर्म-प्रकृति कहते हैं, वर्णन किया जाता है। इस रचनामें स्थान न होनेसे इनके विशेष भेदोंका वर्णन करनेमें हम असमर्थ हैं। विशेष जिज्ञासुओंको गोम्मटसार कर्मकाण्ड शास्त्रका अभ्यास करने-का अनुरोध है। [1]आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने कर्मोंकी बन्ध उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदय, उदीरणा, उपशम, सत्त्व, निधत्ति और निकाचना रूप दस अवस्थाएँ बताई हैं। मन, वचन, कायकी चञ्चलतासे

१ गोम्मटसार गाथा ४३६–४४०।

कर्मोंका आकर्षण होता है। पश्चात् वे आत्माके साथ बँध जाते हैं। इसके अनन्तर अपनी अनुकूल सामग्रीके उपस्थित होने पर वे कर्म अपना फलदान-रूप कार्य करते हैं, इसे उदय कहते हैं। कर्मोंके सद्भावको सत्त्व कहा है। आत्मनिर्मलताके द्वारा कर्मोंको उपशान्त करना उपशम है। भावोंके द्वारा कर्मोंकी स्थिति, रसदान शक्तिमें वृद्धि करना उत्कर्षण और उसमें हीनता करना अपकर्षण है। तपश्चर्या अथवा अन्य साधनोंसे अपनी मर्यादाके पहिले ही कर्मोंको उदयावलीमें लाकर उनका क्षय करना उदीरणा है। कर्मोंकी प्रकृतियोंका एक उपभेदसे अन्य उपभेद रूप परिवर्तन करनेको संक्रमण कहते हैं। उदीरणा और संक्रमण रहित अवस्थाको निधत्ति कहते हैं। जिसमें उदीरणा, संक्रमणके सिवाय उत्कर्षण और अपकर्षण भी न हो, ऐसी अवस्थाको निकाचना कहते हैं।

इससे यह बात विदित होती है कि जीवके भावोंमें निर्मलता अथवा मलिनताकी तरतमताके अनुसार कर्मोंके बन्ध आदिमें हीनाधिकता हो जाती है। विलम्बसे उदयमें आनेवाले और अधिक काल तक रस देने वाले कर्मोंको असमयमें भी उदयमें लाया जा सकता है। कभी-कभी योगबलके जाग्रत् होने पर, कर्मोंकी राशि, जो सागरों—अपरिमित काल-पर्यन्त अपना फल चखाती, वह ४८ मिनिट २ घड़ीके भीतर ही नष्ट की जा सकती है। अन्य सम्प्रदायोंकी कर्मके विषयमें यह धारणा है—'नाभुक्तं क्षीयते कर्म—बिना फल भोगे कर्मका क्षय नहीं होता।' पर जैन-शासनमें सर्वत्र इस बातका समर्थन नहीं किया जा सकता। निकाचना और निधत्ति अवस्थाको प्राप्त कर कर्म अवश्य अपने समयपर फल देंगे। किन्तु अन्य कर्म असमयमें भी अल्प फल देकर अथवा बिना फल दिये भी निकल जाते हैं। यदि ऐसी प्रक्रिया न होती, तो अनन्तकालसे आत्मा पर लदे हुए कर्मोंके ऋणसे जीवकी मुक्ति कैसे हो सकती थी। जीवमें

अवर्णनीय शक्ति है। यदि वह रत्नत्रय खड्‌गको सम्हाल ले, तो कर्म-शत्रु-को दूर होते देर न लगे। कर्म अपना फल देकर आत्मासे पृथक् हो जाते हैं। क्रम-क्रमसे कर्मोंका पृथक् होना 'निर्जरा' कहलाता है। समस्त कर्मोंके पृथक् होनेको 'मोक्ष' कहते हैं। आत्मासे कर्मोंके सम्बन्ध-विच्छेद होनेको ही कर्मोंका नाश कहते हैं। यथार्थमें पुद्गलका क्या, किसी भी द्रव्यका सर्वथा नाश नहीं होता। पुद्गलकी कर्मत्व पर्यायके क्षयको कर्म-क्षय कहते हैं।

स्वामी समन्तभद्रने लिखा है कि असत्का जन्म और सत्का विनाश नहीं होता। दीपकके बुझनेपर दीपकका नाश नहीं होता, जो पुद्गलकी पर्याय प्रकाश रूप थी, वही अन्धकार रूप हो जाती है। इसी प्रकार पुद्गलमें कर्मत्व शक्तिका न रहना 'कर्म-क्षय' कहा जाता है। क्योंकि, सत्का अत्यन्त विनाश असम्भव है। कर्मोंके बन्धके कारणोंका उल्लेख करते हुए तत्त्वार्थसूत्रकार कहते हैं—

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः।" —८।१।

सत्य स्वरूप अनेकान्त दृष्टिका परित्याग कर एकान्त दृष्टिमें संलग्न होना मिथ्यादर्शन है। अध्यात्म-शास्त्रमें, शरीर आदिमें आत्माकी भ्रान्तिको मिथ्यादर्शन कहा है। मिथ्यादर्शन सहित आत्मा बहिरात्मा कहलाता है। समाधिशतकमें कितना सुन्दर लिखा है—

"बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्मातिनिर्मलः॥"

—शरीरादिकमें आत्माकी भ्रान्ति धारण करनेवाला बहिरात्मा है। मन, दोष और आत्माके विषयमें भ्रान्तिरहित अन्तरात्मा है। कर्ममल-रहित परमात्मा है।

आत्म-विकासके परिज्ञान निमित्त मापदण्डके रूपमें तीर्थंकरोंने जीवकी चौदह अवस्थाएं, जिन्हें गुणस्थान कहते हैं, बतलाई हैं। बहिरात्मा विकासविहीन है, इसलिए उसकी प्रथम अवस्था मानकर उसे मिथ्यात्व-गुणस्थान बताया है। तत्त्वज्ञानकी जाग्रति होनेपर जब वह अन्तरात्मा बनता है तब उसे चतुर्थ आत्मविकासकी अवस्थावाला-अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। उस अवस्थामें वह आत्म-शक्तिके वैभव और कर्मजालकी हानिपूर्ण स्थितिको पूर्ण रीतिसे समझ तो जाता है, किन्तु उसमें इतना आत्मबल नहीं है, कि वह अपने विश्वासके अनुसार साधना पथमें प्रवृत्ति कर सके। वह इन्द्रिय और मन पर अङ्कुश नहीं लगा पाता; इसलिए उसकी मनोवृत्ति असंयत-अविरत होती है।

धीरे-धीरे बल-सम्पादन कर वह सङ्कल्पी हिंसाका परित्याग कर कम-से-कम हिंसा करते हुए संयमका यथाशक्ति अभ्यास प्रारम्भ कर एकदेश-आंशिक संयमी अथवा व्रती श्रावक नामक पंचम गुणस्थानवर्ती बनता है और जब वह हिंसादि पापोंका पूर्ण परित्याग करता है तब उस महा-पुरुषको आत्म-विकासकी छठवीं कक्षावाला दिगम्बर-मुनिका पद प्राप्त होता है। वह साधक जब कषायोंको मन्दकर अप्रमत्त होता है तब प्रमाद रहित होनेके कारण अप्रमत्त नामक सातवीं अवस्था प्राप्त होती है। इसी प्रकार क्रोधादि शत्रुओंका क्षय करते हुए वह आठवीं, नवमी, दसवीं, बारहवीं अवस्थाको प्राप्त करते हुए तेरहवें गुणस्थानमें पहुँच केवली, सर्वज्ञ, परमात्मा आदि शब्दोंसे सङ्कीर्तित किया जाता है। यह आत्मा चार घातिया कर्मोंका नाश करनेसे विशेष समर्थ हो अरिहन्त कहा जाता है। आत्म-विकासकी छठवींसे बारहवीं कक्षा तकके व्यक्तिको साधु कहते हैं। उनमें जो तत्त्व-ज्ञानकी शिक्षा देते हैं, उन्हें उपाध्याय कहते हैं। जिनके समीप तपस्वी लोग आत्मसाधनाके विषयमें शिक्षा-दीक्षा

प्राप्त करते हैं, और जिनका अनुशासन प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते हैं, उन सत्पुरुषको आचार्य कहते हैं। आचार्यका पद बड़ा उच्च और पवित्र है। अध्यात्मके विश्व-विद्यालयमें जितेन्द्रियताकी प्रथम श्रेणीमें परीक्षा उत्तीर्ण कर स्वरूपोपलब्धिके प्रमाणपत्रको पानेवाले पुरुषोत्तमको आचार्यका पद मिलता है। ऐसे ही आचार्य धर्मतत्त्वका प्रतिपादन करनेके लिए उपयुक्त माने गए हैं।

कैवल्यकी उपलब्धिके अनन्तर आत्माके प्रदेशोंकी स्पन्दन-रहित अवस्थाको आत्मविकासकी चौदहवीं अयोगकेवली नामकी प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। वहाँ शेष कर्मोंका क्षयकर आत्माकी परिशुद्ध अवस्था मिलती है। उन्हें सिद्ध परमात्मा कहते हैं। वे संसार परिभ्रमणके प्रपञ्चसे सदाके लिए मुक्त हो जाते हैं।

वे सिद्ध परमात्मा महाकवि बनारसीदासजीके शब्दोंमें इस प्रकार वर्णित किए गए है—

"अविनाशी, अविकार परमरसधाम हो।
समाधान सरवज्ञ सहज अभिराम हो॥
शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनन्त हो।
जगत सिरोमनि सिद्ध सदा जयवंत हो॥"

—नाटक समयसार ४।

× × ×

"ध्यान अगनि कर कर्म-कलंक सबै दहे।
नित्य निरञ्जन देव 'स्वरूपी' ह्वै रहे॥
ज्ञायकके आकार ममत्व निवारि के।
सो परमातम 'सिद्ध' नमू सिर नायके॥"

—सिद्ध पूजासे।

अरिहन्त भगवान् विश्व-कल्याण निमित्त अपनी अनेकान्तमयी वाणीके द्वारा उपदेश देते हुए मनुष्य, पशु-पक्षी, देव आदि सभी प्राणियोंको परितृप्त करते हैं। संसार-समुद्रमें डूबते हुए जीवोंको सन्तरणका मार्ग बतानेके कारण उन्हें तीर्थंकर कहा करते हैं। ऐसे ही महा महिमाशाली लोकोत्तर आत्माको लोक-भाषामें अवतार पुरुष कहते हैं। जैनधर्ममें भगवद्गीताके अवतारवादका कोई सामञ्जस्य नहीं है। गीताकार बताते हैं कि, जब धर्मसे ग्लानि उत्पन्न होती है और अधर्मकी अभिवृद्धि होती है उस समय परमात्मा आकर उत्पन्न होते हैं। धर्मसंस्थापन और पापके विनाशार्थ कृष्ण कहते हैं कि—मैं प्रत्येक युगमें पुनः पुनः उत्पन्न होता हूँ।[1] जैनशासन परमात्माको सांसारिक जीवन धारण करनेकी बातको असंभव जानता है। राग, द्वेष, मोह आदि विकारोंसे अतीत वह परमात्मा क्यों आकर नीची अवस्थामें पहुँच मोहजालको रचता फिरेगा। आचार्य जिनसेनने लिखा है कि, जब जगत्में अनर्थ और पापका प्रवाह प्रचुर परिमाणमें बहने लगता है तब मानव-समाजमेंसे ही कोई विशिष्ट व्यक्ति अपनी आत्माको विकसित कर तीर्थङ्कर परमात्मा बनता है और विश्वहितप्रद उपदेश दे प्राणियोंका उद्धार करता है। अवतारवादमें परमात्माको साधारण मानवके धरातलपर उतारा जाता है, जब कि जैनदृष्टिमें साधारण मनुष्यको विकसितकर प्रबुद्ध महामानवके पद पर प्रतिष्ठित करा उस पुण्य-मूर्तिके द्वारा सार्वधर्मकी देशना बताई गई है।

---

१ "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ ६॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ ७॥" —गीता अ० ४।

इस प्रसङ्गमें यह भी बता देना उचित जँचता है कि साधु, उपाध्याय, आचार्य, अरिहन्त और सिद्ध इन पञ्च परमेष्ठी नामसे पूज्य माने जाने जाने वाले आत्माओंमें रत्नत्रयधर्मके विकासकी हीनाधिकताकी अपेक्षा भिन्नता स्वीकार की जाती है। वीतरागताका विकास जिन-जिन आत्माओं-में जितना-जितना होता जाता है, उतनी-उतनी आत्मामें पूज्यताकी वृद्धि होती जाती है। परिग्रहका त्याग किए बिना पूज्यताका प्रादुर्भाव नहीं होता। इस वीतराग दृष्टिके कारण ही जिनेन्द्र भगवान्‌की शान्त ध्यानमग्न मूर्तियोंमें अस्त्र-शस्त्र, आभूषण आदिका अभाव पाते हैं। इस सम्बन्धमें कविवर भूधरदासजीकी निम्न रचना काफ़ी आलोक प्रदान करती है—

"जो कुदेव छवि-हीन वसन भूषण अभिलावैं।
वैरी सों भयभीत होय सो आयुध राखैं॥
तुम सुन्दर सर्वांग, शत्रु समरथ नहि कोई।
भूषण, वसन, गदादि-ग्रहण काहे को होई॥ १९॥"

—एकीभावस्तोत्र।

इस प्रकार वस्त्राभूषण आदिरहित सर्वांग सुन्दर जिनेन्द्र मूर्तिमें कोई अन्तर नहीं मालूम होता। और, यथार्थमें देखा जाए तो कर्मोंका नाशकर, जो आत्मत्वका निर्माण होता है, वह व्यक्तिगत जीवनकी सङ्कीर्ण परिधिसे परिमुक्त होता है। उस अवस्थामें व्यक्तिगत नामधाम आदि उपाधियाँ दूर हो जाती हैं, और उनकी आराधनामें केवल उनके असाधारण गुणों पर ही दृष्टि जाती है। देखिए, एक मङ्गल पद्यमें जैना-चार्य क्या कहते हैं—

"मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥"

यहाँ किसी व्यक्तिविशेषका नामोल्लेखकर प्रणामाञ्जलि अर्पित नहीं की गई है। किन्तु, यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि जो भी आत्मा मुक्ति मार्गका नेता है, कर्म-पर्वतका विनाश करनेवाला है और सम्पूर्ण विश्व-तत्त्वोंका ज्ञाता है, उसे मैं प्रणाम करता हूँ। पूजनका यथार्थ ध्येय कोई लौकिक आकांक्षाकी तृप्ति नहीं। साधक परमात्मपदसे कोई छोटी वस्तुको स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं है; अत एव वह स्पष्ट भाषामें—'वन्दे तद्गुणलब्धये'—उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए मैं प्रणाम करता हूं—कहकर अपनी गुणोपासनाकी दृष्टिको प्रकट करता है।

अरिहन्त, सिद्ध आदिकी वन्दनामें भी यह गुणोपासनाका भाव विद्यमान है।

"णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं।"

आदि मन्त्र पढ़ते समय जैन दृष्टि स्पष्टतया प्रकट होती है। कारण इसमें किसी व्यक्तिका उल्लेख न कर वीतराग-विज्ञानतासे अलंकृत जो भी आत्मा हो, उन्हें प्रणाम किया है।

महाकवि धनञ्जयने लिखा है—भगवन्, जो आपकी स्तुति करते हुए आप अमुकके पिता अथवा अमुकके पुत्र हो यह कहकर आपकी महत्ताको बताते हैं और आपके कुलको कीर्तिमान् कहते हैं, वास्तवमें वे आपकी महत्ताको नहीं जानते। नाटक समयसारमें ही कहा है—

"जिन पद नाहिं शरीर कौ, जिन पद चेतन माहिं ॥२८॥"

कर्मबन्धनमें मुख्यता आत्माकी कषाय परिणतिकी रहा करती है। मलिन परिणामोंसे जीव पाप-कर्मका सञ्चय अधिक करता है और विशुद्ध परिणामोंसे वह पुण्य कर्मका अर्जन करता है। किन्हीं लोगोंने बन्धका कारण अज्ञान और मुक्तिका कारण ज्ञानको माना है। किन्तु,

यह कथन आपत्तिपूर्ण है। मोह-रहित अल्प भी ज्ञान कर्मबन्धका छेदन करनेमें समर्थ हो जाता है। परमात्मप्रकाशमें योगीन्द्रदेव लिखते हैं—

"वीरा वेरग्गपरा थोवं पि हु सिक्खिऊण सिज्झंति।
ण हि सिज्झंति विरागेण विणा पढिदेसु वि सव्वसत्थेसु॥"

वैराग्यसम्पन्न वीर पुरुष अल्प ज्ञानके द्वारा भी सिद्ध पदको प्राप्त करते हैं और सर्वशास्त्रोंका ज्ञाता वैराग्यके विना मुक्ति लाभ नहीं करता।

भावपाहुडमें कुन्दकुन्द स्वामीने लिखा है कि शिवभूति नामक अल्पज्ञानी—जिसप्रकार दाल और छिलके जुदे-जुदे हैं, इसी प्रकार मेरा आत्मा भी कर्मोंसे भिन्न है इस प्रकारके विशुद्ध भावसे—महा प्रभावशाली हो केवली भगवान् हो गए। स्वामी कहते हैं—

"तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ॥५३॥"

इस विषयको स्पष्ट करनेवाली प्रबोधपूर्ण कथा षट्प्राभृत टीकामें श्रुतसागर सूरिने इस भाँति बताई है कि—एक शिवभूति नामक परम विरागी अल्पज्ञानी सत्पुरुषने गुरुदेवके समीप महाव्रतकी दीक्षा ली। उन्हें शरीर और आत्मामें भिन्नताका अनुभव तो होता था, किन्तु इस विषयको सुदृढ़ करनेके लिए गुरुने सिखाया—'तुषात् माषो भिन्न इति यथा तथा शरीरात् आत्मा भिन्न इति।' एक समय शिवभूति इन शब्दोंको भूल गए। अर्थ जानते हुए भी शब्द नहीं जानते थे। एक समय उन्होंने एक स्त्रीको दाल बनानेके लिए पानीमें उड़दोंको डाल छिलकोंको पृथक् करते हुए देख पूछा 'किं कुरुषे भवति इति ?'—तुम यह क्या कर रही हो ? सा प्राह—'तुषमाषान् भिन्नान् करोमि'—'मैं दाल और छिलकोंको पृथक् करती हूं।' इतना सुनते ही शिवभूतिने कहा—'मया प्राप्तम्' मुझे तो मिल गया। इसके अनन्तर एक चित्त हो ध्यानमें

मग्न हो गए और 'अन्तर्मुहूर्तेन केवलज्ञानं प्राप्य मोक्षंगतः' अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो गए।[१]

स्वामी समन्तभद्र समर्थ युक्तिके द्वारा इस विषयको स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—यदि अज्ञानसे नियमतः बन्ध माना जाए, तो ज्ञेय अनन्त होनेसे कोई भी केवली नहीं होगा। कदाचित् अल्प-ज्ञानसे मोक्ष मान भी लें तो बहुत अज्ञानसे बन्ध हुए विना न रहेगा।"[२] ऐसी स्थितिमें समन्वयकारी मार्ग प्रदर्शित करते हुए आचार्यश्री लिखते हैं—मोहयुक्त अज्ञानसे बन्ध होता है, मोहरहित अज्ञान बन्धका कारण नहीं है। मोहरहित अल्प ज्ञानसे मुक्ति प्राप्त होती है और मोहयुक्त ज्ञानसे मुक्ति नहीं मिलती।[3]

इस विवेचनसे कोई यह मिथ्या अर्थ न निकाले कि जैन-शासनमें उच्च-ज्ञानको अनावश्यक एवं अग्राह्य बताया है। महान् शास्त्रोंके परिशीलनसे राग, द्वेष आदि विकार मन्द होते हैं, मनोवृत्ति स्फीत हो जीवन-ज्योतिको विशेष निर्मल बनाती है। स्वामी समन्तभद्रने उच्च ज्ञान सम्बन्धी एकान्त दृष्टिकी दुर्बलताको स्पष्ट किया है, अन्यथा अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग नामकी भावना द्वारा तीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धका जिनागममें वर्णन न किया जाता। बन्धतत्त्वके स्वरूपको हृदयङ्गम करनेके लिए यह जानना आवश्यक है कि मनोवृत्तिके अधीन बन्ध-अबन्धकी व्यवस्था है। ज्ञान और वैराग्यसम्पन्न व्यक्ति संसारके भोगोंमें तन्मय और आसक्त

---

१ षट्प्राभृत टीका पृ० २०१

२ "अज्ञानाच्चेद् ध्रुवो बन्धो ज्ञेयानन्त्यान्न केवली।
ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चेदज्ञानाद् बहुतोऽन्यथा ॥" —आप्तमीमांसा ९६।

३ "अज्ञानान्मोहिनो बन्धो न ज्ञानाद् वीतमोहतः।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥" ९८॥

नहीं बनता है। राग, द्वेष, मोह आदिकी भयङ्कर लहरोंसे व्याप्त इस संसार-सिन्धुमें सुज्ञ साधक निमग्न न हो तीरस्थ-बनकर विपत्तियोंसे बचता है। कारण—

"तीरस्थाः खलु जीवन्ति न तु रागाब्धिगाहिनः।"

बाह्य प्रवृत्तिमें कोई विशेष अन्तर न होते हुए भी वीतरागभाव विशिष्ट ज्ञानी और अज्ञानीमें मनोवृत्तिकृत महान् अन्तर है। इसलिए भोग, विषयादिके मध्यमें रहते हुए भी निर्मोही ज्ञानी कविके शब्दोंमें 'करत बन्धकी छटाछटी-सी।' उदाहरणके लिए बिल्लीको देखिए। अपने मुँहमें वह चूहेको दबाती है, उस मनोवृत्तिमें और जब वह उसी मुँहमें बच्चेको दबाती है, कितना अन्तर है। बच्चेको पकड़नेमें क्रूरता नहीं है, चूहेके पकड़नेमें महान् क्रूरता है। इसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानीकी भिन्न-भिन्न मनोवृत्तिके अनुसार कर्मबन्धनमें अन्तर पड़ता है।

मनोभावोंको समझानेके लिए जैन-सिद्धान्तमें एक सुन्दर रूपक बताया गया है। उसका वर्णन 'Statesman' कलकत्तामें श्रवण-बेलगोलाके जैनमठका उल्लेख करते हुए छपा था। उस वर्णनमें जैन-मठकी दीवालपर अङ्कित चित्रका इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है—

"The most interesting of these depicts is six men standing by a mango tree. They have hearts of various hues, corresponding to their respect for life. The black-hearted man tries to fall the tree, the indigo, grey and red hearted are respectively content with big boughs, small branch and tiny springs; the pink-hearted man merely plucks a

single mango, but the man with the white heart of perfection waits impatience for the fruit to drop."

इन चित्रोंमें सबसे अधिक मनोरञ्जक वह चित्र है जिसमें एक आमके वृक्षके नीचे छह व्यक्ति खड़े हुए अंकित हैं। उनके अन्तःकरणमें जीवनके प्रति जिस प्रकारका भाव है तदनुसार उनके अन्तःकरणके विविध वर्ण बताए गए हैं। कृष्ण अन्तःकरणवाला वृक्षको जड़मूलसे उखाड़नेके प्रयत्नमें लगा है। नील, कापोत और पीत मनोवृत्तिवाले क्रमशः बड़ी डाल, छोटी डाल और लघु उपशाखासे सन्तुष्ट हैं। पद्म मनोवृत्ति वाला केवल एक ही आम तोड़कर तृप्त है। किन्तु, शुक्ल अन्तःकरणवाला पूर्णमानव शान्तिपूर्वक गिरनेवाले फलकी प्रतीक्षा करता है।"

जैनशास्त्रोंमें उपर्युक्त व्यक्तियोंके मनोभावोंको 'लेश्या' नामसे वर्णित किया है। क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायोंसे अनुरञ्जित मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। जिस व्यक्तिकी शुक्ल, मनोवृत्ति होगी उसे आचार्य नेमिचन्द्र[1] 'पक्षपातरहित, आगामी भोगोंकी इच्छा न करनेवाला, सर्व जीवोंपर समान दृष्टि, राग-द्वेष तथा स्त्री-पुत्रादिमें स्नेहरहितपरणति-सम्पन्न बताते हैं। उपर्युक्त वृक्षके उदाहरणमें उस शान्त और सन्तुष्ट व्यक्तिका भाव बताया है कि वह वृक्षको तनिक भी पीड़ा विना पहुँचाए गिरनेवाले आमकी प्रतीक्षामें है। उसकी कितनी उच्च मनोवृत्ति है। ऐसे साधुचेतस्क व्यक्ति गृहस्थ होते हुए भी सबके द्वारा आदरपात्र होते हैं। उस व्यक्तिकी

१ "ण य कुणइ पक्खवायं ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसिं।
णत्थि य रायद्दोसा णेहोवि य सुक्कलेस्सस्स॥ ५१६॥"—गो० जी०।

तृष्णा, स्वार्थपरता और दुष्टताकी भी कोई सीमा है, जो अपनी मर्यादित आवश्यकताकी पूर्तिके सिवाय दूसरे बहुतोंकी आवश्यकताओंका सर्वदाके लिए संहार करनेपर उतारू हो वृक्षको जड़मूलसे उखाड़ना चाहता है। [1]गोम्मटसारमें ऐसे मनोवृत्तिवालेके चिह्न इस प्रकार बताए हैं। वह अत्यन्त उग्र स्वभावयुक्त, जीवन भर वैरको न भुलानेवाला, निन्दनीय भाषणकर्त्ता, करुणा-धर्म आदिसे हीन, दुष्ट और किसीके समक्ष नम्र न होनेवाला कहा गया है।

इन दोनों मनोवृत्तियोंके मध्यवर्ती जीवोंका वर्णन उक्त चित्रके द्वारा हो जाता है। सिवनीके विशाल जैन मन्दिरमें पूर्व वर्णित चित्रके सुन्दर भावको देख दो आगन्तुक हाईकोर्टके जजोंने मनोभावोंको व्यक्त करनेकी प्रवीणताकी हृदयसे सराहना की थी। मनोभावोंका सूक्ष्मतासे सफल सजीव चित्रण करनेमें जैन-शास्त्रकार बहुत सफल हुए हैं। और यह सफलता यांत्रिक आविष्कारोंकी अपेक्षा अधिक कठिन और महत्त्व-पूर्ण है। अपने राजयोगमें श्री विवेकानन्द लिखते हैं—"बहिर्जगत् की क्रियाओंका अध्ययन करना अधिक आसान है, क्योंकि उसके लिए बहुतसे यंत्रोंका आविष्कार हो चुका है, पर अन्तःप्रकृतिके लिए हमें किन यन्त्रोंसे सहायता मिल सकती है?"

इस कर्म-जालसे छूटनेके लिए आत्म-दर्शनके साथ विषयोंके प्रति निस्पृहता पूर्वक संयत जीवन व्यतीत करना आवश्यक है।

इस कर्म-सिद्धान्तसे यह बात स्पष्ट होती है कि वास्तवमें इस जीवका (शुभ-अशुभ कर्मके सिवाय) कोई अन्य न तो हित करता है और न अहित। मिथ्यात्व कर्मके अधीन होकर धर्म-मार्गका त्याग करनेवाला

---

१ "चंडो ण मुचइ वेरं भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ।
दुट्ठो णय एदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स ॥५०८॥" —गो० जी०।

देवता भी मरकर एकेन्द्रिय वृक्ष होता है। धर्माचरणरहित चक्रवर्ती भी सम्पत्ति न पाकर नरक में गिरता है। इसलिए अपने उत्तरदायित्वको सोचते हुए कि इस जीवका भाग्य स्व-उपार्जित कर्मों के अधीन है, धर्माचरण करना चाहिए और पाप-प्रवृत्तियोंसे बचना चाहिए। स्वामि कार्तिकेय मुनिराजने उपर्युक्त सत्य इस प्रकार प्रकाशित किया है—

"ण य को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणइ उवयारं।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि ॥ ३१९ ॥
देवो वि धम्मचत्तो मिच्छत्तवसेण तरुवरो होदि।
चक्की वि धम्मरहिओ णिवडइ णरए णसम्पदे होदि ॥ ४३३ ॥
धम्मं आयरह सया पावं दूरेण परिहरइ ॥ ४३५ ॥"

—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा।

आत्मजागृतिके साधन—तीर्थस्थल

सम्पूर्ण विश्वमें जो वातावरण है, वह प्रायः राग, द्वेष, मोहपूर्ण भावोंको प्रेरणा दिया करता है। यद्यपि समर्थ साधक विरोधी वातावरण-में भी विशेष आत्म-बलके कारण, आत्मसाधनाके क्षेत्रमें अबाधित गतिसे बढ़ता चला जाता है। किन्तु, मध्यम वृत्तिवाला मुमुक्षु योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप अनुकूल वातावरणके बिना अपने चित्तकी निर्मलता स्थिर रखनेमें बड़ी कठिनताका अनुभव करता है। इसी दृष्टिसे पंडित आशाधरजीने धार्मिक गृहस्थको अपनी साधनाके अनुकूल गृह तथा जीवन-सहचरीका सम्बन्ध मिलानेका मार्ग सुझाया है। वातावरणका मनोवृत्ति पर कम असर नहीं पड़ता। स्थलविशेष स्मृतिपटलके समक्ष

सदियों पहलेकी घटनाओंको उपस्थित कर देता है, जिससे जीवनमें कभी-कभी ऐसी प्रेरणा मिलती है, जो बड़े-बड़े ग्रन्थों, सन्तों, प्रवचनोंसे भी नहीं मिलती। यदि कोई सहृदय चित्तौरगढ़ पहुँचे, तो राणा प्रतापका अप्रतिम स्वातन्त्र्य-प्रेम, उत्कृष्ट देश-भक्ति तथा त्यागका सजीव चित्र हृदय-पटल पर अङ्कित हुए विना न रहेगा। जौहरव्रतके कारण पद्मिनी आदि हजारों वीराङ्गनाओंने अपने शीलको अक्षुण्ण रखते हुए सती बननेका जो अभूतपूर्व त्याग किया, वह कथा भी स्मरण-पथमें आकर पुरातन भारतकी पवित्र भावनाको जगाए विना न रहेगी। आजके राजनैतिक वातावरणसे प्रभावित व्यक्ति कदाचित् जालियांवाला-बागको देखने जाए, तो जनरल डायरके क्रूर-कृत्य और पराधीन भारतीयोंकी वेबसीकी स्मृति जागे विना न रहेगी।

इसी प्रकार आध्यात्मिक जागरणके क्षेत्रमें साधक उन स्थलोंका दर्शन करे और शान्तचित्त हो अपना कुछ समय वितावे, जहाँ तीर्थङ्कर आदि महापुरुषोंने विश्वके वैभवका परित्याग कर साम्यभावकी प्राप्तिनिमित्त क्रोधादि रिपुओंका संहार किया, तो उसकी आत्मामें विशेष बल उत्पन्न होगा और वह पवित्रताके पथमें प्रगति करनेके लिए पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त करेगा। हमारा मस्तिष्क विभिन्न संस्मरणरूपी रेलवे-लाइनोंके जंक्शन समान है। जिस ओरके रेल-पथपर स्मृतिके सहारे हमारे विचार-एञ्जिनने अपनी गाड़ी खींचना आरम्भ किया, संस्मरण हमें उसी दिशामें बढ़ाते हुए ले जाते हैं। सिनेमाकी राष्ट्र-भक्तिसे परिपूर्ण फिल्म देख दर्शकका हृदय देश-भक्तिके भावोंसे परिव्याप्त होता है और किसी धार्मिक खेलको देख उसकी आत्मा धार्मिकताके भावोंसे पूर्ण होगी।

लगभग आठ वर्ष हुए हमें विहार प्रान्तमें गयाके पास नवादा स्टेशनके समीपवर्ती गुणावा नामक जैन-तीर्थ पर पहुँचनेका अवसर

मिला। ट्रेनकी अनुकूलता न होनेके कारण हमें अनिच्छापूर्वक भी कुछ समय वहाँ ठहरना पड़ा। पीछे यह भान हुआ कि वहाँ रुकना दुर्भाग्य नहीं, बड़े सौभाग्यकी बात हुई। भगवान् महावीरके प्रमुख शिष्य तपस्वी-शिरोमणि इन्द्रभूति गौतम गणधरकी वह निर्वाणभूमि थी। उनके जीवनकी दिव्य स्मृतिसे आत्माको बहुत प्रकाश और प्रेरणा प्राप्त हुई। मन ही मनमें सोचने लगा, गौतम स्वामीका चरित्र बड़ा विचित्र है! जो व्यक्ति कुछ समय पूर्व अन्य दर्शनोंका पारगामी पंडित हो महावीर-शासनका भयङ्कर विरोधी बन स्वयं भगवान्‌से शास्त्रार्थमें दिग्विजय पानेकी नियतसे प्रभुके समवशरणके समीप पहुंचा और भगवान्‌के योगबलसे प्रभावित मनोज्ञ मानस्तम्भकी विभूतिको देख मानरहित हुआ और प्रभुके समीप पहुंचते-पहुंचते उस एकान्तीकी आत्मामें अनेकान्त-सूर्यकी सुनहरी किरणोंने प्रवेशकर हृदयमें छिपे हुए मोह-मिथ्यात्वके निविड़ अन्धकारको दूर कर दिया, जिससे वह गौतम प्रभुका भक्त बन गया! सम्पूर्ण परिग्रहका परित्याग कर दिगम्बरमुद्रा धारण की! अनेक ऋद्धियाँ उत्पन्न हो गईं! मनःपर्यय नामक महान् ज्ञानका उदय हुआ और अल्प कालमें ही उस आत्माने इतनी प्रगति की, कि वह आत्मसाधकोंकी श्रेणीमें प्रमुख बन श्रमणसंघका अधिपति–गणधर बना और भगवान् महावीरकी वाणीको विश्वमें सुनानेका तथा अनेकान्तकी पताका सर्वत्र फहरानेका सौभाग्य प्राप्त कर सका। तथा, अन्तमें पूर्ण साधना होने पर भगवान् महावीरके समान मुक्तात्मा हो गया। हमें प्रतीत हुआ, यदि व्यक्ति गौतमके समान हृदयसे प्रयत्न करे तो आज भी आत्मविकासके लिए व्यापक क्षेत्र विद्यमान है। आचार्य कहते हैं—रत्नत्रयसे शुद्ध हो यदि कोई जीव आत्मकल्याण करे तो आज भी वह व्यक्ति लौकान्तिक देव आदिके श्रेष्ठ पदोंको प्राप्त करके

हुए, फिरसे श्रेष्ठ मानवके रूपमें जन्म धारण कर तप साधनाके प्रभावसे निर्वाणको प्राप्त करेगा।[1]

जैन-आगमसे ज्ञात होता है कि समर्थ-साधक मरणकर निर्वाणके योग्य विदेह सदृश भूमिमें जा जन्म लेकर ७ वर्ष ३ माह अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञानके लोकातिशायी आत्म-वैभवको प्राप्त कर सकता है। गुणावा क्षेत्रने ऐसे बहुतसे विचारों द्वारा हमारी आत्माको प्रबुद्ध किया—शान्ति प्रदान की। वे विचार अन्य स्थान पर नहीं मिले। वहाँ उन विचारोंके पोषणयोग्य सामग्री थी। वातावरण यह विचार उत्पन्न करता था कि यह वही स्थान है, जहाँ योगियोंके द्वारा भी वन्दनीय श्रमणोत्तम ब्रह्मज्ञानी गौतमने अपनी साधनाका सुमधुर फल निर्वाण प्राप्त किया था। इस प्रकार तीर्थंकरोंके जीवनसे सम्बन्धित पवित्र स्थानोंकी यात्रा पुण्य-संवर्धनमें निमित्त बना करती है। सागारधर्मामृतमें पंडित आशाधरजी गृहस्थको तीर्थ वन्दना निमित्त प्रेरणा करते हुए लिखते हैं—

"स्थूललक्षः क्रियास्तीर्थयात्राद्या दृग्विशुद्धये।" —२।८४।

—गृहस्थ अपने तत्त्वज्ञानकी विशुद्धि निमित्त तीर्थयात्रादि क्रियाओंको करे। यहाँ 'दृग्विशुद्धये' शब्द द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि, तीर्थ-वन्दना आत्म-निर्मलताके प्रधान अङ्ग सम्यग्दर्शनको परिपुष्ट करती है। समाधि-मरणके लिए उद्यत साधक श्रावक अथवा साधुको ऐसे स्थानका आश्रय लेनेको कहा है कि जो जिनेन्द्र भगवान्‌के गर्भ, जन्म, तप, कैवल्य तथा निर्वाण इन पाँच कल्याणकोंसे पवित्र हुए हों। यदि कदाचित् उसका लाभ न हो तो योग्य मन्दिर-मठ आदिका आश्रय ले। कदाचित्

१ "अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाऊण लहदि इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति॥"
—मोक्षप्राभृतमें कुन्दकुन्द स्वामी

तीर्थयात्राके लिए प्रस्थान करने पर मार्गमें ही मृत्यु हो जाय तो भी उस आत्माके महान् कल्याणमें बाधा नहीं आती। क्योंकि उसकी भावना तीर्थवन्दना द्वारा आत्माको पवित्र करनेकी थी। देखिए, पं० आशाधरजी क्या लिखते हैं—

"प्रायार्थी जिनजन्मादिस्थानं परमपावनम्।
आश्रयेत्तदलाभे तु योग्यमर्हद्गृहादिकम्॥ २९॥
प्रस्थितो यदि तीर्थाय म्रियतेऽवान्तरे तदा।
अस्त्येवाराधको यस्माद्भावना भवनाशिनी॥ ३०॥"

—सागारधर्मामृत, अ० ८।

इस प्रसङ्गमें भर्तृहरि का यह कथन—'शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् (२।५५)—यदि मन पवित्र है तो तीर्थकी क्या आवश्यकता है?' विरोधी नहीं है। तीर्थ मानसिक पवित्रताका साधन है। तीर्थ वन्दना स्वयं साध्य नहीं। मानसिक निर्मलताका अङ्ग है। जिनके पास वह दुर्लभ पवित्रता नहीं है, उनके लिए वह विशेष अवलम्बन रूप है। तीर्थवन्दना यदि भावोंकी पवित्रताका रक्षण करते हुए न की गई तो उसे पर्यटनके सिवाय वास्तविक तीर्थवन्दना नहीं कह सकते। जनताके समक्ष तीर्थ नामसे ख्यात बहुतसे स्थान हैं। उनमें सभी स्थल सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र समन्वित महान् योगीश्वरोंकी साधना द्वारा पवित्र नहीं हैं। जो रागी, द्वेषी, कुगुरुओंके जीवनसे सम्बद्ध हैं, वे कुतीर्थ कहे जा सकते हैं। उनकी वन्दना मिथ्यात्वकी अभिवृद्धि करेगी। इसलिए श्रेष्ठ अहिंसकोंके जीवनसे पवित्र तीर्थोंमें जा अपने जीवनको परिमार्जित बनाना विवेकी साधकका कर्तव्य है।

महान् देव भगवान् ऋषभदेवने कैलाश पर्वतपर तपश्चर्या करके निर्वाण प्राप्त किया इसलिए सभी साधक उस कैलासगिरिको प्रणाम

करते हैं। उसे अष्टापद भी कहते हैं। विहार प्रान्तके भागलपुर नगरका पुरातन कालमें चम्पापुर नाम था। वहांसे बारहवें तीर्थङ्कर बाल ब्रह्मचारी भगवान् वासुपूज्यने निर्वाण प्राप्त किया था। सौराष्ट्र-गुजरातकी जूनागढ़ रियासतमें अवस्थित ऊर्जयन्त गिरिसे भगवान् नेमिनाथ प्रभुने मुक्ति प्राप्त की। इस गिरिको रैवतक पर्वत भी संस्कृत साहित्यमें कहा गया है। हिन्दीमें गिरनार पर्वत नाम प्रसिद्ध है। अतिशय उन्नत होनेके कारण स्वामी समन्तभद्रने इसे **'मेघपटलपरिवीततटः'** कहा है। और उसके आकार-विशेषको लक्ष्यमें रखते हुए **'भुवः ककुदम्'**—पृथ्वीरूपी वृषभका ककुद कहा है। धवला टीका पृ० ६७-१। इस पर्वतके समीपवर्ती नगरको **'गिरिणयर पट्टण'** बताया है। पर्वतका नाम गिरिंनगर से गिरनार रूपमें कालक्रमसे परिवर्तित हुआ प्रतीत होता है। महाभारतके पुरुष श्री कृष्णके चचेरे भाई भगवान् नेमिनाथ बाईसवें तीर्थङ्करकी तपश्चर्या और मुक्तिसे यह पर्वत पवित्र होनेके कारण न केवल जैनों द्वारा ही वन्दनीय है, बल्कि अन्य सम्प्रदायोंके द्वारा अपने ढंग पर पूज्य बनाया जाकर तीर्थ माना जाने लगा है। प्रधानतया जैन संस्कृतिसे विशिष्ट सम्बन्ध होनेके कारण यह अतिशय पवित्र जैन तीर्थ माना जाता है। जिन नेमिनाथ भगवान्की आत्म-जागरण गाथासे इस पत्थरका कण-कण पवित्र है, उन हरिवंशशिरोमणि अरिष्टनेमि जिनेन्द्रका चरित्र, करुणा और विश्वमैत्रीकी दृष्टिसे अपना लोकोत्तर स्थान रखता है। नेमिनाथ भगवान्के विवाहका मङ्गल महोत्सव मनानेके लिए सौराष्ट्र देश समुद्यत हो रहा था कि इतनेमें विवाहके जुलूसके समय वरराज नेमिनाथ भगवान्ने पशुओंका करुण क्रन्दन सुना और देखा कि मृग आदि पशु करुण स्वरसे दीन दृष्टि डालते हुए रुदन कर रहे हैं। उस समय गुणभद्राचार्यके शब्दोंमें नेमिनाथने पशु-रक्षकोंसे पूछा—

"किमर्थमिदमेकत्र निरुद्धं तृणभुक्कुलम् ?"

—उत्तरपुराण १६२, पृ० ५०१।

किसलिए ये वेचारे तृण भक्षण करनेवाले यहाँ अवरुद्ध किए गए हैं?" उत्तरमें यह बताया गया कि—

"देवैत्तद्वासुदेवेन त्वद्विवाहमहोत्सवे ।
व्ययीकर्तुमिहानीतमित्यभाषत तेऽपि तम् ॥ १६३ ॥

देव, आपके विवाह महोत्सवमें वासुदेवकी आज्ञासे लोगोंके सत्कार निमित्त यह यहां रखे गए हैं।" इस प्रकृतिकी पुस्तकने नेमिनाथके अन्तःकरणमें करुणाके सूर्यको उदित कर दिया। वे सोचने लगे, ये वेचारे निर्दोष प्राणी घास चरते हैं और वनमें रहते हैं, इतनेपर भी अपने भोगनिमित्त लोग इन्हें इस प्रकार कष्ट देते हैं। अहो! तीव्र मिथ्यात्वके वशीभूत हो मूर्ख जन निष्ठुर वन क्या नहीं करते! इसके साथ नेमिनाथ प्रभुने इस प्रकरणमें कृष्णकी गुप्त वृत्ति भी जान ली। संसार उन्हें क्षण-भङ्गुर और स्वार्थपूर्ण दीखने लगा। उन्होंने सोचा, अव तो राजीमती राजकन्याके साथ विवाह न कर मुक्तिश्रीका वरण करूँगा। निर्दयतासे शुष्क अन्तःकरणोंमें करुणाकी धारा प्रवाहित करनेके लिए सब वैभवका परित्याग कर उन्होंने ऊर्जयन्त गिरिपर दीक्षा ली और तपस्वियोंके शिरोमणि वने। सो उधर राजपत्नी बननेवाली शीलवती देवी राजीमतीने भी जीवननाथ नेमिनाथका पदानुसरण कर साध्वीकी दीक्षा ली और साध्वी-जगत्में श्रेष्ठपदको प्राप्त किया। इन पुण्य विभूतियोंने गिरिनार पर्वतको अपने त्याग और तपश्चर्या द्वारा पवित्र स्थान वना दिया। इतिहासकी भाषामें गिरनार पर्वत जैन संस्कृतिके समाराधकोंका महान् स्थल आजसे लगभग दो हजार वर्ष पूर्व तक भी रहा आया है। क्योंकि गिरिनार पत्तनकी चन्द्रगुफामें विद्यमान आचार्य

धरसेनने प्रवचन वात्सल्यके कारण भूतबलि और पुष्पदन्तको षट्खण्डागम शास्त्रका अभ्यास कराया था, जिसे अवधारण कर उक्त मुनि-युगलने अत्यन्त पूज्य षट्खण्डागम शास्त्रकी रचना की।[1]

गिरनार पर्वतके साथ नेमिनाथ भगवान्‌की परमकारुणिक वृत्ति और त्यागका संस्मरण आए विना नहीं रहता। गौतमबुद्धके हृदयमें करुणाका रस मूक पशुओंको देखकर नहीं उत्पन्न हुआ था कि जिसकी प्रेरणासे उन्होंने बुद्धत्वके लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया। दीन प्राणियोंके व्यथित जीवनके प्रति सच्ची सहानुभूति दिखानेवाले रागके सु-मधुर चौराहेसे मुख मोड़ विरागताके शैलशिखरपर चढ़नेवाले भगवान् नेमिनाथ और उनकी सह-धर्मिणी बननेवाली सती राजीमती-जैसा आदर्श संसारमें कहाँ मिलेगा? ऐसे आदर्शोंका मौन भाषामें मधुर स्मरण करानेवाला यह ऊर्जयन्त गिरि क्यों न वन्दनीय होगा?

भगवान् महावीरके जीवनका इतिहास और उनके त्यागकी अमर कहानी विहार-प्रान्तके पावापुर ग्राममें विद्यमान सरोवरस्थ धवल जिन मन्दिरमें मिलती है। जिस स्थलको प्रभुने अपने निर्वाण-कल्याणकके द्वारा नरामर-वन्दनीय बना दिया, वह विहारशरीफ़ नामक स्टेशनसे ६-७ मीलपर है। वहाँसे भगवान्‌ने कार्तिक कृष्णा अमावस्याके प्रभातमें कर्मोंका नाश कर मोक्ष प्राप्त किया था। पावापुरीका वातावरण बहुत शान्त, पवित्र और उज्ज्वल विचारोंका उद्बोधक है। यह स्मरण रखना चाहिए कि विचारशील व्यक्तिके लिए ही ये सब साधन कल्याणकारी होते हैं। किन्तु विवेकविहीन व्यक्तियोंकी मोह-निद्रा प्रयत्न करनेपर भी दूर नहीं होती।

---

१ षट्खंडागम भाग १, पृ० ६७, ७०।

प्राकृत निर्वाणकाण्डमें पूर्वोक्त चार तीर्थंङ्करोंकी आत्मस्वातंत्र्य-उपलब्धिकी भूमियोंका इन सुन्दर शब्दोंमें संस्मरण तथा वन्दन किया गया है—

"अट्ठावयम्मि उसहो चंपाए वासुपुज्ज जिणाहो ।
उज्जंते णेमिजिणो पावाए णिव्वुदो महावीरो ॥ १ ॥"

वृषभनाथने अष्टापद (कैलाश) से, वासुपूज्य जिनेन्द्रने चम्पापुरीसे, नेमिनाथने ऊर्जयन्त गिरिसे और पावापुरीसे महावीर भगवान्ने निर्वाण प्राप्त किया ।

भगवान् अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ और पार्श्वनाथने विहार प्रान्तमें विद्यमान सम्मेद शिखर—जिसे पारसनाथ-हिल कहते हैं—से निर्वाण प्राप्त किया है । इसीलिए निर्वाण भक्तिमें आचार्य कहते हैं—

"वीसं तु जिणवरिंदा अमरासुररिंदंदावंदिधुदकिलेसा ।
सम्मेदे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥"

—देव और मनुष्यादिके द्वारा वन्दनीय कर्मक्लेश रहित, बीस जिनेन्द्रोंने सम्मेद पर्वतके शिखरसे निर्वाण प्राप्त किया, उन सबको नमस्कार हो ।

यह पर्वत शिखरजीके नामसे जैन समाजमें प्रख्यात है । प्रीवी कौंसिलकी अपील नं० १२१ के सन् १९३३ पर दिए गए फैसलेमें पर्वतके विषयमें यह बात विदित होती है—"पार्श्वनाथ पर्वतपर जो जिन-मन्दिर हैं, वे निस्सन्देह बहुत प्राचीन हैं । किन्तु उनके इतिहासका अथवा उस समयका, जब कि सम्पूर्ण पर्वतके विषयमें पवित्रतासम्बन्धी

पवित्र विचार सर्व प्रथम माने गए, बहुत कम ज्ञान है। ......पर्वत स्वयं २५ वर्ग-मील विस्तारमें है और उसकी सबसे ऊंची चोटी ४५ सौ फुट पर है। लेफ्टिनेंट बीडल, जो उस स्थानको सन् १८४६ ई० में गए थे, की रिपोर्टके अनुसार वह झाड़ों तथा घने जङ्गलसे ढँका हुआ था और जङ्गली जानवरोंसे भरा हुआ था। उसमें मनुष्य नहीं रहते थे। हां, कुछ सन्थालोंकी—जंगली लोगोंकी झोपड़ियां थीं, जो पर्वतके नीचेके भागपर थीं।" आगे चलकर बीडल साहबने १८४६ ई० में यह भी लिखा है कि—"पर्वतपर प्रतिवर्ष जनवरी मासमें एक पक्ष पर्यन्त एक धार्मिक मेला भरा करता था और पूजकोंकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए दूकानदार अनाज या दूसरी चीज़ें लेकर चढ़ते थे।"

महाकवि बनारसीदासजीके अर्धकथानकमें संवत् १६६१ में शिखरजीकी यात्राका वर्णन है, जिससे तत्कालीन सामाजिक व्यवहारका भी पर्याप्त बोध होता है—

"साहिब साह सलीम कौ, हीरानंद मुकीम।
ओसवाल कुल जौहरी, बनिक वित्तकी सीम ॥ २२४ ॥
तिन प्रयागपुर नगर सौं, कीनौ उद्यम सार।
संघ चलायौ सिखरकौ, उतरयौ गंगा पार ॥ २२५ ॥
ठौर-ठौर पत्री दई, भई खबर जित तित्त।
चीठी आई सेन कौं, आवहु जात्त-निमित्त ॥ २२६ ॥
खरगसेन तब उठि चले, ह्वै तुरंग असवार।
जाइ नंदजी कौं मिले, तजि कुटंब घरबार ॥ २२७ ॥

× × ×

संवत सोलह सै इकसठे। आए लोग संघ सौं नठे ॥
केई उबरे केई मुए। केई महा जहमती हुए ॥२३९॥

खरगसेन पटनें मौं आइ। जहमति परे महा दुख पाइ॥
उपजी विथा उदरके रोग। फिरि उपसमी आउ बलजोग॥२४०॥

× × ×

संघ फूटि चहुं दिसि गयौ, आप आपकौ होइ।
नदी नाव संजोग ज्यौं, बिछुरि मिलै नहिं कोइ॥ २४३॥

इस यात्रामें लगभग सात मासका समय व्यतीत हुआ था, ऐसा प्रतीत होता है। जब संघ ग्रीष्ममें रवाना हुआ था, तब शिखरजीसे लौटते हुए बीमारीका खास कारण वर्षाजनित जलकी खराबी ही रही होगी। इस यात्रामें ७–८ माहका समय लगा ऐसी कल्पना हमने इसलिए की कि उस बीच बनारसीदासजी अपना हाल लिखते हैं, कि—

"खरगसेन जात्राकौं गए। बानारसी निरंकुश भए॥
करै कलह माता सौं नित्त। पार्श्वनाथकी जात निमित्त॥२२८॥
दही दूध घृत चावल चने। तेल तंबोल पहुप अनगिने॥
इतनी वस्तु तजी ततकाल। खन लीनौ कीनौ हठ-बाल॥२२९॥
चैत महीनै खन लियौ, बीते मास छ सात।
आई पून्यौ कातिकी, चले लोग सब जात॥२३०॥"

"श्री सम्मेद सिखिरकी यात्राका समाचार" नामक हस्त लिखित ११ पृष्ठ वाली पुस्तिकासे विदित होता है कि, संवत् १८६७ में कार्तिक वदी ५ बुधवारको कोई साहु धनसिंहजीके नेतृत्वमें मैनपुरीसे २५० बैलगाड़ियाँ और करीब १ हजार यात्री शिखरजीकी वन्दनाको निकले थे। जिस दिन संघ निकला था उस दिन मैनपुरीमें रथयात्रा हुई थी। संघमें धर्म-साधन निमित्त आदिनाथ भगवान्की मनोज्ञ प्रतिमा विराज-

मान की गई थी। रथयात्रामें बल्लमधारी सिपाही आदि भी थे। बनारसमें भेलूपुराके मन्दिरके निकट संघ ठहरा था। पावापुरी पहुँचकर संघने जलमन्दिरके समीप आश्रय लिया था। राजगृही, गुनावा आदिकी वन्दना करते हुए वसंत-पंचमीको संघने सम्मेदशिखरकी वन्दना की और पर्वतसे लौटकर मधुवनमें धर्मोत्सव मनाया, रथयात्रा निकाली जिसमें पालगञ्जके राजा भी सम्मिलित हुए थे। माघ सुदी १५ को संघने मधुवन से प्रस्थान किया।"[1]

उपर्युक्त दोनों यात्रा-संघ विवरणोंसे उस भ्रमका निवारण हो जाता है जो प्रीवी कौन्सिलकी अपील नं० १२१ में लेफ्टिनेंट बीडल साहबने सन् १८४६ (सं० १९०३) में शिखरजीके पर्वतको जंगली जानवरों, घनी झाड़ियों आदिसे व्याप्त बताया था और लिखा था कि वहाँ मनुष्य नहीं रहते थे। बीडल महाशयका भाव यह रहा होगा कि पर्वत पर लोग नहीं रहा करते थे। तीर्थ यात्रियोंका आवागमन उनके बहुत पहिलेसे पूर्वोक्त विवरणसे स्पष्ट हो जाता है।

सम्मेदशिखर पर्वत पर यात्री लोग मुक्त होनेवाले आत्माओंके चरण चिह्न (Foot Print) की पूजा करते रहे हैं। श्वेताम्बर जैनोंकी ओरसे कुछ टोंकोंके चरण-चिन्ह बदल दिए गए थे, जिससे प्रीवी कौन्सिलमें दिगम्बर जैनियोंने यह आपत्ति उपस्थित की थी कि चरणोंकी पूजा हमारे यहाँ वर्जित है क्योंकि वे खण्डित मूर्तिके अङ्ग सिद्ध होते हैं। प्रीवी कौन्सिलके जजोंका निम्न वर्णन पाठकोंको विशेष प्रकाश प्रदान करेगा—

"श्वेताम्बरी लोगोंने जो चरणोंकी स्वयं पूजा करना पसन्द करते हैं—दूसरे तरहके चिह्न बना लिए हैं, जिसे नमूना अथवा फोटो नहीं होनेसे,

१ जैन सिद्धान्तभास्कर भाग ४ किरण ३, पृ० १४८।

ठीक तौरपर बताना बहुत सरल नहीं है, जो अंगूठेके नखोंको बताते हैं और जिन्हें पैरके एक भागका सूचक समझना चाहिए। दिगम्बरी लोग इसे पूजनेसे इनकार करते हैं, क्योंकि यह मनुष्यके शरीरके पृथक् अङ्गका सूचक है। दोनों मातहत अदालतोंने यह फैसला किया, कि श्वेताम्बरोंका यह कार्य, जिसमें उन्होंने तीन मन्दिरोंमें उक्त प्रकारके चरण बनाए, एक ऐसी बात है कि जिसके बाबत शिकायत करनेका दिगम्बरियोंको हक है।" —(फैसलेका हिन्दी अनुवाद पृ० १७)

यह पर्वत तीर्थंकरोंकी निर्वाणभूमि होनेसे विशेष पूज्य माना जाता है इसके सिवाय अगणित साधकोंने वहाँ रहकर राग, द्वेष और मोहका नाश कर साम्यभावकी सहायता ले मुक्ति प्राप्त की, इस कारण जैन तीर्थोंमें इस पर्वतका सबसे अधिक आदर किया जाता है। सम्मेदशिखर पूजा-विधानमें लिखा है—

"सिद्धक्षेत्र तीरथ परम, है उत्कृष्ट सुथान।
शिखरसम्मेद सदा नमहु, होय पाप की हान॥
अगणित मुनि जहँ तैं गए, लोक शिखर के तीर।
तिनके पद पंकज नमों, नासैं भव की पीर॥"

मैसूर राज्यके हासन जिलामें श्रवणबेलगोला, निर्वाणभूमि न होते हुए भी, भगवान् गोम्मटेश्वर-बाहुबलीकी ६० फीट ऊँची भव्य तथा विशाल मूर्तिके कारण अतिशय प्रभावक तथा आकर्षक तीर्थस्थल माना जाता है। वह स्थान हासन स्टेशनसे ३२ मील, मैसूरसे ६० मील तथा बैंगलोरसे ९० मीलकी दूरीपर अवस्थित है। सर मिर्जा इस्माइलने मैसूरके दीवानकी हैसियतसे दिए गए अपने एक भाषणमें कहा था,—'सम्पूर्ण मैसूर राज्यमें श्रवणबेलगोल सदृश अन्य स्थान नहीं है, जहाँ सुन्दरता तथा भव्यताका मनोज्ञ समन्वय पाया जाता हो।' वह जैनतीर्थ होनेके

साथ विश्वके कलाकारों तथा कलाप्रेमियोंके लिए दर्शनीय तथा अभिवंदनीय स्थल है। उस स्थानमें श्रमणशिरोमणि बाहुबली स्वामीकी लोकोत्तर मूर्ति विद्यमान है तथा वहाँका बेलगोल-सरोवर भी महत्त्वपूर्ण है। इस कारण श्रमण तथा बेलगोल समन्वित उस भूमिको श्रमणबेलगोला कहते हैं। जिस पर्वतपर मूर्ति विराजमान है वह भूतलसे ४७० फीट ऊँचाई पर है। समुद्रतलसे ३३४७ फीट ऊँचा है। पर्वतका व्यास २ फर्लांगके लगभग है। पहाड़ पर चढ़नेके लिए लगभग ५०० सीढ़ियाँ पहाड़में ही उत्कीर्ण हैं। प्रवेशद्वार बड़ा आकर्षक है। अन्य पर्वतोंके समान दूरसे रमणीयता और समीपमें भीषणतारूप विषमता यहाँ नहीं है। वह चिकना, ढालसमन्वित बढ़िया पाषाणयुक्त है।

दर्शक जब भगवान् गोम्मटेश्वरकी विशाल मनोज्ञ मूर्तिके समक्ष पहुँच दिगम्बर शांत जिनमुद्राका दर्शन करता है तब वह चकित हो सोचता है—'अहा! मैं दुःखदावानलसे बचकर किस महान् शांतिस्थलमें आ गया हूँ।' वहाँ आत्मा प्रभुकी मुद्रासे विना वाणीका अवलंबन ले मौनोपदेश ग्रहण करता है। हजारों वर्ष प्राचीन मूर्ति दर्शकको प्रायः नवीन निर्मित मूर्ति-सी प्रतीत होती है। सभी ऋतुएँ आकर भगवान्का हृदयसे स्वागत करती हैं। कारण मूर्तिके ऊपर किसी भी प्रकारकी छाया नहीं है, जो सूर्य, चन्द्र और वर्षा आदि ऋतुओंको प्राकृतिक मुद्राधारी प्रभुके समादर अथवा दर्शनमें अंतराय उपस्थित कर सके।

बारहवीं सदीके बोप्पण पण्डित नामक कन्नड़ विद्वान्ने नक्षत्रमालिका नामकी पद्यरचनामें भगवान्का सुन्दर वर्णन करते हुए एक पद्यमें बड़ी मार्मिक बात कही है—'अत्यन्त उन्नत आकृतिवाली वस्तुमें सौन्दर्यका दर्शन नहीं होता, जो अतिशय सुन्दर वस्तु होती है वह अतीव उन्नत आकारवाली नहीं होती। किन्तु, गोम्मटेश्वरकी मूर्तिमें यह

लोकोत्तरता है कि वह अत्यन्त उन्नत होने पर भी अनुपम सौंदर्यसे विभूषित है।' मैसूर राज्यके पुरातत्त्व विभागके डायरेक्टर डॉ० कृष्णा एम० ए०, पी० एच० डी० लिखते हैं—"शिल्पीने जैनधर्मके सम्पूर्ण त्यागकी भावना अपनी छैनीसे इस मूर्तिके अङ्ग-अङ्गमें पूर्णतया भर दी है। मूर्तिकी नग्नता जैन धर्मके सर्वस्व त्यागकी भावनाका प्रतीक है। एकदम सीधे और उन्नत मस्तक युक्त प्रतिमाका अङ्गविन्यास आत्म-निग्रहको सूचित करता है। होठोंकी दया-मयी मुद्रासे स्वानुभूत आनन्द और दुखी दुनियाके साथ सहानुभूतिकी भावना व्यक्त होती है।"

'Picturesque Mysore' नामक पुस्तकमें मूर्तिके विषयमें लिखा है—एक विशाल पाषाणको काटकर मूर्ति बनाई गई है। अज्ञात शिल्पीके हाथसे उस पाषाणके रूक्षस्तरमेंसे शान्त और दिव्य स्मित अङ्कित साधुकी मनोज्ञ मूर्ति निर्मित हुई। इस महान् कार्यमें कितना श्रम लगा होगा, यह बात दर्शकको आश्चर्यमें डाल देगी और वह इस बातको जाननेकी उलझनमें फँस जाएगा कि क्या यह मूर्ति इस पर्वतकी रही है अथवा वह जहाँ अभी अवस्थित है, वहाँ बाहरसे लाई गई है। नहीं कह सकते कि, चट्टान वहाँ उपलब्ध हुई अथवा लाई गई। फरग्यूशन नामक विख्यात शिल्प-शास्त्रीका कथन है—"इजिप्तके बाहर कहीं भी इतनी विशाल और भव्य मूर्ति नहीं है। वहाँ भी ऐसी कोई मूर्ति ज्ञात नहीं है जो इस मूर्तिके द्वारा प्रदर्शित पूर्ण कला तथा ऊँचाईमें आगे बढ़ सके।"[1]

१ The image is cut out of a huge boulder and its rough surface has been made to yield by the hand of an unknown artist, an exquisite statue with the calm and beatific smile of a saint. The visitor would be astonished at the amount of labour such a prodigious work must have entailed and would

कहा जाता है कि गंगनरेशके पराक्रमी मन्त्री गोम्मटराय—चामुण्डरायके निमित्तसे उनके ईश्वर—गोम्मटेश्वरकी मूर्तिका निर्माण हुआ था। किन्तु जनश्रुति और परम्परागत कथानकसे इस मूर्तिका निर्माण इतिहासातीत कालका बताया जाता है। जिन बाहुबली स्वामीकी यह मूर्ति है, वे चक्रवर्ती सम्राट् भरतके अनुज और भगवान् ऋषभदेवके प्रतापी पुत्र थे। पोदनपुरका वे शासन करते थे। उन्होंने चक्रवर्ती भरतको भी पराजित किया था। किन्तु भरतके जीवनमें राज्यके प्रति अधिक ममत्व देख और विषयभोगोंकी निस्सारताको सोच उन्होंने दिगम्बरमुद्रा धारणकर मुक्ति प्राप्त की। उनकी मूर्तिमें भी उनका लोकोत्तर चरित्र और विश्वविजेतापन पूर्णतया अङ्कित प्रतीत होता है। यही कारण है कि बड़े-बड़े राजा महाराजा तथा देश-विदेशके प्रमुख पुरुष प्रभुकी प्रतिमाके पास आकर अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित करते हैं। मूर्तिमें बाहुबलीकी महान् तपश्चर्या अङ्कित की गई है। वे एक वर्ष पर्यन्त खड्गासनसे तपश्चर्या करते रहे, इसलिए लता, सर्प आदिने उनके प्रति स्नेह दिखाया। मूर्तिमें भी माधवी लता और सर्पका सद्भाव इस बातको ज्ञापित करते हुए प्रतीत होते हैं कि महा मानव बाहुबली विश्व-बन्धु हो गए हैं। इसलिए हर एक प्राणी उनके प्रति आत्मीय भाव धारण कर अपना स्नेह व्यक्त करता है। मूर्तिके दर्शनसे आत्मामें यह बात अङ्कित हुए बिना नहीं रहती कि अभय और कल्याणका सच्चा और अद्वितीय

---

be puzzoled to know whether the statue was part of the hill itself or had been moved to the spot where it now stands. Whether the rock was found in situ or was moved "nothing grandeur" says Fergusson, "or more imposing exists anywhere out of Egypt and even there, no known statue surpasses it in height or excels it in the perfection of art it exhibits." p. 23.

मार्ग सम्पूर्ण परिग्रहका परित्याग कर बाहुबली स्वामीकी मुद्राको अपनानेमें है। विपत्तिका मार्ग भोग, परिग्रह, हिंसा तथा विषयासक्तिमें है और कल्याणका प्रशस्त पथ अन्तःबाह्य-अपरिग्रह, अहिंसा और आत्मनिमग्नताकी ओर अपने जीवनको प्रेरित करनेमें है। लेखनीकी और वाणीकी भी सामर्थ्य नहीं है कि मूर्तिके पूर्ण प्रभाव और सौंदर्यका वर्णन कर सके। दर्शनजनित आनन्द वाणीके परे है। विहाररत्न बाबू राजेन्द्रप्रसादजीने उस दिन हमें गोम्मटेश्वरके दर्शनका उल्लेख करते हुए मूर्तिके विषयमें यह सूत्र वाक्य कहा था कि—"मूर्ति अद्भुत है।"

निर्वाणभूमि होनेके कारण पटना, सिद्धवरकूट (होल्कर स्टेट) गजपंथा (नासिक), द्रोणगिरि, नयनगिरि (बुन्देलखंड), सोनागिरि (दतिया स्टेट), बड़वानी (स्टेट), कुंथलगिरि (जिला उस्मानाबाद निज़ाम), मुक्तागिरि (अमरावती), पावागढ़ (बड़ौदा स्टेट), गुणावा (गया) और मांगीतुंगी (मालेगांव, बम्बई प्रान्त) आदि प्रख्यात तथा पूज्य स्थल हैं कारण यहाँसे बहुत ही पवित्रात्माओंने रत्नत्रय धर्मकी आराधनाकर निर्वाण प्राप्त किया है। मांगीतुंगी क्षेत्रसे रामचंद्रजी हनुमान्जी आदि महापुरुषोंने मुक्ति प्राप्त की। इस क्षेत्रकी पूजामें लिखा है :—

"गंगाजल प्रासुक भर झारी, तुव चरनन ढिग धारों,
परिग्रह तिसना लगी आदि की, ताको ह्वै निरवारो।
राम हनू सुग्रीव आदि जे, तुंगी गिरि थित थाई,
[1]कोडि निन्यानवे मुकत गए मुनि, पूजो मन वच काई॥"

—सिद्धक्षेत्र पूजा संग्रह पृ० ७९

---

१ "रामहणूसुग्गीओ गवयगवाक्खो य णीलमहणीलो।
णवणवदीकोडीओ तुंगीगिरि णिव्वुदे वंदे॥ ८॥". —प्राकृत निर्वाणकाण्ड।

रामका चरित्र वर्णन करनेवाले मनोहर महाकाव्य जैनपद्मपुराण (पर्व १२२ श्लोक ६७) से विदित होता है, कि माघ सुदी १२ की रात्रिके अंतिम प्रहरमें रामने कैवल्य प्राप्त किया—

"माघशुद्धस्य पक्षस्य द्वादश्यां निशि पश्चिमे ।
यामे केवलमुत्पन्नं ज्ञानं तस्य महात्मनः ॥"

भगवान् मुनिसुव्रतनाथ, जो २० वें तीर्थङ्कर हुए हैं, के समयमें रामचन्द्र जी हुए थे। रामचन्द्र जीके समान हनुमान् जीने निर्वाण प्राप्त किया। हनुमान् जी विद्यावलसम्पन्न महापुरुष थे। उनकी ध्वजामें कपिका चिह्न था, भ्रमवश चिह्नका प्रयोग चिह्नवान्के लिए प्रयुक्त होने लगा। वानर शाकाहार करनेवाला शक्ति-स्फूर्ति-युक्त जीवधारी है। वह अहिंसा, शक्ति और स्फूर्तिका प्रतीक है, इस कारण हनुमान्जीने कपिको अपनी ध्वजाका चिह्न बनाया। आचार्य रविषेणके शब्दोंमें यह समझना मिथ्या है कि हनुमान् बंदर थे। वे सर्वगुण संपन्न महापुरुष थे। उनके पिताका नाम पवनंजय था। वे भी महापुरुष थे। पवन-वायुसे मानवकी उत्पत्ति वैज्ञानिक दृष्टि विशिष्ट जैनधर्ममें स्वीकार नहीं की गई है।

भीम, अर्जुन, युधिष्ठिर इन तीन पांडवोंने गुजरात प्रांतके शत्रुञ्जय पर्वतपर तपश्चर्या की थी। दिगम्बरमुद्रा धारण कर कर्म-शत्रुओंपर विजय प्राप्त की थी। प्राकृत निर्वाणकाण्डमें लिखा है—

"पंडुसुआ तिण्णि जणा दविडणरिंदाण अट्ठकोडीओ ।
सत्तुंजयगिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥ ६ ॥"

भैया भगवतीदासजीने इसको इन शब्दोंमें स्पष्ट समझाया है—

"पांडव तीन द्रविड़ राजान । आठ कोडि मुनि मुकति पयान ।
श्रीशत्रुञ्जय गिरिके सीस । भाव सहित वंदो निसदीस ॥ ७ ॥"

जिस स्थान पर विशेष प्रभावशाली मूर्ति, मंदिर आदि होते हैं, उसे अतिशय क्षेत्र कहते हैं। इनकी संख्या लगभग सौसे अधिक है। किसी स्थान पर साधकोंको अथवा भक्तोंको विशेष लाभ दिखाई दिया, तो उसे अतिशय क्षेत्र कहते हैं। ऐसे अतिशय क्षेत्र नवीन भी बन जाते हैं।

जयपुर राज्यमें श्री महावीरजी नामक स्टेशन है। यहाँके भगवान् महावीरकी मूर्तिका बड़ा प्रभाव सुना जाता है। हजारों यात्री वहाँ वंदनाको जाते हैं। मीना और गूजर नामक क्षत्रिय लोग हजारोंकी संख्यामें महावीर भगवान्की ऐसी भक्ति करते हैं, जो दर्शकोंको चकित कर देती है।

जयपुर राज्यमें शिवदासपुरा स्टेशनके समीप एक नवीन अतिशय क्षेत्रकी उपलब्धि हुई है। उसे पद्मपुरी कहते हैं।

मध्यप्रान्तमें दमोहसे २२ मीलकी दूरी पर कुण्डलपुर क्षेत्र है। कहते हैं कि यवनराज औरंगजेबने वहाँकी भगवान् महावीरकी अतिशय मनोज्ञ पद्मासन १२ फीट ऊँची मूर्ति तुड़वानेका प्रयत्न किया, किन्तु वहाँकी कुछ विशिष्ट घटनाओंने यवन सम्राट्को चकित कर दिया, इससे उस तीर्थसे उसकी वक्र दृष्टि दूर हो गई। पर्वत कुंडलाकृति है। ६४ जिनमंदिरोंसे बड़ा रमणीय मालूम पड़ता है।

राजपूतानामें आबू पर्वतपर अवस्थित जैन मंदिर अपनी कलाके लिए विख्यात है। कर्नल टॉडने अपने राजस्थानमें लिखा है—

"Beyond Controversy this is the most superb of all the temples in India and there is not an edifice besides the Tajmahal, that can approach it."

—भारतवर्षके मंदिरोंमें यह श्रेष्ठ है यह बात निर्विवाद है। ताजमहलके सिवाय कोई और भवन उसकी समता नहीं कर सकता, विमल-

शाहने भगवान् आदिनाथका मंदिर विक्रम संवत् १०८८ (ईस्वी सन् १०३१) में बनवाया था। नेमिनाथ भगवान्का मनोज्ञ मंदिर तेजपाल वस्तुपाल नामक राजमंत्रियोंने बनवाया था। विक्रम संवत् १२८७ में इस प्रख्यात मंदिरका निर्माण हुआ था। करोड़ों रुपयोंका व्यय कर इस अनुपम मंदिरकी रचना की गई है। शिल्पशास्त्रके अधिकारी विद्वान् फर्ग्यूसन महाशय लिखते हैं[1]—"इस मंदिरमें, जो कि संगमर्मरका बना हुआ है, अत्यंत परिश्रम सहन करनेवाली हिन्दुओंकी टांकीसे फीते जैसी बारीकीके साथ, ऐसी मनोहर आकृतियाँ बनाई गई हैं कि उनकी नकल कागज पर उतारनेमें बहुत समय लगाने पर भी मैं समर्थ नहीं हो सका।"

कर्नल टॉडने मंदिरके गुंबजको देख चकित होकर लिखा है कि "इसका चित्र तैयार करनेमें लेखनी थक जाती है। अत्यन्त श्रमशील चित्रकारकी कलमको भी इसमें महान् श्रम पड़ेगा। इन मंदिरोंमें जैनधर्मकी कथाएं चित्रित की गई हैं। व्यापार, समुद्रयात्रा, रणक्षेत्र आदिके भी चित्र विद्यमान हैं।" मंदिरोंके सौन्दर्यने कर्नल टॉडके अंतःकरण पर इतना प्रभाव डाल रखा था कि श्रीमती हंटर ब्लेर नामकी महिलाने मंदिरके गुंबजका चित्र जब टॉड साहबको विलायतमें दिखाया तो उससे आकर्षित हो उनने पश्चिम भारतकी यात्रा नामकी अंग्रेजी पुस्तक उक्त महिलाको समर्पण की और उस महिलासे कहा—हर्ष है कि तुम आबू गई ही नहीं, किन्तु आबूको इंग्लेण्डमें ले आई हो।'[2]

देवगढ़ बुंदेलखंडके जाखलोन स्टेशनसे लगभग १० मीलकी दूरी

---

१ Picturesque Illustrations of Ancient Architecture in Hindustan. by Forgusson.

२ आबू जैन मंदिरोंके निर्माता पृ० ६५, ६९

पर अत्यन्त कलापूर्ण स्थान है। देवपति और खेपति बंधुओंने अपनी विशुद्ध भक्तिके प्रसादसे विपुल द्रव्य लाभ किया और द्रव्यका सद्व्यय करते हुए अगणित कलामय जिनेन्द्रमूर्तियाँ देवगढ़में बनवाईं। जिनके सौन्दर्य दर्शनसे नयन सफल हो जाते हैं। वह श्रवणवेलगोलाकी लघु-आवृत्ति सदृश प्रतीत होता है। सांची (भूपाल रियासत) की प्राचीन भव्य बौद्ध सामग्री जिस प्रकार हृदय पर अमिट प्रभाव डालती है उसी-प्रकार प्रेक्षक भी देवगढ़की अनुपम उत्कृष्ट कलापूर्ण सामग्रीसे प्रभावित तथा आनंदित हुए विना नहीं रह सकता। वहाँ हजारों मूर्तियोंको देख आत्मामें वीतरागताका अपूर्व प्रभाव उत्पन्न होता है। वहाँका सजीव प्रभाव हृदयपटल पर एक बार भी अंकित होकर सदा अमिट रहता है।[1]

---

१ जैन सिद्धान्त-भास्कर भाग ८ किरण २ से ज्ञात होता है कि पर्वत उत्तर-दक्षिण १ मील लम्बा, पूर्व-पश्चिम ६ फलांग चौड़ा है। पर्वतकी चढ़ाई सरल है। मन्दिर लगभग ८ सौ वर्ष प्राचीन कहे जाते हैं। भगवान् ऋषभदेवकी मूर्ति जटायुक्त है। वहां तीर्थंकर बाहुबली, शासन-देवता, मुनि-आर्यिका, श्रावक तथा श्राविकाओंकी मूर्तियाँ भी मिलतीं हैं। कहीं-कहीं दम्पतिका चित्र वृक्षके नीचे खड़ा हुआ पाया जाता है और प्रत्येककी गोदमें एक-एक बच्चा है। पुरातत्त्व विभागके तत्कालीन सुपरिन्टेंडेन्ट श्रीयुत दयाराम सहानी एम० ए० ने इसका अर्थ यह सोचा है—'ये बच्चे अवसर्पिणीके सुषम-सुषम समयकी प्रसन्न जोड़ियां—युगलिये हैं और जिसके नीचे स्त्री-पुरुष खड़े हैं वह वृक्ष कल्पद्रुम है; जिससे उस जमानेमें मनुष्य वर्गकी सभी इच्छाएं पूर्ण होती थीं।' पुराणोंमें उत्तम भोग भूमिका जो वर्णन है उससे विदित होता है कि माता-पिता सन्ततिका मुख-दर्शन करनेके पूर्व ही छींक और जम्हाई ले शरीर परित्याग कर स्वर्ग लोककी यात्रा करते थे। इस प्रकाशमें सहानी महाशयकी सूझ चिन्तनीय हो जाती है। शिलालेखोंकी दृष्टिसे पर्वत महत्त्वपूर्ण है। २०० शिलालेखोंमेंसे १५७ ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं। नागरी अक्षरोंके क्रमिक विकासको जाननेके लिए ये लेख बहुत कामके हैं।

बुंदेलखंडमें पन्ना रियासतके अंतर्गत खजुराहाके जैन मंदिरोंकी उच्च और मनोज्ञ कला भी दर्शनीय है। भगवान् शान्तिनाथकी २० हाथके लगभग उन्नत प्रतिमा बहुत सुन्दर है। वहाँकी स्थापत्यकला बहुत भव्य है।

जिस प्रकार अतिशय विशेष होनेके कारण कोई स्थल अतिशय-क्षेत्र रूपमें पूजा जाकर साधकके अन्तःकरणमें भव्य-भावनाओंको संवर्द्धित करता है उसी प्रकार तीर्थङ्कर भगवान्के गर्भ, जन्म, तपश्चर्या तथा कैवल्योत्पत्तिके स्थान भी विशेष उद्बोधक माने जाते हैं। भगवान् पार्श्वनाथ तथा सुपार्श्वनाथ तीर्थङ्करके जन्मसे काशी नगरी पवित्र हुई और वह साधकोंके लिए पुण्यधाम बन गई। इन तीर्थङ्करोंके जन्मसे पवित्र बनारसी नगरीके प्रति भक्ति प्रकट करनेके लिए श्रीयुत खरगसैन-जी जौहरीने अपने होनहार चिरञ्जीव और सर्वमान्य महाकविका नाम बनारसीदास रखा था। अपने अर्धकथानकके आरम्भमें जो पद्य इन्होंने दिए हैं वे उद्बोधक होनेके साथ आनन्दजनक भी हैं तथा उनसे 'बनारस' नगरकी अन्वर्थता प्रकाशमें आती है—

"पानि-जुगल-पुट-सीस धरि, मानि अपनपौ दास।
आनि भगति चित जानि प्रभु, वन्दौं पास-सुपास ॥ १ ॥
गंग माहिं आइ धसी द्वै नदी वरुना असी,
बीचि बसी बानारसी नगरी बखानी है।
कसिवार देस मध्य गांउ तातैं कासी नांउ,
श्री सुपास पासकी जनम भूमि मानी है॥
तहां दुहू जिन सिवमारग प्रगट कीनौ,
तब सेती सिवपुरी जगत मैं जानी है।

ऐसी विधि नाम थपें नगरी बनारसीके,
और भांति कहै सो, तो मिथ्यामत-वानी है ॥ २ ॥"

जैन संस्कृतिके विकास और संवर्द्धनकी पुनीत पुण्य-भूमिके रूपमें विहार प्रान्तमें राजगृहीका अत्यन्त उच्च स्थान है। कारण, वासुपूज्य भगवान्को छोड़ शेष २३ तीर्थङ्करोंने कैवल्य लाभके उपरान्त अपनी धार्मिक देशनासे राजगिरिको पवित्र किया था। भगवान् महावीरके समवसरण—धर्मसभाके प्रधान पुरुष-रत्नसम्राट् श्रेणिक—बिम्बसारकी निवासभूमि और राजधानी राजगृही रही है। राजगृहीके पूर्वमें चतुष्कोण ऋषिशैल, दक्षिणमें वैभार और नैऋत्य दिशामें विपुलाचल पर्वत हैं; पश्चिम, वायव्य और उत्तर दिशामें छिन्न नामका पर्वत है, ईशान दिशामें पाण्डु नामका पर्वत है।' हरिवंशपुराणसे विदित होता है कि भगवान् महावीरने जृम्भिक ग्रामकी ऋजुकूला नदीके तीर वैशाख सुदी १० को कैवल्य प्राप्त किया था। गणधरका योग न मिलनेके कारण ६६ दिन तक प्रभुका मौन विहार हुआ और वे राजगृह नगर पधारे। आचार्य जिनसेन राजगृहका विशेषण 'जगत्ख्यातम्' देकर उस पुरीकी लोकप्रसिद्धताको प्रकट करते हैं। अनन्तर भगवान्ने जिस प्रकार सूर्य विश्वके प्रबोधन निमित्त उदयाचलको प्राप्त होता है, उसी प्रकार अपरिमित श्रीसम्पन्न विपुलाचल शैलपर आरोहण किया। हरिवंश पुराणमें लिखा है—

"षट्षष्टिदिवसान् भूयो मौनेन विहरन् विभुः।
आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राजगृहं पुरम् ॥ ६१ ॥
आरुरोह गिरिं तत्र विपुलं विपुलश्रियम्।
प्रबोधार्थं स लोकानां भानुमानुदयं यथा ॥६२॥" —सर्ग ३।

भगवान्की दिव्य-वाणी प्रकाशनके योग्य गणधरादिकी प्राप्ति होने-

पर विपुलाचलको ही सर्वप्रथम यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि ६६ दिनके पश्चात् श्रावण कृष्ण प्रतिपदाके प्रभातमें जब कि सूर्यका उदय हो रहा था और अभिजित नक्षत्र भी उदित था, भगवान्के द्वारा धर्म-तीर्थकी उत्पत्ति हुई। आचार्य यतिवृषभ तिलोयपण्णत्तिमें श्रावण कृष्ण प्रतिपदाको युगका प्रारम्भ बताते हैं।[1]

संसारके महान् ज्ञानी सन्त-जन और पुण्यात्मा नरनारियोंके आवागमनसे राजगिरिका भाग्य चमक उठा। अनेकान्त विद्याके सूर्यने राजगिरिके विपुलाचलके शिखरसे मिथ्यात्व अन्धकार निवारिणी किरणोंके द्वारा विश्वको परितृप्त किया, इसलिए राजगिरि और उसके विपुलाचलका दर्शन साधकके हृदयमें भगवान् महावीरके समवसरणकी स्मृति जागृत कर देता है। राजगिरिका नाम साधकोंको स्मरण कराता है और सम्भवतः वे अपने ज्ञान-नेत्रसे उस अतीतके आध्यात्मिक जागरणसम्पन्न भव्य कालको देख भी लें, जब कि वनमालीने आकर मगध-सम्राट् श्रेणिकको यह श्रुति-सुखद समाचार सुनाया था कि, श्री वीर प्रभु विपुलाचलपर पधारें हैं और उनके आध्यात्मिक प्रभावसे सारा वन विचित्र सौंदर्यसम्पन्न हो गया है। वनपालकके ये शब्द सदा स्मृतिपथमें गूंजते रहेंगे।

"वीर प्रभु विपुलाचल आए, छह रितु फूली कली कली।"

जैन तीर्थयात्रा विवरणमें निर्वाणभूमि, अतिशय क्षेत्र पंचकल्याणक स्थल सब साधकोंके लिए पूज्यस्थल बताए हैं। हमने कतिपय स्थलोंका ही ऊपर संक्षिप्त वर्णन किया है, अन्यथा हमें बड़वानी स्टेटमें

---

१ "वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस।
सावणबहुले पाडिवरुद्दमुहुत्ते सुहोदये रविणो।
अभिजस्स पढम जोए जुगस्स आदी इमस्स पुढं॥ ६९-७०॥

विद्यमान चूलगिरिके विषयमें प्रतिपादन करना अनिवार्य था। वहाँसे इन्द्रजीत, कुम्भकर्णने तपःसाधनाके फलस्वरूप सिद्धि प्राप्त की। बड़वानी-के समीप भगवान् ऋषभदेवकी ८४ फीट ऊँची खड्गासनमूर्तिकी विशालता दर्शकोंको चकित कर देती है। इतनी विशालमूर्ति अन्यत्र नहीं है। इतिहासातीत कालकी मूर्ति कही जाती है। अत्र पुरातन मूर्ति-का जीर्णोद्धार हो जानेसे पुरातत्त्वज्ञ प्राचीनताका प्रत्यक्ष बोध प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं।

निर्वाणप्राप्त आत्माएँ लोकके शिखरपर विद्यमान रह अपने ज्ञान तथा आनन्द स्वभावमें निमग्न रहती हैं। न कि जैसा बौद्ध मानता है, कि दीपकका तेल-स्नेह समाप्त होनेपर वह बुझ जाता है, उसी प्रकार स्नेह-रागादिके क्षय होनेसे जीवन प्रदीप भी बुझ जाता है। जैनदृष्टिमें आत्मा-के विकारोंका पूर्ण क्षय होता है, तथा पूर्ण परिशुद्ध आत्माका पूर्ण विकास होता है।

साधककी मनोवृत्ति निर्मल करनेमें पुण्यस्थलोंको निमित्तमात्र कहा है। वैसे तो जिस किसी स्थलपर समासीन हो समर्थ साधक विकारोंके विनाशार्थ प्रवृत्त होता है, वही निर्वाणस्थल बन जाता है। दुर्बल मनो-वृत्तिवाले साधकोंके लिए अवलम्बनकी आवश्यकता होती है। समर्थ जिस प्रकार प्रवृत्ति करता है, वह मार्ग बन जाता है। आचार्य अमितगति कहते हैं—

"न संस्तरो भद्र, समाधिसाधनं
न लोकपूजा न च सङ्घमेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं
विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम्॥"

—द्वात्रिंशतिका २३।

जैनशास्त्रोंके परिशीलनसे स्पष्ट विदित होता है, कि किस महापुरुषने कब और किस स्थलसे आत्मस्वातंत्र्य-मुक्ति प्राप्त की। आज तक वह स्थल परम्परासे पूजा भी जाता है। निर्वाणभूमिपर मुक्त होनेवाले आत्माके चरणोंके चिह्न बने रहते हैं, उनको ही आराधक प्रणाम कर मुक्त आत्माओंकी पुण्यस्मृति द्वारा अपने जीवनको आलोकित करता है। इन प्रमाणोंके आधारपर विद्यावारिधि वैरिस्टर **श्रीचम्पतरायजी** यह निष्कर्ष निकालते हैं कि—'यथार्थमें जैनधर्मके अवलम्बनसे निर्वाण प्राप्त होता है। यदि अन्य साधनाके मार्गोंसे निर्वाण मिलता, तो मुक्त आत्माओंके विषयमें वे भी स्थान, नाम, समय आदिका प्रमाण उपस्थित करते।' वे लिखते हैं:—"No other religion is in a position to furnish a list of men, who have attained to God-hood by following its teachings."

—Change of heart P. 21

मुमुक्षुके लिए **भैया भगवतीदासजी** कहते हैं:—

"तीन लोकके तीरथ जहां, नित प्रति वंदन कीजै तहां।
मन-वच-काय सहित सिर नाय, वंदन करहिं भविक गुण गाय॥"

कौन साधक मुक्तिकी उज्ज्वल भावनाके प्रबोधक पुण्य तीर्थोंकी अभिवंदनाद्वारा अपने जीवनको आलोकित न करेगा?

साधकके पर्व

साधकके जीवन-निर्माणमें पर्व तथा उत्सवोंका महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस प्रकार तीर्थयात्रा, तीर्थस्मरण आदिसे साधककी आत्मा निर्मल होती है, उसी प्रकार आत्मप्रबोधक पर्वोंके द्वारा जीवनमें पवित्रताका अवतरण होता है। कालविशेष आनेपर हमारी स्मृति अतीतके साथ ऐक्य धारण

कर महत्त्वपूर्ण घटनाओंको पुनः जाग्रत कर देती है। अतीत नैगमनय भूतकालीन घटनाओंमें वर्तमानका आरोप करता है। यद्यपि भगवान् महावीर प्रभुको निर्वाण प्राप्त हुए २४७२ वर्ष व्यतीत हो गए, किन्तु दीपावलीके समय उस कालभेदको भूलकर संसार कह बैठता है—

"अद्य दीपोत्सवदिने वर्द्धमानस्वामी मोक्षं गतः।"

—आलापपद्धति पृ० १६९।

इस प्रकारकी मधुर स्मृतिके द्वारा साधक उस स्वर्णकालसे क्षणभरको ऐक्य स्थापित कर सात्त्विक भावनाओंको प्रबुद्ध करता है। पर्व और त्यौहार नामसे ऐसे बहुतसे उत्सवके दिवस आते हैं, जब कि अप्रबुद्ध लोग जीवनको रागद्वेषादिकी वृद्धि द्वारा अधिक मलिन बनानेका प्रयत्न किया करते हैं। आश्विनमासमें दुर्गापूजाके नामपर बहुतसे व्यक्ति पशु-बलि द्वारा अपनेको कृतार्थ समझते हैं। ऐसे पर्व या उत्सवसे साधकको सतर्कतापूर्वक आत्मरक्षा करनी चाहिए, जिनसे आत्मसाधनाका मार्ग अवरुद्ध होता है। जिन पर्वोंसे सात्त्विक विचारोंको प्रेरणा प्राप्त होती है उनको ही सोत्साह मनाना चाहिए।

[1]तिलोयपण्णत्तिमें बताया है कि जिस कालमें जीव कैवल्य, दीक्षा-कल्याणक, निर्वाण आदिसे पापरूपी मलको नष्ट करता है, वह काल-मंगल कहा है।

"एवं अणेयभेयं हवदि तं कालमंगलं पवरं।
जिणमहिमासंबंधं णंदीसरदीपपहुदीदो॥" —१।२६।

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्की महिमासे सम्बन्ध रखनेवाला वह श्रेष्ठ काल मंगल कहा है, जैसे नन्दीश्वरद्वीप सम्बन्धी पर्व आदि।

---

१ "णासदि काले केवलणाणादिमंगलं परिणमति। १-२४
परिणिक्कमणं केवलणाणुब्भवणिव्वुदिप्पवेसादी।
पावमलगालणादो पण्णत्तो कालमंगलं एदं १-२५।"

साधक मंगल कार्यों द्वारा विशेष अवसरकी स्मृतिको सफल बनाता है। आचार्य गुणभद्रने मनुष्यके शरीरकी घुनके द्वारा भक्षित इक्षुके साथ[1] तुलना की है। इक्षुमें जो गाँठें होती हैं, उनको पर्व कहते हैं। गाँठोंको न खाकर यदि उर्वरा भूमिमें लगा देते हैं, तो अच्छी फसल आती है। इसी प्रकार जीवनमें नंदीश्वर, दशलक्षण आदि पर्वके कालको भोगमें न लगाकर संयम तथा आत्मसाधनामें व्यतीत करे, तो साधक मंगलमय जीवनद्वारा अभ्युदय एवं निःश्रेयस-निर्वाणकी प्रतिष्ठाको प्राप्त होता है।

जैन पर्वोंमें श्रावण कृष्णा प्रतिपदाका प्रभात अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है, कारण उस दिन भगवान् महावीर प्रभुने विपुलाचल पर्वतपर शांति और समृद्धिका जीवनप्रद उपदेश दिया था।[2] वर्धमान हिमाचल-से स्याद्वाद गंगाका अवतरण इस मंगलमय अवसर पर हुआ था, अत एव उस महान् शुद्ध एवं सात्त्विक स्मृतिका उद्बोधक होनेके कारण वह 'वीरशासन दिवस' साधकके लिए सर्वदा अभिवंदनीय है। यदि भगवान्ने अपना सार्वजनीन अनेकान्तमय अभय उपदेश न दिया होता, तो संसार मोहान्धकारमें निमग्न रहकर अपथगामी रहता।

---

१ "मानुष्यं घुणभक्षितेक्षुसदृशं।" —आत्मानुशासन, ८१।

२ "प्रत्यक्षीकृतविश्वार्थं कृतदोपत्रयक्षयम्।
जिनेन्द्रं गोतमोऽपृच्छत्तीर्थार्थं पापनाशनं॥ ८९॥
स दिव्यध्वनिना विश्वसंशय छेदिना जिनः।
दुन्दुभिध्वनिर्धारेण योजनान्तरयायिना॥ ९०॥
श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः।
प्रतिपद्यह्नि पूर्वाह्णे शासनार्थमुदाहरत्॥ ९१॥"—हरिवंशपुराण सर्ग २

"वीर-हिमाचल तें निकसी, गुरु गौतमके मुख कुण्ड ढरी है।
मोह-महामद-भेद चली, जगकी जड़तातप दूर करी है।
ज्ञान-पयोनिधि मांहि रली, बहु-भंगतरंगनिसों उछरी है।
ता शुचि शारद गंगनदी प्रति मैं अँजुलीकर शीस धरी है॥
या जगमंदिरमें अनिवार अज्ञान अंधेर छयो अतिभारी।
श्री जिनकी धुनि दीप-शिखा सम जो नहिं होत प्रकासनहारी।
तो किह भांति पदारथ पांति कहां लहते रहते अविचारी।
या विधि सन्त कहैं धनि हैं धनि हैं, जिन बैन बड़े उपगारी॥"

यह दिवस वीरशासन के प्रकाशन द्वारा मंगल रूप होनेके पूर्व भी अपना विशिष्ट स्थान धारण करता था। भोगभूमिकी रचनाके अवसान होनेपर कर्मभूमिका आरंभ इसी दिन हुआ था। यतिवृषभ आचार्यने तिलोयपण्णत्तिमें[2] इस समयको वर्षका आदि दिवस बताया है, कारण श्रावणमास वर्षका प्रथम मास कहा है। श्रमण संस्कृतिवालोंका वर्षारंभ श्रवण नक्षत्रयुक्त श्रावण माससे होना उपयुक्त तथा संगत भी दिखता है। वर्षाकालसे धार्मिक जगत्‌का संवत्सर आरंभ होना ठीक मालूम पड़ता है। उस समय मेघमाला जलधारा द्वारा विश्वको परितृप्त करती है, तो धर्मामृत वर्षा द्वारा श्रमणगण अथवा उनके आराधक सत्पुरुष स्व तथा परका कल्याण करते हुए आत्माको निर्मल बनाते हैं।

रक्षाबंधन—यह पर्व साधर्मियोंके प्रति वात्सल्यभावका स्मारक है। जैन-शास्त्रकारोंने बताया है कि उज्जैनमें श्रीधर्म नामके राजा थे। उनके

२ "वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स।" ६९॥
सावणबहुले पाडिवरुद्दमुहुत्ते सुहोदये रविणो।
अभिजस्स पढमजोए जुगुस्स आदी इयस्स पुढं॥ ७०॥ ति० प० १।"

बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद और नमुचि नामके चार मन्त्री थे। वहाँ अकंपन आचार्यके नेतृत्वमें सात सौ जैन साधुओंका विशाल संघ पधारा। मन्त्रियोंके चित्तमें जैन धर्मके प्रति प्रारम्भसे ही विद्वेषभाव था। उनने श्रीधर्म नरेन्द्रको मुनिसमूहकी वंदनाके लिए अनुत्साहित किया, किन्तु राजाकी आंतरिक प्रेरणा देख मंत्रियोंको भी मुनिवंदनाको जाना पड़ा। उस समय संघस्थ सभी साधु आत्मध्यानमें निमग्न थे। राजा साधुओंकी दिगम्बर, शान्त, निस्पृह मुद्रा देखकर प्रभावित हुआ, किन्तु मंत्रिमंडलने साधुओंके प्रति विद्वेषके भाव व्यक्त किए। इतनेमें मार्गमें श्रुतसागरजी क्षुल्लक दिखाई दिए, जिनको संघपति अकंपनाचार्यका आदेश नहीं मिला था कि यहाँके राजमंत्री जिनधर्मके विद्वेषी हैं अतः मौनवृत्ति रखना उचित है, उनसे वाद-विवाद नहीं करना चाहिए, कारण इससे हानिकी संभावना है।

मंत्रियोंने श्रुतसागर क्षुल्लकके समक्ष पवित्र धर्मपर झूठा आक्षेप लगाया तब क्षुल्लक महाराजने अपने पांडित्यपूर्ण उत्तरसे उनको पराजित किया। मन्त्री लोगोंने अपनेको अपमानित अनुभवकर संघके समस्त साधुओं पर उपद्रव करनेकी सोची।

श्रुतसागर क्षुल्लकसे मंत्रियोंके वार्तालाप तथा उनकी पराजयका हाल सुनकर अकंपनाचार्यने निश्चय किया, कि आज संघ पर आपत्ति आए बिना न रहेगी, अतः उनने मध्याह्नमें विवादके स्थलपर ही श्रुतसागर क्षुल्लकको जाकर ध्यान करनेका आदेश दिया।

श्रुतसागरजी बड़े ज्ञानी तथा योगी थे। वे आत्मध्यानमें मग्न थे। नीरव रात्रिमें उक्त मंत्रियोंने तलवारसे उनपर आक्रमण किया, किन्तु क्षुल्लकजीके तपःप्रभावसे मंत्री लोग कीलित हो गए। प्रभात-कालीन प्रकाशने उन पापियोंका चरित्र जगत्के समक्ष प्रकट कर दिया।

राजको जब मंत्रियोंकी इस जघन्य वृत्तिका पता चला, तब उसने मंत्रियों को उचित दण्ड दे तिरस्कारपूर्वक राज्यसे निर्वासित कर दिया।

अनंतर बलि आदि पर्यटन करते हुए हस्तिनागपुर पहुँचे। अपनी योग्यतासे वहाँके जैन राजा पद्मरायको उन्होंने शीघ्र ही प्रभावित किया। पद्मरायको अपने प्रतिद्वन्दी सिंहबल नरेशकी सदा भीति रहा करती थी। बलिने अपनी कूटनीतिसे सिंहबलको शीघ्र ही बंधनबद्ध कर पद्मरायको चिन्तामुक्त कर दिया। इसपर अत्यन्त प्रसन्न हो पद्मराय बलिसे बोले, मन्त्री तुम्हें जो कुछ भी चाहिए, माँगो। मैं उसकी पूर्ति करूँगा। बलिने कहा—महाराज, जब हमें आवश्यकता होगी, तब हम आपसे वरकी याचना करेंगे। अभी कुछ नहीं चाहिए। राजाने यह स्वीकार किया।

कुछ समयके अनन्तर अकंपनाचार्य पूर्वोक्त सात सौ तपस्वियों सहित विहार करते हुए हस्तिनागपुरमें वर्षाकाल व्यतीत करनेके उद्देश्यसे पधारे। जैननरेश पद्मरायके अधीन रहने वाली जिनेन्द्रभक्त जनताने साधुओंके शुभागमनपर अपार आनन्द व्यक्त किया। बलि और उनके सहयोगियोंने सोचा, इस अवसरपर इन साधुओंसे बदला लेना उचित है, अन्यथा जैन नरेशके पास अब अपना अस्तित्व न रहेगा। पुराने वरको स्मरण कराकर बलिने पद्मरायसे सात दिनका राज्य मांगा। मंत्रियोंके दुर्भावको बिना जाने राजाने एक सप्ताहके लिए बलिको राजाका पद प्रदान कर दिया। अब तो अमात्य बलि राजा बन गया। साधुओंके संहार निमित्त उसने यज्ञका जाल रचा।

नरमेधयज्ञका नाम रखकर मुनियोंकी आवासभूमिको हड्डी, मांस आदि घृणित पदार्थोंसे पूर्ण कराकर उसने उसमें अग्नि लगवा दी, जिसके भीषण एवं दुर्गन्धयुक्त धुंएसे साधु लोगोंकी दम घुटने लगी।

बलिने अवर्णनीय उपद्रव आरम्भ करा दिया। उसने सोचा था, इस यज्ञकी ओटमें मैं संपूर्ण मुनिसंघको स्वाहा करके सदाके लिए निश्चिन्त हो जाऊँगा। इधर यह पैशाचिक जघन्य लीला हो रही थी, उधर मिथिलामें एक महान् योगी मुनिराजने अपने दिव्य ज्ञानसे आकाशमें श्रवण नक्षत्रको कंपित देख हस्तिनागपुरमें मुनिसंघके महान् उपसर्गको जानकर बहुत दुःख प्रकट किया। उनके समीपवर्ती पुष्पदन्त क्षुल्लकने सर्व वृत्तान्त ज्ञात कर यह जाना कि विक्रिया ऋद्धि नामक महान् योग-शक्तिको धारण करनेवाले महामुनि विष्णुकुमारजीके प्रयत्नसे ही यह संकट टल सकता है, अन्यथा नहीं।

पुष्पदन्त क्षुल्लकने विष्णुकुमार मुनिराजके पास जाकर संपूर्ण वृत्तान्त सुनाया। संघकी विपत्ति-निवारणनिमित्त आध्यात्मिक सिद्धियोंका उपयोग करते हुए वे अपने भाई पद्मरायके राज्यमें पहुँचे, जहाँ बलिने नरबलिका पाखण्ड फैलाया था। पद्मरायको डाँटते हुए उनने कहा,— "पद्मराय! [1]किमारब्धं भवता राज्यवर्तिना"—तुमने यह क्या कार्य मचा रखा है। पद्मरायने अपनी असमर्थता बताते हुए निवेदन किया कि एक सप्ताह पर्यन्त राज्यपर मेरा कोई भी अधिकार नहीं है। इस प्रसंगपर हरिवंश-पुराणकार कहते हैं :—

"पद्मस्ततो नतः प्राह नाथ! राज्यं मया बलेः।
सप्ताहावधिकं दत्तं नाधिकारोऽधुनात्र मे॥" –२०, ४०।

विष्णुकुमार मुनिराजने यज्ञ और दान देनेमें तत्पर बलिको देख अपने लिए केवल तीन पांव भूमि मांगी। स्वीकृति प्राप्तकर विक्रिया ऋद्धिके प्रभाव से विष्णुकुमार ने अपने दो पांवों को मेरु तथा मानु-

---

१ हरिवंशपुराण सर्ग २०, श्लोक ३२।

षोत्तर पर्वत पर्यन्त विस्तृत करके तीसरे पैर के योग्य भूमि मांगी। यह लोकोत्तर प्रभाव देखकर बलि घबड़ाया। उसने क्षमा मांगी और उपसर्ग दूर किया। विष्णुकुमार मुनिराजने श्रावणी पूर्णिमाके प्रभातमें साधुओं-का उपसर्ग दूर किया। वलिको अपने पाप कर्मके कारण निन्दा प्राप्त हुई तथा वह देशके वाहर कर दिया गया। आचार्य जिनसेन कहते हैं—

"उपसर्गं विनाश्याशु बलिं बद्ध्वा सुरास्तदा।
विनिगृह्य दुरात्मानं देशाद् दूरं निराकरन्॥"

—हरिवंशपु० २०-६०।

हस्तिनागपुरके श्रावकोंने उपसर्ग दूर होनेपर अकंपन आदि मुनीन्द्रोंकी भक्तिभावपूर्वक पूजा की, तथा योग्य आहार देकर पुण्य संचय किया। जैसे महामुनि विष्णुकुमारने साधुसंघपर वात्सल्य दिखाकर उनका उपसर्ग निवारण किया, उसी प्रकार जिनेन्द्र प्रतिमा, मंदिर, मुनिराज आदि पर विपत्ति आने पर प्राणोंकी भी बाजी लगा धर्म तथा धर्मात्माओंका रक्षण करना रक्षाबंधन पर्वका संदेश है। उत्कृष्ट सात्विक प्रेमका प्रबोधक यह रक्षाबंधन या श्रावणी पर्व है। उस दिन साधक उपसर्ग विजेता अकंपनाचार्य आदिकी पूजा करता हुआ कहता है—

"श्री अकंपन गुरु आदि दे मुनि सात सौ जानो।
तिनकी पूजा रचौं सुखकारी भव भवके अघ हानो॥"

रक्षाबंधनके समय वहिनके द्वारा भाईको राखी बाँधनेका संक्षिप्त रूपक यथार्थमें वात्सल्य रसका उद्बोधक है। 'वहिन' वात्सल्य भावना की प्रतीक है। 'भाई' आदर्श श्रावकका रूपक है। धार्मिक श्रावक इस दिन वात्सल्य भावनाकी रक्षाका बंधन स्वीकार करता है। वीतराग शासनके समाराधक यदि इस पर्वके भावको हृदयङ्गम करें तो समाज तथा विश्वका कल्याण हो। सामाजिक जाग्रति वात्सल्य भावको धारण करनेमें है।

दीपावली—कार्तिक कृष्णा अमावस्याके सुप्रभातमें पावापुरीके उद्यानसे भगवान् महावीर प्रभु ईस्वी सन् से ५२७ वर्ष पूर्व संपूर्ण कर्म-शत्रुओंको जीतकर अनन्त ज्ञान, अनंत आनंद, अनंत शक्ति आदि अनन्त गुणोंको प्राप्तकर मुक्तिधामको पहुँचे थे। उस आध्यात्मिक स्वतन्त्रताकी स्मृतिमें प्रदीप पंक्तियोंके प्रकाश द्वारा जगत् भगवान् महावीर प्रभुके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हुआ अपनी आत्माको निर्वाणोन्मुख बनानेका प्रयत्न करता है। हरिवंशपुराणसे विदित होता है, कि भगवान् महावीरने सर्वज्ञताकी उपलब्धिके पश्चात् भव्यवृन्दको तत्त्वोपदेश दे पावा नगरीके मनोहर नामक उद्यानयुक्त वनमें पधारकर स्वाति नक्षत्रके उदित होनेपर कार्तिक कृष्णाके सुप्रभातकी संध्याके समय अघातिया कर्मोंका नाशकर निर्वाण प्राप्त किया। उस समय दिव्यात्माओंने शरीर पूजाकी विधि की और प्रभुकी पूजा की।

उस समय अत्यन्त दीप्तिमान जलती हुई प्रदीप पंक्तिके प्रकाशसे आकाश तकको प्रकाशित करती हुई पावानगरी शोभित हुई। सम्राट् श्रेणिक (बिम्बसार) आदि नरेन्द्रोंने अपनी प्रजाके साथ महान् उत्सव मनाया था। तबसे प्रतिवर्ष लोग बड़े आदरपूर्वक भगवान् महावीर जिनेन्द्रके निर्वाणकी अत्यन्त आदर तथा श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं।[1]

---

१ "जिनेन्द्रवीरोऽपि विबोध्य सन्ततं समन्ततो भव्यसमूहसन्ततिम्।
प्रपद्य पावानगरीं गरीयसीं मनोहरोद्यानवने तदीयके॥ १५॥
चतुर्थकालेऽर्धचतुर्थमासकैर्विहीनता विश्चतुरब्दशेषके।
सकार्तिके स्वातिषु कृष्णभूतप्रभातसन्ध्यासमये स्वभावतः॥ १६॥
अघातिकर्माणि निरुद्धयोगको विधूय घातीन्धनवद्विबन्धनः।
विबन्धनस्थानमवाप्य शङ्करो निरन्तरायोरुसुखानुबन्धनम्॥ १७॥

आज भी दीपावलीका मंगलमय दिवस भगवान् महावीरके निर्वाणकी स्मृतिको जाग्रत करता है। समग्र भारतमें दीपमालिकाकी मान्यता भगवान् महावीरके व्यक्तित्वके प्रति राष्ट्रके समादरके परंपरागत भावको स्पष्ट बताती है, यद्यपि सांप्रदायिक दृष्टिकोणवाले कल्पित घटनाओंसे ऐतिहासिक दीपावलीको सम्बद्ध बता अपनी संकीर्ण दृष्टिको पुष्ट करते हैं। कोई-कोई लोग दयानंदजी सरस्वती (जो इस बीसवीं सदीके व्यक्ति हुए हैं) के मरणके उपलक्ष्यमें दिवालीकी मान्यताको बताते हुए अपने संप्रदायमोह तथा अतिसाहसपूर्ण उद्गारके लिए उल्लेखनीय माने जा सकते हैं।

इतिहासका उज्ज्वल आलोक दीपावलीका सम्बन्ध भगवान् महावीरके निर्वाणसे स्पष्टतया बताता है। दीपावलीका मंगलमय पर्व आत्मीक स्वाधीनताका दिवस है। उस दिन संध्याके समय भगवान्के प्रमुख शिष्य गौतम गणधरको कैवल्य लक्ष्मीकी प्राप्ति हुई थी। इससे दिव्यात्माओंके साथ मानवोंने केवलज्ञान-लक्ष्मीकी पूजा की थी। इस तत्त्वको न जाननेवाले रुपया पैसाकी पूजा करके अपने आपको कृतार्थ मानते हैं। वे यह नहीं सोचते, कि द्रव्यकी अर्चनासे क्या कुछ लाभ हो सकता है! वे यह भूल जाते हैं कि—

"उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषाः वदन्ति।"

दीपावलीके उत्सवपर सभी लोग अपने-अपने घरोंको स्वच्छ करते हैं,

ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया।
तदा स्म पावानगरी समन्ततः प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते॥ १९॥
ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात् प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक्॥ २१॥"

देखो—शक संवत् ७०५ रचित हरि० पु० सर्ग ६६।

और उन्हें नयनाभिराम वनाते हैं। यथार्थमें वह पर्व आत्माको राग, द्वेष, दीनता, दुर्बलता, माया, लोभ, क्रोध आदि विकारों से वचा जीवनको उज्ज्वल प्रकाश तथा सद्गुण-सुरभि-संपन्न वनानेमें है। यदि यह दृष्टि जागृत हो जाय, तो यह मानव महावीर वननेके प्रकाशपूर्ण पथपर प्रगति किए विना न रहे।

दीपावलीके दिन से वीरनिर्वाण संवत् आरंभ होता है। अभी वीर निर्वाण सवत् २४७३ प्रचलित है। यह सर्व प्राचीन प्रचलित संवत्सर प्रतीत होता है। मंगलमय महावीरके निर्वाणको अमंगलनाशक मानकर भव्य लोग अपने व्यापार आदिका कार्य दीपावलीसे ही प्रारंभ करते है।

अक्षयतृतीया—रक्षावंधन, दीपमालिकाके समान अक्षय-तृतीयाका दिवस भी सारे देशमें मंगल-दिवस माना जाता है। वैशाख सुदी तृतीयाके दिन भगवान् वृषभदेवको कर्मभूमिके प्रारंभमें सर्वप्रथम आहार दान देकर अक्षय पुण्य संपत्ति प्राप्त करनेका अनुपम सौभाग्य हस्तिनागपुरके नरेश श्रेयांस महाराजने प्राप्त किया था। इस कारण यह दिवस अत्यन्त पवित्र तथा मंगलमय माना जाता है।

भगवत् जिनसेनाचार्यने अपने महापुराणमें अक्षय-तृतीयाके विषयमें वताया है कि भगवान् वृषभदेवने छह मास पर्यन्त अनशनके उपरान्त आहारग्रहण करनेके लिए विहार प्रारंभ किया। वह कर्मभूमिरूप युगका प्रारंभिक समय था। लोगोंको इस वातका वोध न था, कि किस विधिपूर्वक दिगम्बर मुनिमुद्राधारी भगवान्को सन्मान पूर्वक आहार कराया जाय। भगवान्[1] मौनपूर्वक एक स्थानसे दूसरे स्थानको विहार करते थे

१ "यतो यतः पदं धत्ते मौनिं चर्यां स्म संश्रितः। ततस्ततो जनाः प्रीताः प्रणमन्त्येत्य सम्भ्रमान्॥ प्रसीद, देव, किं कृत्यमिति केचिज्जगुर्गिरम्। तूष्णींभावं व्रजन्तं च केचित्तमनुवव्रजुः॥ परे परार्ध्यरत्नानि समानीय पुरो न्यधुः। इत्यूचुश्च प्रसीदैनामिज्यां

तब भक्त लोग प्रेम पूर्वक आ आकर उन्हें प्रणाम करते थे। कोई पूछते थे—भगवन्! कृपा कर हमें कार्य बताइये, कोई लोग चुपचाप भगवान्के पीछे-पीछे चले जाते थे। कोई अमूल्य रत्नोंको लाकर भेंट करते थे, कोई वस्तु, वाहन आदि लाते थे, किन्तु भगवान्के चित्तमें उनके प्रति इच्छा न होनेके कारण वे चुपचाप विहार करते जाते थे। भिन्न-भिन्न सामग्रीके द्वारा लोग अपने प्रभुका सन्मान करनेका प्रयत्न करते थे, किन्तु भगवान्की गूढ़चर्याका भाव कोई भी नहीं जान सका था। इस प्रकार छह माहका समय और व्यतीत हो गया। उस समय कुरुजांगल देशके अधिपति श्रेयांस महाराजने रात्रिके अंतिम प्रहरमें ७ स्वप्न देखे, जिनका पुरोहितने कल्याणप्रद फल बताया। मेरुदर्शनका फल बताया था कि मेरु समान उन्नत तथा मेरु पर्वतपर अभिषेकप्राप्त महापुरुष आपके राजप्रासादमें पधारेंगे।

इतनेमें बड़ा कोलाहल हुआ कि भगवान् आदिनाथ प्रभु हमारे पालननिमित्त पधारे हैं, चलो शीघ्र जाकर उनका दर्शन करें तथा भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करें।

"भगवानादिकर्ताऽस्मान् प्रपालयितुमागतः।
पश्यामोऽत्र द्रुतं गत्वा पूजयामश्च भक्तितः॥"

—महापु० पर्व २०-४९।

प्रतिगृहाण नः ॥ वस्तुवाहनकोटींश्च विभोः केचिदढौकयन्। भगवांस्तास्वनर्थित्वात्तूष्णींको विजहार सः॥ केचित्स्रग्वस्त्रगन्धादीनानयन्ति स्म सादरम्। भगवन् परिधत्स्वेति पटल्याः सहभूषणैः॥ केचित् कन्याः समानीय रूपयौवनशालिनीः। परिणाययितुं देवमुद्यता धिक् विमूढताम्॥ केचिन्मज्जनसामग्र्या संश्रित्योपारुधन् विभुम्। परे भोजनसामग्रीं पुरस्कृत्योपतस्थिरे॥ विभो, भोजनमानीत प्रसीदोपविशासने। समं मज्जनसामग्र्या निर्विश स्नानभोजने॥ एषाञ्जलिः कृतोऽस्माभिः प्रसीदानुगृहाण नः। इत्येकेऽयोषिन्मुग्धा विभुमज्ञाततत्क्रमाः॥" —महा० पु० पर्व २० १४-२२।

[1]कोई-कोई कहते थे कि—श्रुतिमें सुनते थे कि इस जगत्के पितामह हैं। हमारे सौभाग्यसे उन सनातन प्रभुका प्रत्यक्ष दर्शन हो गया। इनके दर्शनसे नेत्र सफल होते हैं, इनकी चर्चा सुननेसे कर्ण कृतार्थ होते हैं; इन प्रभुका स्मरण करनेसे अज्ञ प्राणी भी अन्तः-निर्मलताको प्राप्त करता है।

उस समय प्रभुदर्शनकी उत्कण्ठासे अहमहमिकाभावपूर्वक पुरवासियोंका समुदाय महाराज श्रेयांसके महल तक इकट्ठा हो गया। उस समय सिद्धार्थ नामक द्वारपालने तत्काल जाकर महाराज सोमप्रभ तथा श्रेयांसकुमारसे भगवान्के आगमनका समाचार निवेदन किया।

जब श्रेयांस महाराजने भगवान्का दर्शन किया, तब उन्हें जातिस्मरण—जन्मान्तरकी स्मृति प्राप्त हो गई। अतः पुरातन संस्कारके प्रभावसे आहारदान देनेमें बुद्धि उत्पन्न हुई। उनको यह स्मरण हो गया कि हमने चारणऋद्धिधारी मुनियुगलको श्रीमती और वज्रजंघके रूपमें आहार दान दिया था। इस पुण्य स्मृतिकी सहायतासे श्रेयांस महाराजने

---

१ "श्रूयते यः श्रुतश्रुत्या जगदेकपितामहः।
स नः सनातनो दिष्ट्या यातः प्रत्यक्षसन्निधिम्॥
दृष्टेऽस्मिन् सफले नेत्रे श्रुतेऽस्मिन् सफले श्रुती।
स्मृतेऽस्मिन् जन्तुरज्ञोऽपि व्रजत्यन्तःपवित्रताम्॥ ४९–५०॥
अहं पूर्वमहं पूर्वमित्युपेतैः समन्ततः।
तदा रुद्धमभूत् पौरैः पुरमाराजमन्दिरात्॥ ६३॥
ततः सिद्धार्थनामैत्य द्रुतं दौवारपालकः।
भगवत्सन्निधिं राज्ञे सानुजाय न्यवेदयत्॥ ६९॥
संप्रेक्ष्य भगवद्रूपं श्रेयान् जातिस्मरोऽभवत्।
ततो दाने मतिं चक्रे संस्कारैः प्राक्तनैर्यतः॥ ७८॥" —आदिपुराण पर्व २०।

इक्षु रसकी धाराके समर्पण द्वारा एक वर्षके महोपवासी जिनेन्द्र आदिनाथ प्रभुके निमित्तसे अपने भाग्यको पवित्र किया।

यह दान अक्षय पद प्रदाता तथा अक्षय कीर्तिका निमित्त बना, इस कारण उस वैशाख सुदी तीजके साथ 'अक्षय' पद लग गया। महाराज श्रेयांसको अमरकीर्ति प्राप्त हुई। चक्रवर्ती भरतेश्वर श्रेयांस महाराजसे कहते हैं—

"भगवानिव पूज्योऽसि कुरुराज त्वमद्य नः।
त्वं दानतीर्थकृत् श्रेयान् त्वं महापुण्यभागसि॥" आदिपु० २८-१२७

हे कुरुराज! आज तुम भगवान् वृषभदेवके समान पूजनीय हो, कारण श्रेयांस, तुम दान तीर्थके प्रवर्तक हो, अतः तुम महापुण्यशाली हो। आज उस घटनाको व्यतीत हुए मर्यादातीत काल हो गया, किन्तु प्रतिवर्ष अक्षय तृतीयाका मंगलमय दिवस साधककी आत्माको पुनः पुनः दिव्य प्रकाश प्रदान करता हुआ सत्पात्र दानकी ओर प्रेरित करता है।

दानके विषयमें यह बात स्मरण करने योग्य है कि देय वस्तुकी बहुमूल्यतापर दानकी महत्ता अवलम्बित नहीं है। महाराज श्रेयांसने थोड़ा सा इक्षुरस भगवान् वृषभदेवको आहारमें दिया था, उस रसका आर्थिक दृष्टिसे कोई भी मूल्य नहीं है, किन्तु उसका परिणाम इतना महत्वपूर्ण हुआ कि उस दानका दिवस संपूर्ण शुभकार्योंके लिए मंगलमय बन गया। चक्रवर्ती भरत तकने उस दानके दाताको दानतीर्थंकर कहकर सम्मानित किया।

भगवान् महावीरके चरित्रसे ज्ञात होता है कि चेटक नरेशकी गुणवती पुत्री कुमारी चंदनाने बन्दीगृहमें रहते हुए भी कोदों चांवलके आहारदान द्वारा भगवान् महावीरको सम्मानित कर आश्चर्यप्रद कीर्ति प्राप्त की।

[1]पद्मपुराणमें बताया है कि मर्यादापुरुषोत्तम महाराज रामचंद्रने दण्डक वनमें मिट्टी और पत्तोंके बने हुए पात्रमें भोजन बनाकर मासोपवासी सुगुप्ति तथा सुगुप्त नामक दिगम्बर मुनियोंको श्रद्धा तथा अत्यन्त हर्षयुक्त हो सीताजी एवं लक्ष्मणजीके साथ आहार अर्पण किया था। उस समय उन योगीन्द्रोंको दिए गए आहारदानकी महिमा आचार्य रविषेणने पद्मपुराणमें बड़ी सजीव भाषामें बताई है।

इससे यह बात स्पष्टतया प्रमाणित होती है कि पात्रको विधिपूर्वक योग्य वस्तु उचित कालमें देनेसे महाफलकी प्राप्ति होती है। सूत्रकार उमास्वामि महाराजने कहा है—"**विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात् तद्विशेषः।**" विधि, द्रव्य, दाता तथा पात्रकी विशेषतासे दानमें विशेषता होती है। अक्षयतृतीयाके उज्ज्वल संदेशको प्रत्येक गृहस्थको अपने अंतःकरणमें पहुंचाना चाहिए।

श्रुतपंचमी—श्रुत शब्द 'शास्त्र' का वाचक है। ज्येष्ठ सुदी पंचमीका मंगलमय दिवस सरस्वतीकी समाराधनाका सुंदर समय है। सौराष्ट्र देशकी गिरिनगर पर्वतकी चंद्रगुहामें प्रातःस्मरणीय आचार्य धरसेनने भगवान् महावीरके कर्म-साहित्यसम्बन्धी परंपरासे प्राप्त प्रवचनको लोकहितार्थ भूतबलि और पुष्पदन्त नामक दो मुनीन्द्रोंको आषाढ़ शुक्ला एकादशीके प्रभातमें पूर्णतया पढ़ाया था। इसके अनन्तर गुरुदेवका स्वर्गवास हो गया और शिष्ययुगलने कर्मसाहित्यपर षट्खंडागम सूत्र नामकी महान् रचना आरंभ की। इतनेमें कुछ काल पश्चात् पुष्पदन्त आचार्य भी स्वर्गीय निधि बन गए अतः शेषांश भूतबलि स्वामीने लिखना प्रारंभ किया, जो ज्येष्ठ सुदी पंचमीको पूर्ण हुआ। उस

[1] पद्मपुराण ४१ पर्व।

दिवसमें षट्खंडागम शास्त्रकी साधर्मी समुदायने बड़े वैभव तथा उत्साह-पूर्वक पूजा कर सरस्वतीके प्रति अपनी उत्कृष्ट श्रद्धा व्यक्त की। तबसे श्रुतपंचमी नामका पर्व प्रख्यात हो गया।[१] श्रुतपंचमीमें ग्रंथोंको उच्च स्थानपर विराजमान करके सम्यक् ज्ञानकी पूजा की जाती है। साधक यह भी चिंतन करता है कि यथार्थ ज्ञान आत्माका स्वभाव है। बाह्य ग्रन्थ उस ज्ञान-ज्योतिको प्रदीप्त करनेमें सहायक होते हैं, अतः कृतज्ञता-वश उस साधनका समादर करना साधक अपना कर्तव्य समझता है।

अभी हमने कुछ मंगलमय प्रमुख पर्वोंका वर्णन किया है। ये पर्व सादि हैं, कारण उनकी उद्भूति विशेष घटनाओंके आधारपर हुई। अब हम थोड़ेसे ऐसे पर्वोंपर प्रकाश डालना उचित समझते हैं, जो अनादि पर्वके नामसे प्रसिद्ध हैं। अनादि अनन्त विश्वपर दृष्टिपात करें, तो ऐसा स्थान और दिवस इस मनुष्यलोकमे नहीं मिलेगा, जब कि किसी महान् साधकने अपनी सफल साधनाके प्रसादसे निर्वाणका पद न प्राप्त किया हो, फिर भी लोक-व्यवहारनिमित्त प्रमुख पुरुषोंसे सम्बन्धित या मुख्य संयमकी ओर आत्माको आकर्षित करनेवाले मंगल-कालको[२] विशेष मान्यता प्रदान की जाती है।

---

१ "ज्येष्ठसितपक्षपंचम्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेतः।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम्॥ १४३॥
श्रुतपंचमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः॥ १४४॥"
—इन्द्रनन्दि—श्रुतावतार।

२ "तत्थ कालमंगलं णाम जम्हि काले केवलणाणादिपज्जएहि परिणदो कालो पावमलगालणत्तादो मंगलं। तस्योदाहरणम्, परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाण-दिवसादयः। जिनमहिमसम्बद्धकालोऽपि मंगलं यथा नन्दीश्वरदिवसादिः।
—धवलाटीका भाग १, पृ० २९।

अष्टाह्निका—आषाढ़, कार्तिक तथा फाल्गुनमासके अन्तके आठ दिवस पर्यन्त यह पर्व प्रतिवर्ष तीन वार मनाया जाता है। इसे महापर्व कहा है—

"सरब परब में बड़ो अठाई परब है
नंदासुर सुर जाँहि, लिए वसु दरब हैं।"

नंदीश्वर महाद्वीपमें विद्यमान जिन मंदिरोंकी वंदना दिव्यात्माएँ आठ दिवस पर्यन्त बड़े आनंद तथा उत्साहपूर्वक किया करती हैं। जैन पुराण ग्रंथोंमें इस पर्वका अनेक वार वर्णन आता है। जैन रामायण-पद्मपुराणमें रविषेणाचार्य लिखते हैं, कि आषाढ़ शुक्ला अष्टमीसे पूर्णिमापर्यन्त महाराज दशरथने बड़े वैभवके साथ आठ दिवसपर्यन्त उपवास करके जिनेन्द्र भगवान्‌का अभिषेक पूजादि द्वारा महान् पुण्यका संचय किया था।

'ततः सर्वसमृद्धीनां कृतसम्भारसन्निधिः।
चकार स्नपनं राजा जिनानां सूर्यनादितम्॥
अष्टाहोपोषितं कृत्वाभिषेकं परमं नृपः।
चकार महतीं पूजां पुष्पैः सहजकृत्रिमैः॥
यथा नन्दीश्वरे द्वीपे शक्रः सुरसमन्वितः।
जिनेन्द्रमहिमानन्दं कुरुते तद्वदेव सः॥" ७–९

—पद्मपुराण पर्व २९।

श्रीपाल चरित्रसे विदित होता है, कि महाराज श्रीपालकी रानी मैना सुन्दरीने कार्तिक मासमें आष्टाह्निक महापूजा करके कुष्ठरोगसे व्यथित महाराज श्रीपाल तथा उनके साथियोंको अपनी सकाम साधनाके प्रभावसे रोगमुक्त किया था।

तार्किक अकलंकदेवकी कथासे विदित होता है कि अष्टाह्निकाकी

महापूजाके पश्चात् जैन रथके निकालनेमें जिनधर्मश्रद्धालु राजमाताको राजाकी ओरसे आपत्ति दिखी, कारण शासकपर बौद्ध धर्मका प्रभाव जमा हुआ था। उस समय अकलंकदेवने अपने प्रतिभापूर्ण शास्त्रीय प्रतिपादन द्वारा जैनधर्मकी प्रतिष्ठा स्थापित कर राजा तथा प्रजाको प्रभावित किया था।

यह अष्टाह्निका पर्व यद्यपि जैन आगम तथा परंपराकी दृष्टिसे सबसे बड़ा प्रसिद्ध है. किन्तु आज प्रचारमें दशलक्षण पर्वकी अधिक मान्यता है।

दशलक्षण पर्व—भादों सुदी पंचमीसे चतुर्दशी तक माना जाता है। अष्टाह्निकाके समान दशलक्षण तथा सोलह कारण पर्व वर्षमें तीन बार माननेका शास्त्रोंमें वर्णन है, किन्तु शैथिल्योन्मुखी समाजमें भाद्रपदमें ही यह पर्व प्रचलित है। इस पर्वको पज्जूसण या पर्यूषण पर्व भी कहते हैं। दस दिवस पर्यन्त उत्तम क्षमा, मार्दव (निरभिमानता), आर्जव (मायाहीनता), शौच (निर्लोभवृत्ति) सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचनत्व, तथा ब्रह्मचर्य इन दश धर्मोंका स्वरूपकथन, माहात्म्यचिंतन एवं उनकी उपलब्धिनिमित्त अभ्यास तथा भावना की जाती है। साधक गुणमय परमात्माके उपरोक्त गुणोंकी भेदविवक्षा द्वारा पूजन करके अपने मनको उज्ज्वल विचारोंकी ओर प्रेरित करता है। इस पर्वमें जो पूजा की जाती है वह बहुत उद्बोधक, शान्ति तथा स्फूर्तिप्रद है। यह पर्व यथार्थमें संपूर्ण विश्वके द्वारा उत्साहपूर्वक मानने योग्य है। यदि दशलक्षण धर्मका प्रकाश जगत्में व्याप्त हो जाय, तो संसारमें स्वार्थ. संकीर्णता स्वच्छन्दता आदिका जो प्रसार देखा जाता है. वह अंकुश सहित हो जायगा और जगत् यथार्थ कल्याणकी ओर प्रवृत्त हो पवित्र 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भव्य-भवन-निर्माणमें संलग्न हो जाय। इस पर्वकी पूजा बहुत उदार तथा उज्ज्वल भावनाओंसे परिपूर्ण है।

स्थानका अभाव होनेसे हम केवल संयमकी समाराधनाके परिचय निमित्त लिखते हैं। द्यानतरायजी कहते हैं—

"उत्तम संयम गहु मन मेरे। भवभवके भाजैं अघ तेरे।
सुरग-नरक-पशु-गतिमें नांहीं। आलस-हरन, करन सुख ठांहीं।
ठांही, पृथ्वी, जल, आग, मारुत, रूख, त्रस, करुना धरो।
सपरसन, रसना, घ्रान, नैना, कान मन सब वश करो।
जिस बिना नहिं जिनराज सीझे, तू रुल्यो जग कीचमें।
इक घरी मत विसरो करो नित, आयु जममुख बीचमें॥"

पृथ्वी आदि पंच स्थावर तथा त्रसकायकी रक्षा करते हुए पंच इंद्रिय और मनको अपने अधीन रखनेके लिए कितनी सुन्दर प्रेरणा की गई है। यदि संयम रत्नकी सम्यक् प्रकार रक्षा न की गई, तो विषय वासनारूपी चोर इस निधिको लूटे बिना न रहेंगे। कवि साधकको सतत सावधान रहनेके लिए प्रेरणा करते हैं, अन्यथा भविष्य अन्धकारमय होगा।

संयमके समान मार्दव, आर्जव, ब्रह्मचर्य, तपश्चर्या, दान, आदिके विषयमें भी बड़े अनमोल पद लिखे गए हैं। इस प्रकारकी गुणाराधना करते-करते दोष संचयसे आत्मा बचकर परम-आत्मा बननेकी ओर प्रगति प्रारंभ कर देती है।

षोडशकारण पर्व—इसमें दर्शनविशुद्धता, विनयसंपन्नता, शील तथा व्रतोंका निर्दोष परिपालन, षट् आवश्यकोंका पूर्णतया पालन करना, सतत ज्ञानाराधन, यथाशक्ति त्याग तथा तपश्चर्या, साधु-समाधि, साधुकी वैयावृत्त्य-परिचर्या, अरिहंत भगवान्, आचार्य तथा उपाध्यायकी भक्ति, श्रुत-भक्ति, दयामय जिन शासनकी महिमाको प्रकाशित करना, जिन शासनके समाराधकोंके प्रति यथार्थ वात्सल्य भाव रखना इन्

१८

सालह भावनाओंके द्वारा साधक विश्व उद्धारक तीर्थङ्कर भगवान्‌का श्रेष्ठ पद प्राप्त करता है। इन सोलह भावनाओंको तीर्थङ्कर पदके लिए कारणरूप होनेसे '**कारण-भावना**' कहते हैं। इनमें प्रथम भावना प्रधान है। जब कोई पवित्र मनोवृत्तिवाला तत्त्वज्ञ साधक जिनेन्द्र भगवान्‌के साक्षात् सान्निध्यको प्राप्त कर यह देखता है कि प्रभुकी अमृत तथा अभय वाणीके द्वारा सभी प्राणी मिथ्यात्वभावको छोड़ सच्चे कल्याणके मार्गमें प्रवृत्त हो रहे हैं, तब उसके हृदयमें भी यह प्रबल प्रेरणा जागृत होती है कि भगवन्, मैं भी पापपंकमें निमग्न दीन दुखी पथभ्रष्ट प्राणियोंको कल्याणके मार्गमें लगानेमें समर्थ हो जाऊँ, तो मैं अपनेको सौभाग्यशाली अनुभव करूँगा। इस प्रकार विश्व-कल्याणकी सच्ची भावना द्वारा यह साधक ऐसे कर्मका संचय करता है, कि जिससे वह आगामी कालमें तीर्थङ्करके सर्वोच्च पदको प्राप्त करता है। सम्राट् बिम्बसार—श्रेणिकने भगवान् महावीर प्रभुके समवशरणमें इस भावनाके द्वारा तीर्थङ्कर प्रकृतिका सातिशय बंध किया और इससे वे आगामी कालमें महापद्म नामके प्रथम तीर्थङ्कर होंगे।

इन सोलह कारण भावनाओंके प्रभावपर जैनपूजामें इस प्रकार प्रकाश डाला गया है—

"दरश विशुद्धि धरै जो कोई। ताको आवागमन न होई।
विनय महा धारै जो प्रानी। शिव वनिता तसु सखिय बखानी।
शील सदा दृढ़ जो नर पालै। सो औरनकी आपद टालै।
ज्ञानाभ्यास करै मन मांहीं। ताके मोह-महातम नांहीं।
जो संवेग भाव विसतारै। सुरग मुकति पद आप निहारै।
दान देय मन हरष विशेखै। इह भव जस परभव सुख देखै।
जो तप तपै खपै अभिलाषा। चूरै करम-शिखर गुरु भाषा।

साधु समाधि सदा मन लावै। तिहुं जग भोग भोगि शिव जावै।
निसि दिन वैयावृत्य करैया। सो निहचै भव-सिंधु तिरैया।
जो अरिहन्त भगति मन आनै। सो जन विषय कषाय न जानै।
जो आचारज भगति करे हैं। सो निरमल आचार धरे हैं।
बहु-श्रुत-वन्त भगति जो करई। सो नर संपूरन श्रुत धरई।
प्रवचन भगति करै जो ज्ञाता। लहै ज्ञान परमानंद दाता।
षट् आवश्यक काल जो साधै। सो ही रत्नत्रय आराधै।
धरम प्रभाव करैं जो ज्ञानी। तिन शिव मारग रीति पिछानी।
वत्सल अंग सदा जो ध्यावे। सो तीर्थङ्कर पदवी पावे ॥ ९ ॥

एही सोलह भावना सहित धरै व्रत जोय।
देव-इन्द्र-नर-वन्द्य पद 'द्यानत' शिवपद होय ॥"

संपूर्ण भाद्रपदमें भावनाओंका व्रत सहित अभ्यास किया जाता है। इन भावनाओंके अंतस्तलपर दृष्टि डालनेसे विदित होता है, कि अत्यन्त महिमापूर्ण त्रिभुवनवंदित तीर्थङ्कर-पद प्राप्त करनेवाले आत्माको कितनी उच्चकोटिकी साधना आवश्यक होती है। जैन आगममें कहा है—कोई भी समर्थ मानव अपनी साधनाके द्वारा तीर्थङ्कर बनने योग्य पुण्यका सम्पादन कर सकता है।

इस प्रकार योग्यकालको प्राप्त कर साधक अपनी साधनाके पथमें प्रगति करता रहता है। मोहान्धकार और प्रमादको दूर कर आत्म-जागरणकी ओर उन्मुख हो सात्त्विक वृत्तियोंको विकसित करना तत्त्वज्ञोंका कर्तव्य है। चतुर साधक अनुकूल कालको प्राप्त कर अपने साध्यकी प्राप्ति निमित्त हृदयसे उद्योग करता है।

———

इतिहासके प्रकाशमें

पुरातत्त्व प्रेमियोंका प्राचीन वस्तुपर अनुराग होना स्वाभाविक है, किन्तु किसी दार्शनिक विचार-प्रणालीको प्राचीनताके ही आधारपर प्रामाणिक मानना समीचीन नहीं है। ऐसा कोई सर्वमान्य नियम नहीं है, कि जो प्राचीन है, वह समीचीन तथा यथार्थ है और जो अर्वाचीन है, वह अप्रामाणिक ही है। असत्य, चोरी, लालच आदि पापोंके प्रचारका पता नहीं चलता, अतः अत्यन्त प्राचीनताकी दृष्टिसे उनको कल्याणकारी माननेपर बड़ी विकट स्थिति उत्पन्न हो जायगी। प्राचीन होते हुए भी जीवनको समुज्ज्वल बनानेमें असमर्थ होनेके कारण जिस प्रकार चोरी आदि त्याज्य हैं, उसी प्रकार प्रामाणिकताकी कसौटीपर खरे न उतरनेके कारण प्राचीन कहा जानेवाला तत्त्वज्ञान भी मुमुक्षुका पथ-प्रदर्शन नहीं करेगा।

कालिदासने कितनी सुन्दर बात लिखी है—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि नूनं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीच्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥"

प्राचीन होने मात्रसे सभी कुछ अच्छा नहीं कहा जा सकता और न नवीन होनेके कारण सदोष ही। सत्पुरुष परीक्षा कर योग्यको स्वीकार करते हैं किन्तु अज्ञानी दूसरेके ज्ञानके अनुसार अपनी बुद्धिको स्थिर करते हैं—वे स्वयं उचित-अनुचित बातके विषयमें विचार नहीं करते।

तार्किक जैन आचार्य सिद्धसेन कहते हैं—प्राचीनताका कोई अवस्थित रूप नहीं है। जिसे हम आज नवीन कहते हैं, कुछ कालके व्यतीत होनेपर उसे ही हम प्राचीन कहने लगते हैं। उनका तर्क यह है—

"जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः पुरातनैरेव समो भविष्यति ।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥"

मरनेके अनन्तर अन्य पुरुषोंके लिए हम भी प्राचीन हो जायँगे और प्राचीनोंके सदृश हो जायँगे। ऐसी स्थितिमें पुरातनता कोई अवस्थित वस्तु नहीं रहती; अत एव पुरातन तथा नवीनका परीक्षण करके अङ्गीकार करना चाहिए।

जैन तत्त्वज्ञान समीचीन तथा तर्काबाधित होनेसे मुमुक्षुके लिए वंदनीय है। प्राचीनताके साथ सत्यका सम्बन्ध सोचने वाले सभ्योंके लिए भी जैन सिद्धान्त माननीय है। भारतवर्षमें विदेशी शासन आनेपर जो पूर्वमें पुरातत्त्वज्ञोंने खोज की थी, वह आजके विशिष्ट विकसित अध्ययनके उज्ज्वल आलोकमें केवल मनोरंजनकी वस्तु है, कारण सत्यके प्रकाशमें उसका कुछ भी मूल्य विदित नहीं होता। **एलफिन्सटन** नामक अंग्रेज अपनी भारतीय इतिहासकी पुस्तकमें लिखते हैं[१]–"जैनधर्म छठवीं या सातवीं ईसवीमें उत्पन्न हुआ।" इस परंपराका अनुगमन **टामस, वेवर, जोन्स, सुब्बा** आदि अनेक विद्वानोंने किया। इस विचारके आधारपर जैनधर्मकी ऐतिहासिकताके विषयमें बहुत भ्रम उत्पन्न हुआ; किन्तु आधुनिक शोधने जैनधर्मको अत्यन्त प्राचीन माननेकी अकाट्य सामग्री उपस्थित कर दी है।

अजमेरके पास बंडली ग्राममें एक जैन लेख वीरनिर्वाण संवत् ८८

१ "The Jains appear to have originated in the 6th or 7th century of our era......" History of India P. 121 (२) "वीराय भगवते चतुरासीतिवसे काये जालामालिनिये रंनिविठ माझिमिके"

अर्थात् ईसवी सन्से ४४३ वर्ष पूर्वका [२]महामहोपाध्याय रा० ब० **गौरीशंकर हीराचन्द ओझाने** स्वीकार किया है। इससे ज्ञात होता है कि आजसे लगभग २४०० वर्ष पूर्व राजपूतानामें जैनधर्मका प्रचार था। दिल्लीके अशोक स्तंभमें जैनधर्मका 'णिग्गंठ' शब्द द्वारा उल्लेख किया गया है। प्रशस्तिके उस लेखमें बताया है कि सम्राट् अशोकने अन्य संप्रदायोंके अनुसार निर्ग्रन्थ (निगन्थ) पंथके लिए 'धर्म-महामात्य' की नियुक्ति की थी। जैन साधुओंके पास वस्त्रादि परिग्रहकी गांठ नहीं रहती है अतः उनको निर्ग्रन्थ कहते हैं और उनके मार्गको निर्ग्रन्थ पंथ कहना उचित ही है। यह लेख ईसवीं सन्से २७५ वर्ष पूर्व अर्थात् आजसे २२२१ वर्ष पूर्व जैनधर्मकी महत्त्वपूर्ण स्थितिको सूचित करता है। यदि वह महत्त्वपूर्ण अवस्थामें न होता, तो उसके लिए सम्राट् अशोक विशिष्ट मंत्रीकी नियुक्ति क्यों करता ?

मथुराके कंकालीटीलेमें महत्त्वपूर्ण जैन पुरातत्त्वकी सामग्रीके सिवाय ११० जैन शिलालेख मिले हैं। जो प्रायः कुशान वंशी राजाओंके समयके हैं। **स्मिथ** महाशय उन्हें प्रथम तथा द्वितीय शताब्दीका मानते हैं। एक खड्गासन जैनमूर्ति पर लिखा है "यह अर (अरहनाथ) तीर्थंकरकी प्रतिमा संवत् ७८में इस देवोंके द्वारा निर्मापित स्तूपकी सीमाके भीतर स्थापित की गई।"

इस स्तूपके विषयमें **फुहरर** साहब लिखते हैं—यह स्तूप इतना प्राचीन है, कि इस लेखकी रचनाके समय स्तूप आदिका वृत्तान्त विस्मृत हो गया होगा। लिपिकी दृष्टिसे यह लेख इंडोसिथियन संवत् (शक) अर्थात् सन् १५० ईस्वीका निश्चित होता है। इसलिए ईसवी सन्से अनेक शताब्दी पूर्व यह स्तूप बनाया गया होगा। इसका कारण यह है कि यदि इसकी उस समय रचना की गई होती, जब कि मथुराके जैनी

सावधानीपूर्वक अपने दानको लेखबद्ध कराते थे, तो इसके निर्माताओं-का भी नाम अवश्य ज्ञात रहता।"[१]

इतिहासकारोंने बहुतसी जैनपुरातत्त्वकी महत्त्वपूर्ण सामग्रीको अपनी भ्रान्त धारणाओंके कारण बौद्ध सामग्री घोषित कर दिया है। स्मिथ साहब यह बात स्वीकार करनेका सौजन्य प्रदर्शित करते हैं कि[२] कहीं कहीं भूलसे जैन स्मारक बौद्ध बता दिए गए हैं। डा० फ्लीट अधिक स्पष्टतापूर्वक कहते हैं[३] कि समस्त स्तूप और पाषाणके कटघरे बौद्ध ही होंगे, इस पक्षपातने जैन ढांचोंको जैन माने जानेमें बाधा उत्पन्न की,

---

१ "The stupa was so ancient that at the time, when the inscription was incised, its origin had been forgotten. On the evidence of its character the date of the inscription may be referred with certainty to the Indo-Scythian era and is equivalent A. D. 150. The stupa must therefore have been built several centuries before the beginning of the christian era, for the name of its builders would assuredly have been known, if it had been erected during the period, when the Jains of Muttra carefully kept record of their donations."

Museum report 1890-91.

२ "In some cases monuments which are really Jains, have been erroneously described as Buddhists." V. Smith.

३ "The prejudice that all stupas and stone railings must necessarily be Buddhist, has probably prevented the recognition of Jain structures as such, and upto the present only two undoubted Jain stupas have been recorded" Dr. Fleet Imp. Gaz. Vol 11, p. 111.

और यही कारण है कि अब तक केवल दो ही जैन स्तूपोंका उल्लेख किया गया है।

उत्कल—उड़ीसा प्रान्तमें पुरी जिलेके अन्तर्गत उदयगिरि खण्डगिरिके जैन मदिरका हाथीगुफावाला शिलालेख जैनधर्मकी प्राचीनताकी दृष्टिसे असाधारण महत्त्वपूर्ण है। उस लेखमें "नमो अरहतानं, नमो सव सिद्धानं" आदि वाक्य उसे जैन प्रमाणित करते हैं। उसमें लिखा है कि महामेघवाहन महाराज खारवेल मगध देशके अधिपति पुष्यमित्रके पाससे भगवान् वृषभदेवकी मूर्ति वापिस लाए। तीन सौ वर्षपूर्व मगधाधिपति नन्दनरेश उस मूर्तिको अपने यहां कलिंगसे ले गए थे। स्व० पुरातत्त्वज्ञ बैरि० श्री काशीप्रसाद जायसवालने उस लेखका गंभीर अध्ययन करके लिखा है कि[1] अब तक उपलब्ध इस देशके लेखोंमें जैन इतिहासकी दृष्टिसे वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शिलालेख है।[2] उससे पुराणके लेखोंका समर्थन होता है। वह राज्यवंशके क्रमको ईसासे ४५० वर्ष पूर्व तक

---

१ "But from the point of view of—the history of Jainism, it is the most important inscription yet discovered in the country. It confirms Pauranic record and carries the dynastic chronology to c. 450 B. C. Further it proves that Jainism entered Orrisa and probably became the state religion within hundered year of its founder Mahavira."

२ "नमो अरह (न्) तानं, नमो सवसिधानं। ऐरेन महाराजेन महामेघवाहनेन ......कलिंगाधिपतिना सिरिखारवेलेन......वारसमे च वसे......मा (गधं) च राजानं वह (स) तिमित पादे व (ं) दाप (य) ति, नंदराजनितं कलिंगजिनं संनिवेसं......अग-मगधवसुं नयति...... ।"

—जै० सि० भास्कर भा० ५ कि० १ पृ० २६, ३०।

बताता है। इसके सिवाय उससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् महावीरके १०० वर्षके अनंतर ही उनके द्वारा प्रवर्तित जैनधर्म राज्यधर्म हो गया और उसने उड़ीसामें अपना स्थान बना लिया।'

इस मूर्तिके विषयमें विद्यावारिधि वैरिस्टर चंपतरायजी लिखते हैं—"This statue most probably dated back prior to Mahavira's time and possibly even to that of Parsvanatha."—(Rishabhadeva p. 67) 'यह मूर्ति बहुत करके महावीरके पूर्वकी होगी और पार्श्वनाथसे पूर्ववर्ती भी संभवनीय है।'

आजसे लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व भी जैनधर्मके आद्य तीर्थंकर भगवान् वृषभदेवकी मूर्तिकी मान्यता इस जैन दृष्टिको प्रामाणिक सूचित करती है कि जैन धर्मका उद्भव इस युगमें भगवान् महावीर अथवा पार्श्वनाथसे न मानकर उनके पूर्ववर्ती भगवान् वृषभदेवसे मानना उचित है।

जैन शास्त्रोंमें चौबीस तीर्थंकर-श्रेष्ठ महापुरुष माने गए हैं। हिन्दू शास्त्रोंमें २४ अवतार स्वीकार किए गए हैं। बौद्ध धर्ममें २४ बुद्ध माने गए हैं। जोरेस्ट्रीयनों (Zorastrians) में २४ अहूर (Ahuras) माने गए हैं। यहूदी धर्ममें भी आलंकारिक भाषामें २४ महापुरुष स्वीकार किए गए हैं।[1] जैनेतर स्रोतों द्वारा जैनधर्मके चौबीस महापुरुषोंकी मान्यताका समर्थन यह सूचित करता है कि जैन मान्यता सत्यके आधारपर प्रतिष्ठित है।

---

१ Vide–Rishabhadeva, the Founder of Jainism p. 58, Key of Knowledge.

[1]हिन्दूशास्त्रोंसे विदित होता है कि युगके आदिमें भगवान् वृषभदेवने जैनधर्मकी स्थापना की। वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महामानव थे, जिनकी हिन्दू धर्मके अवतारोंमें भी परिगणना की गई है। जैन शास्त्रोंके समान ही उनके माता-पिता मरुदेवी तथा नाभि राजा कहे गए हैं। भारतवर्षका नाम जिन चक्रवर्ती भरतके प्रभाववश पड़ा वे भगवान् वृषभदेवके गुणवान् पुत्र हिन्दू शास्त्रोंमें भी कहे गए हैं। कूर्मपुराणमें लिखा है कि—"हिमवर्षमें महात्मा नाभिके मरुदेवीसे महा-दीप्तिधारी वृषभ नामक[2] पुत्र हुआ। ऋषभसे भरत हुआ, जो सौ पुत्रोंमें ज्येष्ठ एव वीर था।" मार्कण्डेयपुराणके कथनानुसार[3] पिता ऋषभने दक्षिण दिशामें स्थित हिमवर्ष भरतको दिया। इससे उस महात्माके

---

१ "What is really remarkable about the Jain account is the confirmation of the number four and twenty itself from non-Jain sources. The Hindus indeed, never disputed the fact that Jainism was founded by Rishabhadeva in this half cycle and placed his time almost at what they conceived to be the commencement of the world"-Rishabhadeva, p. 66.

२ "हिमाह्वयन्तु यद्वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युतिः॥
ऋषभात् भरतो जज्ञे वीरः पुत्र शताग्रजः॥"
—(Kurma Purana LXI, 37-38)

३ "ऋषभात् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः॥
हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः॥
—(Markandeya Purana L. 39-41)

कारण यह भारतवर्ष कहलाया। सर राधाकृष्णन्‌ने भागवतके आधार भगवान् ऋषभदेवको जैनधर्मका संस्थापक कहा है।[1] वैदिक विद्वान् प्रो० विरूपाक्ष एम० ए० वेदतीर्थ ऋग्वेदमें भगवान् वृषभदेवके सद्भाव ज्ञापक मंत्रको बताते हुए लिखते हैं—

[2]"ऋषभं मासमानानां सपत्नानां विषासहि।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपितं गवाम्॥—१०१-२१-६६।"

हे रुद्रतुल्यदेव! क्या तुम हम उच्चवंशवालोंमें ऋषभदेवके समान श्रेष्ठ आत्माको उत्पन्न नहीं करोगे। इनकी अर्हन् उपाधि आदि धर्मोपदेष्टापनेको द्योतित करती है। उसे शत्रुओंका विनाशक बनाओ। डा० जैकोबीका कथन है[3]; "भगवान् पार्श्वनाथको जैनधर्मके संस्थापक प्रमाणित करनेवाले साधनोंका अभाव है। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवको जैन धर्मका संस्थापक प्रमाणित करनेमें जैनपरम्परा एकमत है। इस परंपरामें, जो उनको प्रथम तीर्थङ्कर बताती है, कुछ ऐतिहासिक तथ्य संभवनीय है।" पूर्वोक्त जैनेतर प्रमाण भी जब ऋषभदेवको जैनधर्मके संस्थापक बताते हैं, तब उसमें निश्चित ऐतिहासिक तथ्य मानना होगा अन्यथा ऐतिहासिक तथ्य किसे मानेंगे? यही बात बैरिस्टर चंपतरायजी

---

१ "The Bhagawat Purana endorses the view that Rishabha was the founder of Jainism," Indian Phil. p. 287.

२ "Rishabhadeva."

३. "There is nothing to prove that Parsva was the founder of Jainism. Jain tradition is unanimous in making Rishabha, the first Tirthamkara (as its founder). There may be some thing historical in the tradition, which makes him the first Tirthamkara."

भी कहते हैं–"If this is not history and historical confirmation, I do not know what else would be covered by these terms."—(Rishabhadeva p. 66).

वैदिक साहित्यमें अर्हन्, श्रमण, 'मुनयः वातवसनाः', व्रात्य, महाव्रात्य आदि शब्दों द्वारा जैन परम्पराका उल्लेख किया गया है। **श्री काशीप्रसाद जायसवालने** लिखा है[1] 'कि लिच्छवि लोग व्रात्य अथवा अब्राह्मण क्षत्रिय कहलाते थे। उनकी प्रजातंत्र रूप शासनपद्धति थी। उनके देवस्थान पृथक् थे। उनकी पूजा अवैदिक थी। उनके धर्मगुरु पृथक् थे। वे जैनधर्मका संरक्षण करते थे।" **प्रोफेसर चक्रवर्तीने** अथर्ववेदमें अनेक वार उल्लिखित व्रात्यका अर्थ यज्ञ करनेवालेके विपरीत व्रत पालनेवाला किया है।[2]

प्राचीन प्रतिवाले वेद आदिका परिशीलन कर महान् विद्वान् **पं० टोडरमलजीने** अपने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थमें अनेक अवतरण देकर बताया है कि वेदोंमें चौबीस तीर्थङ्करोंकी वन्दना की गई है। उसमें नेमिनाथ, सुपार्श्वनाथ नामक २२वें तथा सातवें तीर्थङ्करका उल्लेख किया गया है, किन्तु वर्तमान वेदके संस्करणोंमें अनेक मंत्रोंका दर्शन नहीं होता। इसका कारण **श्री बैरिस्टर चम्पतरायजीके** शब्दोंमें यह है

---

१. "They are called Vratyas orunbrahmanical Kshatriyas; they had a republican form of Government; they had their own shrines, their non-Vidic worship; their own religious leaders; they patronised Jainism.", Modern Review. —p. 499, 1929.

२. Eng. Jain Gazette part 6, vol xxxl

कि सांप्रदायिक विद्वेषवश ग्रंथोंमें काट छांट अवश्य हुई है।[1] श्रीहरिसत्य भट्टाचार्य एम० ए० सदृश उदार विद्वान् 'भगवान् अरिष्टनेमि' नामक अंग्रेजी पुस्तक (पृ० ८८, ८९) में नेमिनाथ भगवान्को ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार करते हैं। यदि महाभारतके प्रमुख पुरुष श्रीकृष्ण इतिहासकी भाषामें अस्तित्व रखते हैं, तो उनके चचेरे भाई परम दयालु भगवान् नेमिनाथका कौन सहृदय ऐतिहासिक विभूति न मानेगा? जिनके निर्वाण स्थल रूपमें उर्जयन्त गिरि पूजा जाता है।

जैनेतर साहित्य, जैन वाङ्मय तथा शिलालेख आदिके प्रकाशमें जैनधर्म भारतका सबसे प्राचीन धर्म प्रमाणित होता है। जैनशास्त्रोंका वर्णन और उसकी यथार्थताका परिज्ञान करानेवाली मथुराकी जैनस्तूप आदि सामग्रीको दृष्टिमें रखते हुए श्रीविंसेन्ट स्मिथ लिखते हैं—

---

१. "It is interesting to note that Jain writers have quoted many other passages from the Vedas themselves, which are no longer to be found in the current editions. Weeding has very likely been carried out on a large scale. This may be accounted for by the bitter hostilify of the Hindus Towards Jainism in recent historical times."......Rishabhdeva. P. 68.

२ "The discoveries have to very large extent supplied corroboration to the written Jain tradition and they offer tangible and incontrovertible proff of the antiquity of the Jain religion and of its early existence very much in its present form. The series of twenty four pontiffs (Tirthamkaras) each in his distinctive emblem was evidently firmly believed in at the beginning of the Christian era."

"इन खोजोंसे लिखित जैन परंपराका अत्यधिक समर्थन हुआ है। वे इस बातके स्पष्ट और अकाट्य प्रमाण हैं कि जैनधर्म प्राचीन है और वह प्रारंभमें भी वर्तमान स्वरूपमें था। ईसवी सन्के प्रारंभमें भी चौबीस तीर्थंकर अपने-अपने चिह्न सहित निश्चयपूर्वक माने जाते थे।"

जब स्मिथ सदृश प्रकाण्ड ऐतिहासिक विद्वान् जैनपरंपराके प्रतिपादनसे अविरुद्ध सामग्रीको देखकर उसे अकाट्य कहते हैं, तब ऐतिहासिक क्षेत्रमें विज्ञ पुरुषोंका जैन मान्यताओंको उचित आदर प्रदान करना चाहिए। जैनवाङ्मयकी शब्दावली आदिमें कुछ सादृश्य देखकर कोई कोई लोग जैन और बौद्ध धर्मोंको अभिन्न समझा करते थे, किन्तु अर्वाचीन शोध दोनों धर्मोंकी भिन्नताको पूर्णतया स्पष्ट करती है। संवत् १०७० में रचित अपने धर्मपरीक्षा नामक संस्कृत ग्रन्थमें अमितगति आचार्य कहते हैं कि भगवान् पार्श्वनाथके शिष्य मौडिलायन नामक तपस्वीने वीर भगवान्से[1] रुष्ट होकर बुद्ध दर्शन स्थापित किया और अपने आपको शुद्धोदनका पुत्र बुद्ध परमात्मा कहा।

जैन और बौद्ध साहित्यका तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले विशेषज्ञ डाक्टर विमलचरण लाने बताया है कि कुछ शब्द जैन वाङ्मयमें जिस अर्थमें प्रयुक्त होते हैं, उन शब्दोंका बौद्धसाहित्यमें[2] अन्य अर्थमें लिया गया है। कुछ जैन शब्द बौद्धोंमें नहीं पाए जाते हैं। जैसे आकाशका जो भाव जैनोंने ग्रहण किया है, उसका बौद्धग्रंथोंमें अभाव है। जीव

---

१ "रुष्टः श्रीवीरनाथस्य तपस्वी मौडिलायनः।
शिष्यः श्रीपार्श्वनाथस्य विदधे बुद्धदर्शनम्॥
शुद्धोदनसुतं बुद्धं परमात्मानमब्रवीत्॥ अ० १८।"

२ "Vide—The Introduction to BHAGAWAN MAHAVIRA AURA MAHATMA BUDDHA.

शब्दका अर्थ जैनोंमें सचेतन किया गया है बौद्धोंमें उसे प्राणवाची कहते हैं। जैन शास्त्रोंमें आस्रवका अर्थ है कर्मोंके आगमनका द्वार किन्तु बौद्धशास्त्रोंमें उसे 'पाप' का पर्यायवाची कहा है। कर्मके बंधनको जैन लोग बंध कहते हैं, इसे बौद्ध संवर नामसे कहते हैं। जैनियोंके समान बौद्धोंमें निर्जराका भाव नहीं है। पूर्ण स्वतंत्रताका द्योतक 'मोक्ख' का बौद्धोंमें अभाव है। साधन, स्थिति, विधान आदि जैनियोंकी बातें बौद्ध साहित्यमें नहीं हैं। 'श्रावक' का अर्थ जैनियोंमें गृहस्थ होता है। बौद्ध 'भिक्खू' को श्रावक कहते हैं। 'रत्नत्रय' का भाव दोनोंमें जुदा-जुदा है। जैनशास्त्रोंमें जैसा षड्द्रव्योंका वर्णन है, वैसा बौद्ध साहित्यमें नहीं है। इन शब्दोंके अर्थोंपर गंभीर विचार करते हुए डा० जैकोबीने एक महत्त्वपूर्ण शोध की, कि 'आस्रव', 'संवर' सदृश शब्दोंका जैन साहित्यमें मूल अर्थमें उपयोग हुआ है और बौद्धसाहित्यमें उसका अन्य अर्थमें (Metaphorically) प्रयोग हुआ है. अतः मूल अर्थ का प्रयोग करनेवाला जैनधर्म बौद्धधर्मकी अपेक्षा विशेष प्राचीन है।

स्वामी विवेकानन्दने कहा था 'Buddhism is the rebelled child of Hinduism' बुद्धधर्म हिन्दूधर्मसे बगावत करनेवाला बच्चा है। 'भारतवर्षाचा धार्मिक इतिहास' नामक मराठी पुस्तकके लेखक श्री साने लिखते हैं "हे स्वामी विवेकानन्दाचे बुद्धधर्मासम्बन्धीचे उद्गार जैनधर्मासही तंतोतंत लागू पड़तात"—"ये स्वामी विवेकानन्दके बुद्धधर्म सम्बन्धी उद्गार जैनधर्मके विषयमें पूर्णतया चरितार्थ होते हैं।" अभी अगस्त माहमें कांग्रेस कार्यकारिणीके एक उत्तरदायी सदस्यने भी जैनधर्मके विषयमें 'revolt religion'—क्रान्तिकारी धर्म कहकर अपना भाव व्यक्त किया था।[1] निष्पक्ष इतिहासके उज्ज्वल प्रकाशमें

[1] पं० जवाहरलाल नेहरूकी 'Discovery oi India' नामक पुस्तकमें भी जैनधर्मके बारेमें इसी प्रकार भ्रान्त धारणाओंका दर्शन होता है। इस विषयमें सत्यका

इस सम्बन्धमें विचार करना उचित प्रतीत होता है । प्रोफेसर चक्रवर्ती मद्रासने वैदिक साहित्यका तुलनात्मक अध्ययन कर यह शोध की कि कम-से-कम जैनधर्म उतना प्राचीन अवश्य है, जितना कि हिन्दूधर्म। उनकी तर्क पद्धति इस प्रकार है। वैदिक शास्त्रोंका परिशीलन हिंसात्मक एवं अहिंसात्मक यज्ञोंका वर्णन करता है। 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' 'जीव वध मत करो' की शिक्षाके साथ 'सर्वमेधे सर्वं हन्यात्' सर्वमेध यज्ञमें सर्वजीवोंका हनन करनेवाली बात भी पाई जाती है। ऋग्वेदमें शुनःक्षेपकी कथा आई है, उसमें अहिंसात्मक यज्ञके समर्थक वसिष्ठ मुनि हैं और हिंसात्मक बलिदानके समर्थक विश्वामित्र ऋषि हैं। यह आश्चर्यप्रद बात है, कि अहिंसा पक्षका समर्थन क्षत्रिय नरेश करते हैं और हिंसात्मक बलिदानकी पुष्टि ब्राह्मणवर्गके द्वारा होती है। वैदिक युगके अनन्तर ब्राह्मणसाहित्यका समय आया। उसमें पूर्वोक्त धाराद्वयका संघर्ष वृद्धिगत होता है। शतपथ ब्राह्मणमें कुरुपांचालके विप्रवर्गको आदेश किया गया है, कि तुम्हें काशी, कौशल, विदेह, मगधकी ओर नहीं जाना चाहिए, कारण इससे उनकी शुद्धताका लोप हो जायगा। उन देशोंमें पशुबलि नहीं होती हैं। वे लोग पशुबलि निषेधको सच्चा धर्म बताते हैं। ऐसी अवस्थामें कुरुपांचाल देशवालोंका काशी आदिकी ओर जाना अपमानको आमंत्रित करना है। पूर्वकी ओर नहीं जानेका कारण यह भी बताया है कि वहां क्षत्रियोंकी प्रमुखता है, वहां ब्राह्मणादि तीन वर्णोंको सम्मानित नहीं किया जाता। इससे पूर्व देशोंकी ओर जानेसे कुरुपांचालीय विप्रवर्गके गौरवको क्षति प्राप्त होगी।

दर्शन करनेके लिए जिज्ञासुओंको प्रख्यात व्यक्तियोंके वचन-मोहको छोड़कर प्रशांत एवं सक्रिय शोधक दृष्टिको सजग रखना होगा। कारण प्रकाशके नामपर अंधकारसे सत्य अधिक आवृत हुआ है।

वाजसनेयी संहितासे विदित होता है कि पूर्व देशके विद्वान् शुद्ध संस्कृत भाषा नहीं बोलते थे। उनकी भाषामें 'र' के स्थानमें 'ल' का प्रयोग होता था। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय प्राकृत भाषाका प्रचार था, जिससे पाली तथा अर्वाचीन प्राकृत भाषाकी उत्पत्ति हुई। प्राकृत भाषाका प्रयोग जैन साहित्यमें पाया जाता है।

उपनिषद्-कालीन साहित्यका अनुशीलन सूचित करता है कि उसमें आत्मविद्याके साथ ही साथ तपश्चर्याको भी उच्च धर्म बताया है। इस युगमें हम देखते हैं कि कुरुपांचालीय विप्रगण पूर्वीय देशोंकी ओर गमन करनेको उत्कण्ठित दिखाई पड़ते हैं कारण वहाँ उन्हें आत्मविद्याके अभ्यास करनेका सौभाग्य प्राप्त होता है। पहले जिसको वे कुधर्म कहते थे, अब उसे ही प्राप्त करनेको वे लालायित हैं। याज्ञवल्क्य और राजर्षि जनक आत्मविद्याके समर्थक हैं और अप्रत्यक्ष रीतिसे पशुबलि वाले पुरातन सिद्धान्तका निषेध करते हैं। इस प्रकार आत्मविद्याके समर्थक ही पशुबलिके विरोधक थे। इनको ही प्रोफेसर चक्रवर्ती जैनधर्मके पूर्व पुरुष कहते हैं। जैनधर्मके अनुसार क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न होने वाले चौबीस तीर्थङ्कर ही अहिंसा धर्मका संरक्षण करते हैं। अत एव यह दृढ़ता पूर्वक कहा जा सकता है, कि जैनधर्म कमसे कम[1] वैदिक धर्मके समान प्राचीन अवश्य है।

कोई कोई व्यक्ति सोचते हैं, कि वेदमें जैन संस्कृतिके संस्थापक तथा उन्नायकोंका उल्लेख क्यों आता है, जब कि वेद अन्य धर्मकी पूज्य वस्तु

---

१ "We may make bold to say that Jainism, the religion of Ahimsa (non-injury) is probably as old as the Vedic religion, if not older." Cultural Heritage of India P. 185-8.

१९

है ? इसके समाधानमें यह बताना उचित है कि जब तक वेद अहिंसाके समर्थक रहे, तब तक वे जैनियोंके भी सम्मानपात्र रहे। जब 'अजैर्यष्टव्यम्' मंत्रके अर्थ पर पर्वत और नारदमें विवाद हुआ, तब न्याय-प्रदाताके रूपमें मोहवश राजा वसुने 'अज' शब्दका अर्थ अंकुर उत्पादन शक्ति रहित तीन वर्षका पुराना धान्य न करके 'बकरा' बताया और हिंसात्मक बलिदानका मार्ग प्रचारित किया। जैन हरिवंशपुराणकी[१] इस कथाका समर्थन महाभारतमें भी मिलता है। इस प्रकार अहिंसात्मक वेदकी धारा पशु बलिकी ओर झुकी। अतः अहिंसाको अपना प्राण माननेवाले जैनियोंने वेदको प्रमाण मानना छोड़ दिया। पूर्वमें वेदोंका जैनियोंमें आदर था, इसलिए ही वेदमें जैन महापुरुषोंसे सम्बन्धित मंत्रादिका सद्भाव पाया जाता है, किन्तु खेद है कि साम्प्रदायिक विद्वेषके कारण उस सत्यको विनष्ट किया जा रहा है।

केन्द्रीय धारा सभाके भूतपूर्व अध्यक्ष सर षण्मुखं चेट्टीने चार पाँच वर्ष पूर्व मद्रासमें महावीरजयंती महोत्सव पर अपने भाषणमें कहा था, कि–आर्य लोग बाहरसे भारतमें आए थे। उस समय भारतमें जो द्रविड़[२] लोग रहते थे, उनका धर्म जैनधर्म ही था। अतः प्रमाणित होता है, कि भारतवर्षके आदि निवासी जैनधर्मके आराधक रहे हैं। [३]ऋग्वेदमें पुरातत्त्वज्ञोंको भारतवर्षके प्राचीन अधिवासियोंके विषयमें महत्त्वपूर्ण

---

१ देखो–हरिवंशपुराण पर्व १७, पृ० २६३-२७२।

२ सदाचार, गुणादिकी अपेक्षा द्रविड़ोंको शास्त्रीयभाषामें आर्य मानना होगा।

३ Yesterday and Today—Chapter on Glimpse of Ancient India pp. 59-71. by. Raibahadur A. Chakravarty M. A. I. E. S; (Retd)

सामग्री प्राप्त होती है। आर्य लोग तो बाहरसे आए थे। उनके सिवाय जो लोग यहाँ रहते थे, उनको वेदमें घृणित शब्दोंमें 'दस्यु' अथवा 'दास' कहा है। आदिनिवासी होनेके कारण उन लोगोंने आर्योंको स्वदेशमें प्रवेशका प्रतिरोध किया, इसलिए शत्रुओंका निन्दनीय वर्णन आगत आर्यों द्वारा होना अस्वाभाविक नहीं है। कथित 'दस्यु' वर्गका धर्म, संस्कृति, वर्ण आदि पृथक् था। उनका वर्ण श्याम था। वे अयज्वन (यज्ञबलि विहीन), अकर्मन् (वैदिक क्रियाकाण्डशून्य) अदेव्य (देवोंके विषयमें उदासीन), अन्यव्रत (भिन्न प्रकारके नियमोंके पालन करने वाले) तथा देवपीयु (देवताओंका तिरस्कार करने वाले) (कारण मांस आदिको ग्रहण करने वाले कथित देवताओंका सम्मान करना उनकी संस्कृतिके विपरीत है) थे। वे आर्योंके देवताओं, यज्ञों तथा धार्मिक विचारोंका प्रकट रूपमें निषेध करते थे, उनकी नासिकाकी आकृति आर्योंकी अपेक्षा जुदी थी। अतः उनको **'अनास'** कहा है। उन्हें 'मृध्रवाक्' (Mridhravac) कहा है, जो उनकी अस्पष्ट भाषा या विरुद्ध वाणीको सूचित करता है। पुरातत्त्वज्ञोंके मतमें ये ही द्रविड लोग थे। उनका असुन्दर चित्रण द्वेषबुद्धिवश आर्योंने किया है। द्रविड लोगोंकी भाषा संस्कृत न थी। वह भाषा प्राकृत थी, जिसके द्वारा वे अपने धार्मिक साहित्यका प्रचार करते थे। यह तामिल नामक द्रविड भाषाके अधिक सन्निकट है। अत्यन्त प्राचीन तामिल साहित्य, विशेषतः 'टोलकप्पैयम्' (Tolkappium) नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थसे उपरोक्त बातोंका समर्थन होता है।

इससे यह प्रमाणित होता है कि जैनधर्मकी प्राचीनताकी जड़ कितनी गहरी है। वह वैदिक धर्मका न तो अंग है, न उससे प्रभावित है। तुलनात्मक धर्मके विशेषज्ञ विद्यावारिधि श्री **चम्पतरायजी बैरिस्टरने**

अपनी शोधका यह परिणाम प्रकाशित किया है[१] कि जैनधर्म वैज्ञानिक तथा सुव्यवस्थित है। वैज्ञानिक[२] दार्शनिक विचारप्रणालीके अनन्तर रूपकयुक्त (allegorical) धार्मिक विचारधारा प्रचलित हुई। मूल तत्त्वकी ओर ध्यान न रहनेसे रूपक तथा पौराणिकताने विवाद और द्वन्द्व प्रारंभ कर दिया। वैज्ञानिक समन्वयकारी प्रणालीके प्रकाशमें विरोध, असंभाव्यता आदि दोष क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं। वैज्ञानिक पद्धतिको अङ्गीकार करनेवालोंके वंशजोंको आज जैन कहते हैं। जिन्होंने पहले-पहले रूपक या आलंकारिक पौराणिकताको अपनाया वे हिन्दू कहे जाते हैं। **इस दृष्टिसे जैनधर्म वैदिक धर्मसे पूर्ववर्ती सिद्ध होता है।**

सिन्धु नदीके तट पर अवस्थित **मोहनजोदड़ो एवं हडप्पा** नामक स्थानोंमें खुदाईके द्वारा जो आजसे पांच हजार वर्ष पूर्वकी भारतीय समृद्धि, विकास तथा सभ्यताको बताने वाली महत्त्वपूर्ण सबसे प्राचीन

---

१ "Religion then is a science and originated amongst Aryans. Amongst the Aryans it originated with the Jains: not with the non-Jain Aryans. All the chief religious quarrels of men have arisen without exception, through mythology and will end completely, the moment it is thrown away by men. The descendents of former (scientific section) are termed Jainas today; those who allegorised first of all are the Hindus." Rishabhadeva. p. v–xi.

२ "All mythologies as a matter of fact started with the teaching of truth as taught by the Tirthamkaras. From its very nature scientific religion could not have been a hole and corner affair".

Rishabhadeva. p. VI., Refer 'Key of Knowledge' & 'Confluence of Opposites.'

सामग्री उपलब्ध हुई है, उससे भी जैनधर्मकी प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है और यह सूचित होता है कि प्राचीनतम सामग्री जैनधर्म तथा संस्कृतिके स्वतंत्र सद्भावको बताती है। जब कि आज विद्यमान संस्कृतियों और धर्मोंका नामोनिशान नहीं मिलता, तब भी जैनसंस्कृतिका सद्भाव बताने वाली महत्त्वपूर्ण सामग्री जैनधर्मकी प्राचीनताको प्रकट करती है।

उक्त खुदाईमें उपलब्ध सील-मुहर नं० ४४९ में डा० प्राणनाथ विद्यालंकार-जैसे वैदिक विद्वान् जिनेश्वर शब्दका सद्भाव पढ़ते हैं। रायबहादुर चंदा जैसे महान् पुरातत्त्वज्ञका कथन है कि वहाँ की मोहरोंमें जो मूर्ति पाई जाती है, उसमें मथुराकी ऋषभदेवकी खड्गासन मूर्तिके समान त्याग अथवा वैराग्यका भाव अंकित है। सील नं० एफ० जी० एच० में वैराग्य मुद्राके साथ, नीचेके भागमें, ऋषभदेवका सूचक बैलका चिह्न भी पाया जाता है।[१]

इस प्रकार महत्त्वपूर्ण सामग्रीके प्रकाशमें मेजर जनरल फरलाँग

---

१ Ramprasad Chanda :—"Sindh Five Thousand Years Ago"—in Modern Review August 1932 plate 11 fig. d & p. 159 "the pose of the image (standing Risabha in Kayotsarga form from Mathura reproduced in fig. 12) closely resembles the pose of the standing deities on the Indus seals. Among the Egyptian sculptures of the time of the early dynasties (III–VI) there are standing statuettes with arms hanging on two sides....... But though these Egyptian statues and the archaic Greek Kouri show nearly the same pose, they lack the feeling of abandonment that characterises the standing figures of the Indus seals three to five (Plate II. F.

एम० ए० एफ० आर० ए० एस० का यह कथन हृदयग्राही मालूम होता है—"पश्चिमीय एवं उत्तरीय मध्यभारतका ऊपरी भाग ईसवी सन्से १५०० वर्षसे लेकर ८०० वर्ष पूर्व पर्यन्त, उन तूरानियोंके अधीन था, जिनको द्रविड़ कहते हैं। उनमें सर्प, वृक्ष तथा लिंगपूजाका प्रचार था।...उस समय उत्तर भारतमें एक प्राचीन, अत्यन्त संगठित धर्म प्रचलित था, जिसका दर्शन, आचार एवं उच्च तपश्चर्या सुव्यवस्थित थी, वह जैनधर्म था। उससे ही ब्राह्मण तथा बौद्धधर्ममें आरंभिक तपश्चर्याके चिह्न प्रवृद्ध हुए। आर्य लोगोंके गंगा अथवा सरस्वती तक पहुँचनेके बहुत पूर्व अर्थात् ईसवी सन्से आठ सौ, नौ सौ वर्ष पहले होनेवाले तीर्थङ्कर पारसनाथके पूर्व बाईस तीर्थङ्करोंने जैनियोंको उपदेश दिया था।"[१]

G. H.) with a bull (?) in the foreground may be the prototype of Rishaba".

—Quoted in the Jain Vidya Vol. I, no. I, Lahore.

मोहनजोदरो की सीलको वैराग्ययुक्त कायोत्सर्ग मुद्रा तथा वृषभ का चिह्न भगवान वृषभदेवके प्रभाव को द्योतित करते हैं। जिनको यह स्वीकार करना आपत्तिप्रद मालूम पड़ता है, उनको कमसे कम यह स्वीकार करना होगा, कि सिन्धु नदीकी सभ्यताके समय जैन धर्म था, जिसका प्रभाव सील की मूर्ति द्वारा अभिव्यक्त होता है।

पूर्वोक्त अवतरणमें श्रीरामप्रसाद चन्दा सीलों को वृषभदेवकी द्योतक बताते हैं। जो श्री चन्दा महाशय से सहमत न हों, उन्हें यह मानना न्याय्य होगा, कि उस पुरातन काल में एक ऐसी सभ्यता या संस्कृति थी, जिसे आज जैन कहते हैं। उसका प्रभाव सील द्वारा प्रकाशित होता है। अतः सील या तो जैन तीर्थंकर वृषभदेवको द्योतित करती है, अथवा जैन प्रभावको सूचित करती है।

१ "All upper, Western, North Central India was then say 1500 to 800 B. C. and indeed from unknown times-rules

फरलाँग साहब इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि "जैनधर्मके प्रारंभको जानना असंभव है ।"[१]

इससे यह भ्रम भी दूर हो जाता है कि जैनधर्म हिन्दू धर्मकी बुराइयोंको दूर करनेके लिए संशोधित-हिन्दूधर्म (Protestant) के रूपमें उद्भूत हुआ । जैनधर्म मौलिक और स्वतंत्र है । डा० ए० गिरनाटने लिखा है[२]—"जैनधर्ममें मनुष्यकी उन्नतिके लिए सदाचारको अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है । जैनधर्म अधिक मौलिक, स्वतन्त्र तथा सुव्यवस्थित है । ब्राह्मण धर्मकी अपेक्षा यह अधिक सरल, संपन्न एवं

---

by Turanians, conveniently called Dravids and given to tree, serpent, phalik worship—,but there also then existed throughout upper India an ancient and highly organised religion, philosophikal, ethikal and severely ascetikal viz. Jainism, out of which clearly developed the early ascetikal features of Brahmanism and Buddhism. Long before the Aryans reached the Ganges or even Saraswati, Jains had been taught by some 22 prominent Bodhas, saints or Tirthamkaras, prior to the historical 23rd Bodha Parsva of the 8th or 9th century B. C."—Short Studies in the Science of Comparative Religion by Major General J. G. R. Furlong F. R. A. S. P. 243-44.

१ 'It is impossible to find the beginning of Jainism'.

२ "There is very great ethical value in Jainism for man's improvement. Jainism is very original, independent and systematic doctrine. It is more simple, more rich and varied than Brahmanical systems and not negative like Buddhism".

—Dr. A, Guiernot.

विविधतापूर्ण है और यह बौद्धधर्मके समान शून्यवादी नहीं है।"

जैनधर्मका साहित्य मौलिक है। इसकी भाषा भी स्वतंत्र है। इसका कानून भी हिन्दू कानूनसे पृथक् है। ऐसी भिन्नताकी सामग्रीको ध्यानमें न रख कोई-कोई इसे 'आर्यधर्मकी शाखा' बतानेमें अपनेको कृतार्थ मानते हैं। मद्रास हाईकोर्टके स्थानापन्न प्रधान विचारपति श्रीकुमारस्वामी शास्त्रीने हिन्दूधर्मावलम्बी होते हुए भी सत्यानुरोधसे यह लिखा है[१]—"आधुनिक शोधने यह प्रमाणित कर दिया है कि जैनधर्म हिन्दूधर्मसे मतभिन्नता धारण करनेवाला उपभेद नहीं है। जैनधर्मका उद्भव एवं इतिहास उन स्मृति, शास्त्रों तथा उनकी टीकाओंसे बहुत प्राचीन है जो हिन्दू कानून और रिवाजके लिए प्रामाणिक मानी जाती हैं। यथार्थ बात तो यह है, कि जैनधर्म हिन्दूधर्मके आधार-स्तंभ वेदोंको प्रमाण नहीं मानता। यह उन अनेक क्रियाकाण्डोंको अनावश्यक मानता है, जिन्हें हिन्दू लोग आवश्यक समझते हैं।"

---

१ "Were the matters res integra I would be inclined to hold that modern research has shown that Jains are not Hindu dissenters but that Jainism has an origin and history long anterior to the Smritis and commentaries, which are recognised authorities on Hindu law, usage...... In fact Jainism rejects the authority of the vedas, which form the bedrock of Hinduism and denies the efficacy of various ceremonies, which the Hindus consider essential."

Sir Kumarswami Acting Chief Justice Madras H. Court Vide Jain Law Supplement by C. R. Jain Bar-at-law.

इस प्रसंगमें बंबई हाईकोर्टके न्यायमूर्ति श्रीरांगलेकरका यह निर्णय भी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है कि[1]—"यह सत्य है कि जैन लोग वेदोंको अपना धर्मग्रन्थ नहीं मानते। ब्राह्मणधर्मके समान वे मृतके क्रिया कर्म, श्राद्ध एवं स्वर्गीय व्यक्तिके लिए नैवेद्य अर्पण करनेकी बातको स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी यह भी धारणा है कि औरस अथवा दत्तकपुत्रसे पिताकी आत्माको कोई भी आत्मीक श्रेय नहीं प्राप्त होता। वे ब्राह्मण-धर्मवाले हिन्दुओंसे मृत व्यक्तिके शरीर-दाह अथवा गड़ानेके सिवाय

---

१ "It is true the Jains reject the scriptural character of the Vedas and repudiate the Brahmanical doctrines relating to obsequial ceremonies, the performance of Shradhas and the offering of oblations for the salvation of the soul of the deceased. Amongst them there is no belief that a son by birth or adoption confers spiritual benefit on the father. They also differ from the Brahminical Hindus in their conduct towards the dead, omitting all obsequies after the corpse is burnt or buried. Now it is true as later historical researches have shown that Jainism prevailed in this country long before Brahminism came into existence or converted into Hinduism. It is also true that owing to their long association with the Hindus, who formed the majority in the country, the Jains have adopted many of the customs and even ceremonies strictly observed by the Hindus and pertaining to Brahminical religion."

Mr. Justice Ranglekar Bom. High Court, A. I. R. 1939, Bom. 377.

अन्य क्रियाकाण्ड न करनेके कारण पृथक् हैं। आधुनिक ऐतिहासिक शोधसे यह प्रकट हुआ है कि यथार्थमें ब्राह्मण धर्मके सद्भाव अथवा उसके हिन्दूधर्म रूपमें परिवर्तित होनेके बहुत पूर्व जैनधर्म इस देशमें विद्यमान था। यह सत्य है कि देशमें बहुसंख्यक हिन्दुओंके संपर्कवश जैनियोंमें ब्राह्मण धर्मसे सम्बन्धित अनेक रीति रिवाज प्रचलित हो गए हैं।"

यदि अधिक गंभीरताके साथ अन्वेषण एवं शोधका कार्य किया जाय, तो जैनधर्मके विषयमें ऐसी महत्त्वपूर्ण बातें प्रकाशमें आवेंगी, जिससे जगत् चकित हो उठेगा। जो धर्म बृहत्तर भारतका धर्म रह चुका है, जो चंद्रगुप्त सदृश प्रतापी नरेशोंके समयमें राष्ट्रधर्म रहा है, उसकी बहुमूल्य सामग्री अब भी भूगर्भमें लुप्त है। भारतके बाहर भी जैनधर्मका प्रसार पुरातनकालमें रहा है। कुछ वर्ष पूर्व आस्ट्रियाके बूडापेस्ट नगरके समीपवर्ती खेतमें एक किसानको भगवान् महावीरकी मूर्ति प्राप्त हुई थी[१]।

एक पुरातत्त्ववेत्ताका कथन है[२]—अगर हम दस मील लम्बी त्रिज्या (Radius) लेकर भारतके किसी भी स्थानको केन्द्र बना वृत्त बनावें तो उसके भीतर निश्चयसे जैन भग्नावशेषोंके दर्शन होंगे।" इससे जैनधर्मके प्रसार और पुरातन कालीन प्रभावका बोध होता है।

जैनधर्मकी प्राचीनता पर यदि दार्शनिक शैलीसे विचार किया जाय,

---

१ Vide Samprati p. 335.

२. "An eminent archaeologist says that if we draw a circle with a radius of ten miles, having any spot in India as the centre, we are sure to find some Jain remains within that circle."

—Vide Kannad Monthly Vivekabhyudaya p. 96, 1940.

तो कहना होगा, कि यह अनादि है। जब पदार्थ अनादि निधन हैं, तब वस्तुस्वरूपका प्रतिपादक सिद्धान्त क्यों न अनादि होगा? इस पद्धतिसे विचार करने पर जैनधर्म विश्वका सर्वप्राचीन धर्म माना जायगा। यह धर्म सर्वज्ञ तीर्थङ्कर भगवान्के द्वारा प्रतिपादित सत्यका पुंजस्वरूप है, अतः इसमें कालकृत भिन्नताका दर्शन नहीं होता और यह एकविध पाया जाता है। स्मिथ सदृश इतिहासवेत्ताओंने इसे स्वीकार किया है कि जैनधर्मका वर्तमान रूप (Present form) लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भी विद्यमान था। बौद्धपाली ग्रन्थोंसे भी इसकी प्राचीनताका समर्थन होता है। जैनशास्त्र बताते हैं कि इतिहासातीत कालमें भगवान् वृषभदेवने अहिंसात्मक धर्मको प्रकाशित किया, जिसको पुनः पुनः प्रकाशमें लानेका कार्य शेष २३ तीर्थंकरोंने किया। प्राचीनताके वंदकोंके लिए भी जैन सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है।

---

१ 'The Nigganthas (Jainas) are never referred to by the Budhists as being a new sect, nor is their reputed founder Nataputta spoken of as their founder, whence Jacobi plausibly argues that their real founder was older than Mahavira and that this sect preceded that of Buddha'.

—Religion of India by Prof. E. W. Hopkins p. 283.

बौद्धोंने निर्ग्रन्थों (जैनों) का नवीन संप्रदायके रूपमें उल्लेख नहीं किया है और न उनके विख्यात संस्थापक नातपुत्तका संस्थापकके रूपमें ही किया है। इससे जैकोबी इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि जैन धर्मके संस्थापक महावीरकी अपेक्षा प्राचीन हैं तथा यह संप्रदाय बौद्ध संप्रदायके पूर्ववर्ती है।

पराक्रमके प्राङ्गणमें

कुछ लोगोंकी धारणा है कि अब सम्पूर्ण विश्वमें वीरताकी क्रियात्मक शिक्षा देनेमें ही मानव जातिका कल्याण है। यह युग 'Survival of the fittest'—'जाको बल ताहीको राज'की शिक्षा देता हुआ यह बताता है कि बिना बलशाली बने इस संघर्ष और प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण जगत्में सम्मानपूर्ण जीवन संभव नहीं। बलमुपास्व—शक्तिकी उपासना करो यह मंत्र आज आराध्य है। दीन-हीनके लिये सजीव प्रगतिशील मानव-समाजमें स्थान नहीं है। उन्हें तो मृत्युकी गोदमें चिरकाल पर्यंत विश्राम लेनेकी सलाह दी जाती है। जैन आचार्य वादीभसिंह सूरि अपने क्षत्रचूणामणिमें **'वीरभोग्या वसुन्धरा'** लिखकर वीरताकी ओर प्रगति-प्रेमी पुरुषोंका ध्यान आकर्षित करते हैं। हिंदू शास्त्रकार इस दिशामें तो यहाँ तक लिखते हैं कि बिना शक्ति-संचय किये यह मानव अपने आत्मस्वरूपकी उपलब्धि करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। उनका प्रवचन कहता है **"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"** जैनशास्त्रकारोंने इस संबंधमें और भी अधिक महत्त्वकी बातें कही है कि निर्वाण-प्राप्तिके योग्य अतिशय साधनाकी क्षमता साधारण निःसत्त्व शरीर द्वारा सम्पन्न नहीं होती, महान तल्लीनता रूप शुक्लध्यानकी उपलब्धिके लिए वज्रशरीर अर्थात् वज्रवृषभ-नाराच-संहननधारी होना अत्यंत आवश्यक है।[1]

---

१ "उत्तमसंहननस्य एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्।"
—त० सूत्र ९ २७

कुछ लोगोंकी ऐसी भी समझ है कि वास्तविक वीरताके विकासके लिये अहिंसाकी आराधना असाधारण कंटकका कार्य करती है। अहिंसा और वीरतामें उन्हें आकाश-पातालका अंतर दिखाई देता है। वे लोग यह भी सोचते हैं कि वीरताके लिये मांस भक्षण करना, शिकार खेलना आदि आवश्यक हैं। अहिंसात्मक जीवन शिकार तथा मांसभक्षणका मूलोच्छेद किये बिना विकसित नहीं होता। अतः अहिंसात्मक जैनधर्मकी छत्रछायामें पराक्रमका प्रदीप बराबर प्रकाश प्रदान नहीं कर सकता। यह जैनधर्मकी अहिंसाका प्रभाव था जो वीरभू भारत पराधीनताके पाशमें ग्रस्त हुआ। एक बड़े नेताने भारतके राजनैतिक अधःपातका दोष जैन-धर्मकी अहिंसाकी शिक्षाके ऊपर लादा था। ऐसे प्रमुख पुरुषोंकी भ्रांत-धारणाओं पर सत्यके आलोकमें विचार करना आवश्यक है। अहिंसात्मक जीवन वीरताका पोषक तथा जीवनदाता है। बिना वीरतापूर्ण अंतःकरण हुए इस जीवके हृदयमें अहिंसाकी ज्योति नहीं जगती। जिसे हमारे कुछ राजनीतिज्ञोंने निंदनीय अहिंसा समझ रखा है यथार्थमें वह कायरता और मानसिक दुर्बलता है। हंस और बकराजके वर्णमें बाह्य धवलता समान रूपसे प्रतिष्ठित रहती है किंतु उनकी चित्तवृत्तिमें महान् अंतर है। इसी प्रकार कायरता अथवा भीरुतापूर्ण वृत्ति और अहिंसामें भिन्नता है। अहिंसाके प्रभावसे आत्मशक्तियोंकी जाग्रति होती है और आत्मा अपने अनंत वीर्यको सोचकर विरुद्ध परिस्थितिके आगे अजेय और अभयपूर्ण प्रवृत्ति करनेमें पीछे नहीं हटता। जिस तरह कायरता-से अहिंसावानका वीरतापूर्ण जीवन जुदा है उसी प्रकार क्रूरतासे भी उसकी आत्मा पृथक् है। क्रूरतामें प्रकाश नहीं है। वह अत्यंत अंधी और पशुतापूर्ण विचित्र मनःस्थितिको उत्पन्न करती है। साधक अपनी आत्मजागृति-निमित्त क्रूरतापूर्ण कृतियोंसे बचता है, किंतु वीरताके

प्रांगणमें वह अभय भावसे विचरण करता है वह तो जानता है 'न मे मृत्युः, कुतो भीतिः'—जब मेरी आत्मा अमर है तब किसका भय किया जाय, डर तो अनात्मज्ञके हृदयमें सदा वास करता है।

क्रूरताकी मुद्रा धारण करने वाली कथित वीरताके राज्यमें यह जगत् यथार्थ शांति और समृद्धिके दर्शनसे पूर्णतया वंचित रहता है। क्रूर सिंहके राज्यमें जीवधारियोंका जीवन असंभव बन जाता है। उसी प्रकार क्रूरता-प्रधान मानव-समुदायके नेतृत्वमें अशांति, कलह, व्यथा और दुःखका ही नग्न नर्तन दिखाई देगा।

जब अहिंसात्मक व्यक्तियोंके हाथमें भारतकी बागडोर थी, तब[1] देशका इतिहास स्वर्णाक्षरोंमें लिखा जाने योग्य था। आज उस अहिंसा-के स्थानमें कहीं क्रूरता और कहीं कायरताके प्रतिष्ठित होनेके कारण अगणित विपत्तियोंका दौरदौरा दिखाई पड़ता है। वस्तुस्थितिसे अपरिचित होनेके कारण ही लोग भगवती अहिंसाको क्रूरता और कायरताके फलस्वरूप होनेवाले राष्ट्रीय पतनका अपराधी बनाते हैं। लोगोंने वीरताको युद्धस्थल तक ही सीमित समझा है किंतु 'साहित्यदर्पण' ने उसे दान, धर्म, युद्ध तथा दया इन चार विभागोंसे युक्त बताया है[2]। जैनधर्म की आराधना करनेवालोंको हम इस प्रकाशमें देखें तो हमें विदित होगा कि जैनधर्मका आलोक किस प्रकार जीवनको प्रकाशपूर्ण बनाता रहा है।

इतिहासके क्षेत्रमें भारतीय स्वातंत्र्यके श्रेष्ठ आराधक महाराणा प्रताप-

---

१. चंद्रगुप्त आदि जैन नरेशोंके शासनका इतिवृत्त इस बातका समर्थक है।

२ "स च दान-धर्म-युद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्।"
—सा० द० श्लो० २३४, ३।

को स्वेच्छासे अपनी सारी संपत्ति समर्पित करनेवाला वीर भामाशाह[1] अहिंसाका आराधक जैनशासनका पालक था। यदि भामाशाहने अपनी श्रेष्ठ 'दानवीरता' द्वारा महाराणाकी सहायता न की होती तो मेवाड़का इतिहास न जाने किस रूपमें लिखा मिलता। जैनशासनमें आदर्श गृहस्थके दो मुख्य कर्तव्यं बताये गये हैं, एक तो वीरोंकी वंदना और दूसरा योग्य पात्रोंको औषधि, शास्त्र, अभय, आहार नामक चार प्रकारका दान देना है। एक जैन साधक शिक्षा देते हैं—"धन बिजुरी उनहार, नरभव लाहौ लीजिये।" आज भी जैन समाजमें दानकी उच्च परम्पराका पूर्णतया संरक्षण पाया जाता है। जैन अखबारोंसे इस बातका पुष्ट प्रमाण प्राप्त होगा।

धर्मके क्षेत्रमें वीरता दिखानेमें भी जैन गृहस्थोंका चरित्र उदात्त रहा है। बौद्ध शासकके अत्याचारके आगे अपने मस्तक न झुका मृत्युकी गोदमें सहर्ष सो जाने वाले, तार्किक अकलंकदेवके अनुज बालक निकलंकका धर्म-प्रेम वीरताका अनुपम आदर्श है। विपत्तिकी भीषण ज्वालामें से निकलनेवाले जैन धर्मवीरोंकी गणना कौन कर सकता है। इतिहासकार स्मिथ महाशयने अपने 'भारतवर्षके इतिहास'में लिखा है कि 'चोलवंशी पाण्ड्यनरेश सुन्दरने अपनी पत्नीके मोहवश वैदिक

---

१ "जा धनके हित नारि तजै पति पूत तजै पितु शीलहिं सोई।
भाई सों भाई लरै रिपुसे पुनि, मित्रता मित्र तजै दुख जोई।
ता धनको बनियाँ ह्वै गिन्यो न दियो दुख देशके आरत होई।
स्वारथ आर्य तुम्हारो ई है तुमरे सम और न या जग कोई।"

—भारतेन्दु हरिश्चंद्र।

कर्नल टाडके कथनानुसार यह धन २५ हजार सैन्यको १२ वर्ष तक भरणपोषणमें समर्थ था। —टाड राजस्थान vol. I. P. 402-3.

धर्म अंगीकार किया और जैन प्रजाको हिंदू धर्म स्वीकार करनेको बाध्य किया।' जिनके अंतःकरणमें जैनशासनकी प्रतिष्ठा अंकित थी, उनने अपने सिद्धांतका परित्याग करना स्वीकार नहीं किया। फलतः उन्हें फांसीके तख्ते पर टांग दिया गया। स्मिथ महाशय लिखते हैं—ऐसी परंपरा है कि ८००० जैनी फांसीपर लटका दिये गये थे उस पाशविक कृत्यकी स्मृति मदुराके विख्यात मीनाक्षी नामके मंदिरमें चित्रोंके रूपमें दीवाल पर विद्यमान हैं। आज भी मदुराके हिंदू लोग उस स्थल पर प्रतिवर्ष आनंदोत्सव मनाते हैं जहाँ जैनोंका संहार किया गया था[1]। इसे व्यतीत हुए अभी दो सदीका समय न हुआ होगा जब कि प्रख्यात जैनग्रंथकार पं० प्रवर टोडरमलजी, जयपुरके तत्कालीन नरेशके कोपवश हाथीके पैरोंके नीचे दबवाकर मार डाले गये थे। इस प्रकार आत्माकी अमरतापर विश्वास कर सत्य और वीतराग धर्मके लिये परम प्रिय प्राणोंका परित्याग करने वाले जैन वीरोंका पवित्र नाम धार्मिक इतिहासमें सदा अमर रहेगा।

दयाके क्षेत्रमें जैनियोंका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज जब कि जड़वादके प्रभाववश लोग मांसाहार आदिकी ओर बढ़ते जा रहे हैं और असंयमपूर्ण प्रवृत्ति प्रवर्धमान हो रही है, तब जीवोंकी रक्षा तथा संयमपूर्ण साधना द्वारा मनुष्य भवको सफल करने वाले पुण्य पुरुषोंसे जैन

---

१ "Tradition avers that 8000 (eight thousand) of them (Jains) were impaled. Memory of the facts has been preserved in various ways & to this day the Hindoos of Madura where the tragedy took place celebrated the anniversary of the impalement of the Jains as a festival (Utsav)"—V. Smith-His. of India.

समाज आज भी संपन्न है। श्रेष्ठ अहिंसाके मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना पूर्वक पालक प्रातःस्मरणीय चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्रीशान्तिसागर महाराज सदृश वीतराग, परमशान्त दिगम्बर जैन श्रमणों-का सद्भाव दयाके क्षेत्रमें भी जैन संस्कृतिको गौरवान्वित करता है। जैनश्रमणोंके दिगम्बरत्वके गर्भमें उत्कृष्ट दयाका पवित्र भाव विद्यमान रहता है। एक अंग्रेजी भाषाके पंडित महाशयने लिखा है–"जैन मुनिकी वीरता शान्तिपूर्ण है। प्रत्येक शौर्यसंपन्न कार्यके पूर्वमें प्रबल इच्छाका सद्भाव पाया जाता है, इस दृष्टिसे इसे क्रियाशील वीरता भी कहते हैं।"

संग्राम-भूमिमें जो पराक्रम प्रदर्शित किया जाता है वह वीरताके नामसे विश्वविख्यात है। इस क्षेत्रमें भी जैनसमाजका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। साधारणतया जैन-तत्त्वज्ञानके शिक्षणसे अपरिचित व्यक्ति यह भ्रान्त धारणा बना लेते हैं कि कहाँ अहिंसाका तत्त्वज्ञान और कहाँ युद्ध-भूमिमें पराक्रम ? दोनोंमें प्रकाश-अंधकार जैसा विरोध है। किंतु वे यह नहीं जानते कि जैनधर्ममें गृहस्थके लिए जो अहिंसाकी मर्यादा बाँधी गई है उसके अनुसार वह निरर्थक प्राणिवध न करता हुआ न्याय और कर्तव्यपालन निमित्त अस्त्र-शस्त्रका संचालन भी करता है। इस विषयमें भारतीय इतिहाससे प्राप्त सामग्री यह सिद्ध करती है कि पराक्रमके प्रांगण में महावीरके आराधक कभी भी पीछे नहीं रहे हैं। रायबहादुर महा-महोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझाने 'राजपूतानेके जैनवीर'की भूमिकामें लिखा है—"वीरता किसी जातिविशेषकी संपत्ति नहीं है। भारतमें प्रत्येक जातिमें वीर पुरुष हुए हैं। राजपूताना सदासे वीरस्थल रहा है। जैनधर्ममें दया प्रधान होते हुए भी वे लोग अन्य जातियोंसे पीछे नहीं रहे हैं। शताब्दियोंसे राजस्थानमें मंत्री आदि उच्चपदों पर

बहुधा जैनी रहे हैं, उन्होंने देशकी आपत्तिके समय महान् सेवाएँ की हैं, जिनका वर्णन इतिहासमें मिलता है।" भारतीय इतिहास-प्रसिद्ध सम्राट् बिम्बसार–श्रेणिक जैनधर्मका आधार-स्तम्भ था। उसके पुत्र अजातशत्रु–कुणिक[१] जैनधर्मके संरक्षक प्रतापी नरेश थे। कलिंग,[२] उत्तर भारत तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रांतपर जैन नरेश नंदवर्धनका शासन था। ग्रीकनरेश सिकंदरके सेनापति सिल्युकसको[3] जैन सम्राट् चंद्रगुप्तने ही पराजित कर भारतीय साम्राज्यकी सीमाको अफगानिस्तान पर्यंत विस्तारित किया था। स्मिथ महाशय ने लिखा है कि "मैं अब इस बातको स्वीकार करता हूँ कि संभवतः यह परम्परा मूल में यथार्थ है कि चंद्रगुप्तने वास्तवमें साम्राज्यका परित्याग कर जैन मुनिका पद अंगीकार किया था[४]। प्रतापी चंद्रगुप्तको आधुनिक अन्वेषणकार जैन प्रमाणित करने लगे

---

१ The literary and legendary traditions of the Jains about Srenika are so varied and so well recorded that they bear eloquent witnesses to the high respect with which the Jains held one of their greatest loyal patrons, whose historicity is unfortunately past all doubts.

—Jainism in North India. p. 116.

Tradition runs that he built many shrines on the summit of Parasnath hill in Bihar. —J. R. A. S. 1824.

२ Cambridge His. of India 1 p. 161.

३ J. B. & O. Research Soc. Vol. 4. p. 463.

४ I am now disposed to believe that the tradition is probably true in its main outline and that Chandragupta really abdicated and became Jain ascetic.

—V. Smith-His. of India. p. 146.

हैं। डा० काशीप्रसाद जायसवाल जैसे विचारक विद्वान् लिखते हैं– "पाँचवी सदी के जैनग्रंथ एवं पश्चाद्वर्ती जैन शिलालेख यह प्रमाणित[१] करते हैं कि चंद्रगुप्त जैन सम्राट् था, जिसने मुनिराजका पद अंगीकार किया था। मेरे अध्ययनने जैनशास्त्रोंकी ऐतिहासिक बातको स्वीकार करनेको मुझे बाध्य किया है। मुझे इस बातको अस्वीकार करनेका कोई कारण नहीं दीखता कि हम क्यों न जैनमान्यताको स्वीकार करें कि चंद्रगुप्तने अपने राज्यकालके अन्तमें जैनधर्मको स्वीकार किया था, तथा राज्यका परित्याग करके जैनमुनिके रूपमें प्राण परित्याग किए? इस बातको स्वीकार करने वालोंमें केवल मैं ही नहीं हूँ; राइस साहबने, जिनने श्रवणबेलगोलाके जैनशिलालेखोंका भलीभांति अध्ययन किया है, इस बातके समर्थनमें अपना निर्णय दिया है, अंतमें स्मिथ महाशय भी इसी ओर झुक गए हैं।" प्राक्तनविमर्शविचक्षण रायबहादुर श्रीनरसिंहाचार्यका अभिमत[२] है कि–"चंद्रगुप्त एक सच्चे वीर थे और उन्होंने जैन शास्त्रा-

---

१ The Jain books (5th cen. A. C.) and later Jain inscriptions claim Chandragupta as a Jain Imperial ascetic. My studies have compelled me to respect the historical data of Jain writings and see no reason why we should not accept the Jain claim that Chandragupta at the end of his reign accepted Jainism and abdicated and died as Jain ascetic I am not the first to accept the view, Mr. Rice, who has studied the Jain inscriptions of Sravanbelgola thoroughly, gave verdict in favour of it and Mr. V. Smith has also leaned towards it ultimately.

—J. B O. R S. Vol. VIII.

२ The hill which contains the foot-prints of his (Chandragupta's) preceptor is called Chandra Giri after his name

नुसार सल्लेखनाकर चंद्रगिरि पर्वतसे स्वर्गलाभ किया।" वे यह भी लिखते हैं कि श्रवणवेलगोलाके चंद्रवस्ती नामके चंद्रगिरि पर अवस्थित मंदिरकी दीवालोंमें सम्राट् चंद्रगुप्तके जीवनको अंकित करने वाले चित्र हैं। डा० एफ० डवल्यू० टामसने भी यह लिखा है[1] कि चंद्रगुप्त श्रमणोंके भक्तिपूर्ण शिक्षणको स्वीकार करता था जो ब्राह्मणोंके सिद्धांतोंके प्रतिकूल है।

बुद्धधर्म-भक्तरूपसे विख्यात धर्मप्रिय सम्राट् अशोकके साहित्यको पढ़कर कुछ विद्वान् अशोकके जीवनको जैनधर्मसे संबंधित स्वीकार करते हैं। प्रो० कर्णकी धारणा है[2] कि अहिंसाके विषयमें अशोकके आदेश बौद्धोंकी अपेक्षा जैनसिद्धांतसे अधिक मिलते हैं।

'राजावलिकथे' नामक कन्नड ग्रंथ अशोकको जैन बताता है। महाकवि

& on it stands a magnificient temple called Chandra Basti with its carved and decorated walls, portraying scenes from the life of the great Emperor. He was a true hero and attained the heaven from that hill in the Jain manner of Sallekhana.

१ "The testimony of Megasthenes would likewise seem to imply that Chandragupta submitted to the devotional teachings of Sramanas as opposed to the doctrines of the Brahmins "Vide P. 23. Jainism or Early Faith of Asoka. by F. W. Thomas.

२ "His (Asoka's) ordinances concerning the sparing of animal life agrees much more closely with the ideas of heretical Jains than those of Budhists" —Indian Antiquary Vol. V. Page 205.

कल्हणने अपने संस्कृत ग्रंथ 'राजतरंगिणी'में अशोक द्वारा [1]काश्मीरमें जैनधर्मके प्रचार् करनेका उल्लेख किया है। [2]डा० टामस भी उपरोक्त बातका समर्थन करते हैं। अबुलफजलके 'आइने अकबरी' से भी अशोकका जीवन जैनधर्मसे संबंधित प्रमाणित होता है। अशोकके उत्तराधिकारी सम्प्रतिके बारेमें विश्ववाणी मासिक पत्रिकाने १९४१ में यह प्रकाशित किया था कि सम्राट् संप्रतिने अरबस्तान और फारसमें जैन संस्कृतिके केंद्र स्थापित किए थे। वह बड़ा शूरवीर तथा धार्मिक था[3]। प्रो० पिशल और मुकर्जी आदिका अध्ययन इस निष्कर्षको बताता है कि अशोकके नामसे विख्यात अनेक महत्त्वपूर्ण शिलालेख यथार्थमें संप्रतिके हैं। प्रियदर्शी रूपमें संप्रतिका ही वर्णन किया गया हैं। Epitome of Jainism में संप्रतिको महान् वीर जैन नरेश और धर्मप्रवर्धक कहा है, जिसने सुदूर देशोंमें जैनधर्मके प्रचारका प्रयत्न किया था[4]।

महाप्रतापी एलसम्राट् महामेघवाहन खारवेल महाराज जैन थे। उन्होंने उत्तर भारतके प्रतापी नरेश पुष्यमित्रको पराजित किया था।

---

१ "यः शान्तवृजिनो राजा प्रपन्नो जिनशासनम्।
पुष्कलेऽत्र वितस्तात्रौ तस्तार स्तूपमण्डले॥"—राजतरंगिणी अ० १

२ Early Faith of Asoka by Thomas

३ जैन इतिहासकी पूर्वपीठिका—६६

४ "Samprati was a great Jain monarch and a staunch supporter of the faith. He erected thousands of temples throughout the length and breadth of his vast empire and consecreted large number of images, He is said to have sent Jain missionaries and ascetics abroad to preach Jainism in the distant countries and spread the faith amongst the people there." —Epitome of Jainism.

नंदनरेशोंके यहाँ भी जैनधर्मकी मान्यता थी। यह बात हाथीगुफाके शिलालेखसे विदित होती है।

दक्षिण भारतके इतिहासपर दृष्टि डालनेसे ज्ञात होता है कि प्रतापी नरेश तथा गंगराज्यके स्थापक महाराज कोंगुणी वर्मनने आचार्य सिंह-नंदिके उपदेशसे शिवमग्गांके समीप एक जिन मंदिर बनवाया था। इनके वंशज अविनीत नरेशने अपने मस्तकपर जिनेंद्र भगवानकी मूर्ति विराजमान कर कावेरी नदीको बाढ़की अवस्थामें पार किया था। एक शिलालेखमें इन्हें शौर्यकी मूर्ति तथा गज, अश्व एवं धनुर्विद्यामें प्रवीण बताया है। इनके उत्तराधिकारी दुर्विनीत नरेश प्रभु, मंत्र और उत्साह-शक्तिसमन्वित महान् योद्धा तथा विद्वान् जैन थे। महाराज नीतिमार्ग और बूतग जिनधर्मपरायण राजा थे।[२] बूतग शास्त्रज्ञ और शस्त्रज्ञ विख्यात था। महाराज मारसिंह[३] गंगवंशके शिरोमणि पराक्रमी निर्भीक, धार्मिक जैन नरेश थे। पांचवी सदीमें कदंब नरेश मृगेश वर्मा और उनके पुत्र रविवर्मा अपने पराक्रम और जैनधर्मके प्रेमके लिए प्रख्यात थे। रविवर्माने कार्तिक सुदीके अष्टान्हिका पर्वको महोत्सवपूर्वक मनानेकी राजाज्ञा [४]प्रचारित की थी।

---

१ "येन संप्रतिना......साधुवेषधारि–निज–किङ्करजनप्रेपणेन अनार्यदेशेऽपि साधुविहारं कारितवान्।" —खरतरगच्छावलिसंग्रह पृ० १७।

२ Mediaeval Jainism pp. 10–30

३ Ibid and Some Historical Jain kings and Heroes.
—Jain Antiquary Vol, vii No 1 p. 21.

४ "In the face of achievements of the Jain princes and generals of this period, we can hardly subscribe to the theory that Jainism & Buddhism were chiefly responsible for the military emasculation of the population, that led to the fall of the Hindu India." —The Rastrakutas p. 316-17.

राष्ट्रकूटोंमें जैनधर्मकी विशेष मान्यता थी। सम्राट् अमोघवर्ष जिनेंद्रभक्त, विद्वान्, पराक्रमी, पुण्यचरित्र तथा व्यवस्थापक नरेश थे। उनका विश्वके चार विख्यात नरेशोंमें स्थान था। नवमी सदीका एक अरब देशका यात्री लिखता है[१] कि अमोघवर्षके राज्यमें सर्व-प्रकार की सु-व्यवस्था थी। लोग शाकाहारी थे। सन् ८५१ में एक दूसरा अरबका यात्री लिखता है–"अमोघवर्षके राज्यमें धन सुरक्षित था, चोरी-डकैतीका अभाव था; वाणिज्य उन्नतिके शिखरपर था, विदेशियोंके साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार होता था।" राष्ट्रकूट वंशमें[२] बंकेय, श्रीविजय, नरसिंह आदि अनेक पराक्रमी जैन प्रतापी पुरुष हुए हैं। अमोघवर्षने अपने जीवनके संध्याकालमें दिगंबर जैनमुनिकी मुद्रा भगवत्-जिनसेनाचार्यके आध्यात्मिक प्रभाववश धारण की थी। राष्ट्रकूटवंश-के जैनवीरोंके चरित्रके अध्येता विद्वान् डा० अल्टेकर अपनी पुस्तक 'राष्ट्रकूट'में लिखते हैं[३]–"जैन नरेशों तथा सेनानायकोंके ऐसे कार्योंको देखते हुए यह बात स्वीकार करनेमें हम असमर्थ हैं कि जैनधर्म तथा बौद्धधर्मकी शिक्षाके कारण हिंदूभारतमें सांग्रामिक शौर्यका ह्रास हुआ है।"

[४]धारवाड़, वेलगांव जिलोंमें शासन करने वाले महामंडलेश्वर नरेशोंमें महान् योद्धा मेरद, पृथ्वीराम, शांतिवर्म, कलासेन, कन्नकैर,

---

१ Med. Jainism pp. 30-34.

२ "Rashtrakuta territory was vast, well peopled, commercial and fertile. The people mostly lived on vegetable diet."—Bombay Gaz. vol. I part, I. pp. 526-30.

३ Altekar—'The Rashtrakutas'

४ Some Hist. Jain kings and Heroes.

कार्तवीर्य, लक्ष्मीदेव, मल्लिकार्जुन आदि जैनशासनके प्रति विशेष अनुरक्त थे। दशवींसे तेरहवीं सदी तक कोल्हापुर, वेलगांवमें अपने पराक्रमके द्वारा शांतिका राज्य स्थापित करनेवाले शीलहारनरेश जैन थे। महाराज विक्रमादित्यने चालुक्योंपर आक्रमण किया था। उनको कलिकाल विक्रमादित्य भी कहते थे। जिनधर्मके प्रति विशेष भक्तिवश उन्होंने कोल्हापुरके जिनमंदिरके लिए बहुत भूमिदान की थी[1]। सामंत पराक्रमी निम्ब महाराजने कोल्हापुरके विख्यात लक्ष्मीमंदिरके समीप भगवान् नेमिनाथका कलापूर्ण जिनमंदिर वनवाया था, उसके बाह्य भागमें ७२ खड्गासन दि० जैनमूर्तियाँ विद्यमान हैं। किंतु आज वह वैष्णव मन्दिर बना लिया गया है। भगवान् नेमिनाथके स्थानपर विष्णु की मूर्ति रख दी गई है।

[2]जैन सेनापति बोप्पणको एक शिलालेखमें बड़ा प्रतापी बताया है। पाँचवींसे बारहवीं शताब्दी पर्यंत मैसूर, मुंबई प्रांत एवं दक्षिण भारतमें चालुक्यवंशीय जैन नरेशोंका शासन था[3]। इनमें सत्याश्रय द्वितीय पुलकेशी नामक जैन नरेशका नाम विशेष विख्यात है। अपने शिलालेखमें कालिदासका उल्लेख करने वाले जैनकवि रविकीर्ति द्वारा निर्मित ऐहोलके जिनमंदिरको पुलकेशीने सहायता प्रदान की थी। विमलादित्य,

---

१ The temple has changed hands. Sheshshayiji has occupied the place of Neminath. All the basadis (Jain temples) in Kolhapur and near about have received grants at the hands of Nimbadev. —Kundnager Loccit. p. 11.

२ Ibid.

३ The Chalukyas were without doubt the great supporters of Jainism. —V. Smith His. of India p. 444.

विजयादित्य, विनयादित्य, तैलप, जयसिंह तृतीय आदि जैन नरेशोंके शासनमें जैनशासन खूब विकसित रहा। कलचुरि नरेशोंमें महामंडलेश्वर विज्जल अपने पराक्रम और जिनेंद्रभक्तिके लिए विख्यात थे। उनके पुत्र सोमेश्वरने भी जैनधर्मकी बहुत सेवा की और लिंगायतोंके अत्याचारोंसे उसे बचाया।[1] जैन नरेश विज्जल महाराजके मंत्री वसवराजने लिंगायत धर्मकी स्थापना की थी। उसने विज्जलके प्राणहरण करनेके लिए शील-हार नरेशसे युद्ध करते समय छलकर विषदूषित आम खिलाए। किंतु सुचतुर वैद्योंके प्रयत्नसे विज्जलकी मृत्यु न हुई। पश्चात् जब वसवका पता चलाया गया तब उसने कुएँमें गिरकर अपने प्राण गँवाया।

दोर समुद्र (Mysore) के शासक होयसाल नरेश जैन थे[५]। उन्हें सम्यक्त्व-चूडामणि, दक्षिण चक्रवर्ती आदि पदोंसे समलंकृत किया गया था। महाराज विनयादित्यके जिनभक्त पुत्र एरयंग महान् योद्धा थे, उनने श्रमणबेलगोलाके जिन मंदिरोंका जीर्णोद्धार कराया था। वल्लाल द्वितीयने बारहवीं सदीमें मैसूरमें राज्य किया। इनकी महारानी शांतला देवीने श्रमणबेलगोलामें सवतिगंधवारण वसदि (मंदिर) बनवा-कर वहाँ शांतिनाथ भगवान्‌की मनोज्ञ मूर्ति विराजमान कराई थी। मैसूरका प्रसिद्ध चामुण्डी पर्वत मारबल जैनतीर्थके नामसे बारहवीं

---

१ King Bijjal ruled peacefully with glory. He built many a Jain temple. His exploits as a warrior as well as supporter of the faith are well narrated in a Kanarese work called Bijjal Charite. He was succeeded by his son, Someshwara, who also was a supporter of Jainism and saved it from the onslaughts of the Lingayats. —Rice, Mysore & Coorg. p. 79.

शताब्दीमें प्रख्यात था। महाराज नरसिंहके वीर सेनापति हुल्लने श्रमण-वेलगोलामें सुन्दर जैन मंदिर बनवाए थे। होयसाल राज्यके अंतिम नरेशद्वय जैन थे। ईसवी सन् ११६० के शिलालेखमें राचमल्ल और मारसिंह द्वितीयके प्रधान सेनापति चामुंडरायका उल्लेख आया है। इनके विषयमें कहा जाता है—[१]"चामुंडरायसे बढ़कर वीर सैनिक, जैन-धर्मभक्त और सत्यनिष्ठ व्यक्तिका कर्नाटकने कभी भी दर्शन नहीं किया।" जैनशास्त्रोंमें चामुंडरायकी धार्मिकताकी प्रशंसा की गई है। अपने जीवनमें चामुंडरायको लगभग १८ बार युद्धस्थलमें अपने पराक्रम-को सफल प्रमाणित करनेका अवसर प्राप्त हुआ। शौर्यमूर्ति चामुंडरायका साहित्यक जीवन भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। संग्राम-भूमिमें इन्होंने श्रेष्ठ अहिंसापूर्ण प्रवृत्ति करने वाले महामुनियोंके धर्माचरणको समझाने वाला चारित्रसार नामका ग्रंथ लिखा। इनके समान [२]जिनधर्मभक्त सेनापति हुल्ल और अमात्य गंगका नाम आता है[३]। हुल्लने श्रवणवेलगोलामें

---

१ "A braver soldier, a more devout Jain, and a more honest man than Chamundraya, Karnataka had never seen."

—Medieval Jainism, p. 102.

२ If it be asked who in the beginning were firm promoters of Jain doctrine—(they were) Raya (Chamundaraya), the minister of Rachmalla, after him Ganga, the minister of king Vishnu, after him Hulla, the minister of king Narsimhadeva, if any others could claim as such, would they not be mentioned ? —Epi. Carn. Ins. at Sravanbelgola p. 85.

३ Minister general Hulla's contribution for the cause of Jain Dharma was the construction of famous Chaturvimsati Jinalaya at Sravanbelgola. Ibid. p. 142.

चतुर्विंशति जिनालय बनवाया था। दक्षिण भारतकी जैन वीरांगनाओंमें जक्कैयावी, जक्कल देवी, सवियव्वी, भैरव देवी विशेष विख्यात हैं। महारानी भैरव देवीने युद्धभूमिमें अपने प्रतिपक्षीके दांत खट्टे किए थे। इस प्रकार दक्षिण भारतका इतिहास और वहाँके महत्त्वपूर्ण शिलालेख जैनवीर पुरुषोंके पराक्रम तथा शौर्यको स्पष्टतया प्रतिपादित करते हैं। श्रीविश्वेश्वरनाथरेऊ कृत 'भारतके प्राचीन राजवंश' (पृष्ठ २२७-२८) और रायबहादुर ओझाजीके 'राजपूतानाका इतिहास' (पृष्ठ ३६३) से विदित होता है कि वीरभूमि राजपूतानामें शासन करनेवाले चौहान, सोलंकी, गहलौत आदि जैन धर्मावलंबी वीर पुरुष थे। अजमेरके नरेश पृथ्वीराज प्रथमने जैनमुनि अभयदेवके प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित की थी। उसने रणथंभोरके जैनमंदिरकी सुवर्णजटित दहलान बनवाई थी। पृथ्वीराज द्वितीय जैनधर्मके संरक्षक थे। उनके चाचा महाराज सोमेश्वर जैनधर्मके प्रेमी थे। सोलंकी नरेश अश्वराज तथा उनके पुत्र अल्हण देव जिमभक्त थे। परिहारवंशी काक्कुक नरेश कीर्तिशाली तथा जैनधर्मावलंबी थे। महाराज भोजके सेनापति कुलचंद्र जैन थे। सोलंकी नरेश मूलराजने अनहिलवाड़ामें मनोज्ञ जिनमंदिर बनवाया था। प्रतापी नरेश सिद्धराज, जयसिंहके मंत्री मुञ्जल और शांतु जैन थे। महाराज कुमारपाल अनेक युद्ध-विजेता तथा जिनधर्म-भक्त थे। उन्होंने अशोककी भाँति धर्मप्रचारमें अपनी शक्ति लगाई थी; अनेक जैनमंदिरोंका निर्माण तथा हजारों प्राचीन शास्त्रोंका संग्रह कराया था। राठौरनरेश विद्धराज जैन थे। मम्मट तथा धवल महाराज भी जैनधर्मी थे। मारवाड़के नरेश विजयसिंहके सेनापति डूमराज जैनने अठारहवीं सदीके महाराष्ट्रोंके साथके युद्धमें प्रशंसनीय पराक्रमका परिचय दिया था। बीकानेरके दीवान एवं सेनानायक अमरचंद जी

जैनने मटनेरवाले जवताखांको युद्धमें जीता था। वीरशिरोमणि जिनभक्त सोलंकी राज्यके मंत्री आभूने यवनोंको पराजित कर अपने राज्यको निरापद किया था। **स्मिथ और कनिंगहमने** जिस वीर सुहलदेवको जैन माना है, उसने वहराइचमें मुस्लिम सैन्यको पराजित किया था। उस समय यवन पक्षने वड़ी विचित्र चाल खेली थी। अपने समक्ष गोपंक्ति इकट्ठी कर दी थी। इससे गोभक्त हिंदूसैन्य और शासक किंकर्तव्यविमूढ़ हो स्तब्ध हो गए थे और सोचते थे—यदि हमने शत्रुपर शस्त्रप्रहार किया तो गोवधका महान् पाप हमारे सिरपर सवार हो हमें नरक पहुँचाये विना न रहेगा। ऐसे कठिन अवसरपर वीर सुहलदेवने जैनधर्मकी शिक्षाका स्मरण करते हुए आक्रमणकारी तथा अत्याचारी यवन सैन्य पर वाणवर्षा की और अंतमें जयश्री प्राप्त की।

इससे यह वात प्रमाणित होती है कि भारतीय इतिहासकी दृष्टिमें जैनशासकों तथा नरेशोंका पराक्रमके क्षेत्रमें असाधारण स्थान रहा है। यदि भारतवर्षके विशुद्ध इतिहासकी, वैज्ञानिक प्रकाशमें, सामग्री प्राप्त की जाय और उपलब्ध सामग्रीपर पुनः सूक्ष्म चिंतना की जाय तो जैनशासनके आराधकोंके पराक्रम, लोकसेवा आदि अनेक महत्त्वपूर्ण वातोंका ज्ञान होगा। विशुद्ध इतिहास, जो सांप्रदायिकता और संकीर्णताके पंकसे अलिप्त हो यह प्रमाणित करेगा कि कमसे कम समस्त भारतवर्षमें भगवान् महावीरके पवित्र अनुशासनका पालन करनेवाले जैनियोंद्वारा भारतवर्षकी अभिवृद्धिमें अवर्णनीय लाभ पहुँचा है। आज कहीं भी जैनधर्मके शासक नरेश नहीं दिखाई देते। इसका कारण एक यह भी रहा है कि देशमें जब भी मातृभूमिकी स्वतंत्रता और गौरवरक्षाका अवसर आया है तब प्रायः जैनियोंने स्वाधीनताके सच्चे पक्षका समर्थन किया और उसके लिए अपने सर्वस्व तथा जीवननिधिकी तनिक भी

परवाह न की। आज जो अनेक नरेश दृष्टिगोचर होते हैं उनकी भी वही गति होती, जो भारतीय स्वाधीनताके लिए मर मिटनेवालोंकी हुई, अथवा भारतका इतिहास ही बदल गया होता, यदि ये अपने स्वार्थको प्राधान्य दे विरोधी पक्षसे मिलकर साम्राज्यप्राप्तिका पुरस्कार पानेकी स्वार्थपूर्ण नीति न अपनाते। फूटके विष फैलनेपर अनेक अवसरवादियोंने अपनी स्वार्थरक्षाका ध्यान किया, इसलिए वे विशेष उन्नतिशील दिखाई दिए। निजाम यदि ब्रिटिश साम्राज्यवादियोंका Faithful ally—ईमानदार साक्षी न बनता, तो आज उन हज़रतका भारतीय नरेशोंमें इतना ऊँचा आसन न होता। हमारी तो धारणा है कि निजामी नीतिपर न चलनेके कारण यद्यपि अनेक जैन नरेश केवल इतिहासके पृष्ठोंमें स्मरणीय रह गए हैं पर उनका अपने सिद्धान्तपर मर मिटना भी इस प्रकारके अस्तित्वसे अच्छा है।

इस विचारकी पुष्टि वास्तविक घटनाओंसे सम्बन्ध रखती हैं। जब हम दक्षिण कर्नाटक पहुँचे थे, तब हमें मूडबिद्री (मंगलोर) में पुरातन जैनराजवंशके टिमटिमाते हुए छोटेसे दीपकके समान श्रीयुत धर्मसाम्राज्यैयासे यह समझनेका अवसर मिला, कि किस प्रकार उन लोगोंकी राज्यशक्ति क्षीण और नष्ट हुई। उन्होंने बताया कि जब हैदरअली, टीपू सुलतान आदिका अंग्रेजोंसे युद्ध चल रहा था, उस समय हमारे पूर्वजोंने अंग्रेजोंका साथ नहीं दिया था और कूटनीतिके प्रसादसे जब जयमाला अंग्रेजोंके गलेमें पड़ी तब हम लोगोंको अपने राज्यसे हाथ धोना पड़ा। इस प्रकाशमें यह बात दिखाई पड़ती है कि किस प्रकार जैन नरेशोंको अपना अस्तित्व तक खोना पड़ा। स्वार्थियोंकी निगाहमें जहाँ वे असफल माने जायँगे, वहाँ स्वाधीनताके पुजारियोंके लिए वे लोग सुरत्वसम्पन्न दिखाई पड़ेंगे।

'भारतवर्षने अपनी असहाय अवस्थामें स्वाधीनताके लिए जो अहिंसात्मक राष्ट्रीय संग्राम छेड़ा है, उसमें भी जैनियोंने जन, धन, जीवनके द्वारा राष्ट्रकी असाधारण सेवा की है। यदि राष्ट्रीय स्वाधीनताके संग्राममें आहुति देनेवालोंका धर्म और जातिके अनुसार लेखा लगाया जाय तो जैनियोंका विशेष उल्लेखनीय स्थान पाया जायगा। प्रायः स्वतन्त्र व्यवसायशील होनेके कारण जैनियोंने कांग्रेसके नेताओंकी गद्दीपर बैठनेका प्रयत्न नहीं किया और वे सैनिक ही बने रहे, इस कारण सेनानायकोंकी सूचीमें उनकी समुचित संख्या नहीं दिखाई पड़ती। सुभाष बाबूने जो आजाद हिंद फौजका संगठन किया था, उसमें भी अनेक जैनोंने भाग लेकर यह स्पष्ट कर दिया कि जैनियोंकी शिक्षा संग्राम-स्थलमें सत्य और न्यायपूर्ण स्वत्वोंके संरक्षणनिमित्त साधारण गृहस्थको सशस्त्र संग्रामसे पीछे कदम हटानेको नहीं प्रेरित करती। आजादीके मैदानमें वीरोंको 'आगे बढ़े चलो' का ही उपदेश दिया गया है।

इस विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन धर्मका शिक्षण पराक्रम और शौर्यसे विमुख नहीं कराता है। भारतवर्षमें जब तक जैन शिक्षाका तथा जैनदृष्टिका प्रचार था, तब तक देश स्वतन्त्रताके शिखरपर समासीन था। जबसे भारतवर्षने क्रूरता, पारस्परिक कलह, भोगलोलुपता तथा स्वार्थपरताकी जघन्य वृत्तियोंका स्वागत किया और सांप्रदायिकताकी विकृत दृष्टिसे वैज्ञानिक धर्मप्रसारके मार्गमें अपरिमित बाधाएँ डालीं तथा धार्मिक अत्याचार किए तबसे स्वाधीनताके देवता कूच कर गए और दैन्य, दुर्बलता तथा दासताका दानव अपना तांडव नृत्य दिखाने लगा। एक विद्वान्ने जैन अहिंसाके प्रभावका वर्णन करते हुए कहा था—"यदि १५ लाख जैनियोंकी अहिंसा लगभग ४० कोटि मानवसमुदायकी हिंसनवृत्तिको अभिभूत कर उसपर अपना प्रभाव दिखा सकती है, तब

तो अहिंसाकी गजबकी ताकत हुई। ऐसी अहिंसाके प्रभावके आगे दासता और दंभरूप हिंसनवृत्तिपर प्रतिष्ठित साम्राज्यवादका झोपड़ा क्षणभरमें नष्ट-भ्रष्ट हुए विना नहीं रहेगा। वास्तवमें देखा जाय तो भारतवर्षके विकास और अभ्युत्थानका जैनशिक्षण और प्रभावके साथ घनिष्ठ संबंध रहा है। निष्पक्ष समीक्षकको यह बात सहजमें विदित हो जायगी। कारण जब जैनधर्म चंद्रगुप्त आदि नरेशोंके साम्राज्यमें राष्ट्रधर्म बन करोड़ों प्रजाजनोंका भाग्यनिर्माता था, तब यहाँ यथार्थमें दूधकी नदियाँ बहती थीं। दुराचरणका बहुत कम दर्शन होता था। लोगोंको अपने घरोंमें ताले तक नहीं लगाने पड़ते थे। जबसे जैन शासनका ह्रासका स्वयंकी भूल और दूसरोंके अत्याचारोंके कारण आरंभ हुआ तबसे उसी अनुपातसे देशकी स्थितिमें अंतर पड़ता गया। आज जैन धर्मके आराधक थोड़ी संख्यामें रह गए और अन्य धर्मपालकोंकी जनगणनामें असाधारण अभिवृद्धि हुई। यदि आत्मविकास और अभ्युदयके तत्त्व जैनधर्मके शिक्षणमें न होते तो देशके ह्रास और विकासके साथ अनुपात संबंध अथवा अन्वय-व्यतिरेकभाव नहीं पाया जाता। जिस जैन शासनमें ईश्वरकी दासताको भी स्वीकार न कर बौद्धिक और आत्मीक स्वाधीनताका चित्र विश्वके समक्ष रखा; जिस शिक्षणके द्वारा अगणित आत्माओंने कर्म-शत्रुओंका संहार कर परम-निर्वाण रूप स्वाधीनता प्राप्त की, उस धर्मके शिक्षणमें व्यक्तिगत व राष्ट्रके पतनका अन्वेषण मृगका मरीचिकामें पानी देखने जैसा है।

जैन साधकका आदर्श भगवान् शांतिनाथ सदृश चक्रवर्ती तीर्थंकरका चरित्र रहता है, जिनने साम्राज्यकी अवस्थामें नरेंद्रचक्र पर विजय प्राप्त की थी और अंतमें भोगोंको क्षणिक और निस्सार समझ मोह-शत्रुके नाशनिमित्त अंतः-बाह्य दिगंबरत्वको अपनाकर कर्मसमूहको नष्ट किया।

वास्तवमें विकास और प्रकाशका मार्ग वीरता है। इस वीरतामें दीनोंका संहार नहीं होता। यह वीरता अन्याय और अत्याचारको पनपने नहीं देती। जैनधर्म प्रत्येक प्राणीको महावीर बननेका उपदेश देता है और कहता है–'विना महावीर बने तुम्हें सच्चा कल्याण नहीं मिल सकता, महावीरकी वृत्तिपर ही व्यक्ति अथवा समष्टिका अभ्युदय और अभ्युत्थान निर्भर है।'

पुण्यानुबन्धी वाङ्मय

भगवती सरस्वतीके भण्डारकी महिमा निराली है। उसके प्रसादसे यह प्राणी मोहान्धकारसे बचकर आलोकमय आत्मविकासके क्षेत्रमें प्रगति करता है। इस युगमें इतने वेगसे विपुल सामग्री भारतीके भव्य भवनमें भरी जा रही है कि उसे देख कविकी सूक्ति स्मरण आती है—

"अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुराशेः॥"

शास्त्रसिन्धु अपार है। जीवन थोड़ा है। विघ्नोंकी गिनती नहीं है। ऐसी स्थितिमें ग्रन्थ-समुद्रका पूर्ण अवगाहन करनेके असफल प्रयास-के स्थानमें सार बातको ही ग्रहण करना उचित है। असार पदार्थका परित्याग करना चाहिए; जैसे हंस अम्बुराशिमेंसे प्रयोजनीक दुग्धमात्र-को ग्रहण करता है।

साधक उस ज्ञानराशिसे ही सम्बन्ध रखता है, जो आत्मामें साम्य-भावकी वृद्धि करती है तथा इस जीवको निर्वाणके परम प्रकाशमय पथमें पहुँचाती है। जो ज्ञान राग, द्वेष, मोह, मात्सर्य, दीनता आदि विकृतियों-को उत्पन्न करता है, उसे यह कुज्ञान मानता है। सत्पुरुष ऐसी सामग्री-को आत्मविघातक बताते हैं, जो आविष्कारके रूपमें प्राणघातक विष, फन्दा, यंत्र आदिके नामसे जगत्के समक्ष आती है।[१] महापुराणकार

१ विसजंतकूडपंजरबंधादिसु विणुवएसकरणेण।
जा खलु पवट्टइ मई मइ अण्णाणं त्ति णं बेंति ॥ —गो॰ जी॰ ३०२।

भगवज्जिनसेनने वास्तवमें [1]उनको ही कवि तथा विद्वान् माना है जिनकी भारतीमें धर्म-कथांगत्व है। उनका कथन है—

"धर्मानुवन्धिनी या स्यात् कविता सैव शस्यते।
शेषा पापास्रवायैव सुप्रयुक्तापि जायते॥"

—महापुराण १-६३।

धर्मसे सम्वन्धित कविता ही प्रशंसनीय है। अन्य सुरचित कृतियाँ भी धर्मानुवंधिनी न होनेके कारण पापकर्मोंके आगमनकी कारण हैं।

ऐसे रचनाकारोंको जिनसेन स्वामी कुकांव मानते हैं। जिन साक्षरोंकी समझमें यह वात नहीं आती, कि रागादि रससे परिपूर्ण आनन्द रसको प्रवाहित करने वाली रचनाओंमें क्या दोष है, उनको लक्ष्यविन्दुमें रखते हुए आदर्शवादी कवि भूधरदासजी लिखते हैं—

"राग उदै जग अन्ध भयौ सहजैं सव लोगन लाज गवांई।
सीख विना नर सीख रहे विषयादिक सेवनकी सुघराई॥
ता पर और रचैं रस-काव्य कहा कहिए तिनकी निठुराई।
अन्ध असूझनकी अंखियान मैं, झोंकत हैं रज राम दुहाई॥

कविवर विधाताकी भूलको बताते हुए कहते हैं—

ए विधि! भूल भई तुम तैं, समुझे न कहां कसतूरि वनाई।
दीन कुरङ्गनके तनमें, तृन दन्त धरैं, करुना नहिं आई॥
क्यौं न करी तिन जीभन जे रस काव्य करैं पर कौं दुखदाई।
साधु अनुग्रह दुर्जन दण्ड, दोऊ सधते विसरी चतुराई॥

आधुनिक कोई कोई विद्वान् उस रचनाको पसन्द नहीं करते,

---

१ त एव कवयो लोके त एव च विचक्षणाः।
येषां धर्मकथाङ्गत्वं भारती प्रतिपद्यते॥ —महापुराण १, ६२।

जिसमें कुछ तत्त्वोपदेश या सदाचार-शिक्षणकी ध्वनि (didactic tone) पाई जाती है। वे उस विचारधारासे प्रभावित हैं जो कहती है कि विशुद्ध, सरस और सरल रचनामें स्वाभाविकताका समावेश रहना चाहिये। रचनाकारका कर्तव्य है कि चित्रित किए जाने वाले पदार्थोंके विषयमें दर्पणकी वृत्ति अङ्गीकार करे।

जहां तक जनानुरंजनका प्रश्न है, वहां तक तो यह प्राकृतिक चित्रण अधिक रस-संवर्धक होगा; किन्तु मनुष्य-जीवन ऐसा मामूली पदार्थ नहीं है, जिसका लक्ष्य मधुकरके समान भिन्न भिन्न सुरभिसंपन्न पुष्पोंका रसपान करते हुए जीवन व्यतीत करना है। मनुष्य-जीवन एक महान् निधि है, ऐसा अनुपम अवसर है, जब कि साधक आत्म-शक्तिको विकसित करते हुए जन्म-जरा-मरणविहीन अमर जीवनके उत्कृष्ट और उज्ज्वल आनन्दकी उपलब्धिके लिए प्रयत्न करे। अत एव सन्तोंने जीवनके प्रत्येक अंग तथा कार्यको तब ही सार्थक तथा उपयोगी माना है, जब कि वह आत्मविकासकी मधुरध्वनिसे समन्वित हो। भोगी व्यक्तियोंको धर्मकथा अच्छी नहीं लगती। महापुराणकार जिनसेन तो कहते हैं[1] कि पवित्र धर्मकथाको सुनकर असत् पुरुषोंके चित्तमें व्यथा उत्पन्न होती है जैसे महाग्रहसे विकारी व्यक्तियोंको मन्त्र-विद्याके श्रवण द्वारा पीड़ा होती है। अत एव महापुरुष पवित्र और विमल शिक्षाओंको देना अपना कर्तव्य समझते हैं। लोक-प्रशंसा अथवा विरक्तिका उनके सन्मार्गानुशासन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उनका ध्येय प्रशंसाके प्रमाणपत्र संग्रह करना नहीं रहता है। उनका लक्ष्य सन्मार्गका प्रकाशन रहता है।

---

१ असतां दूयते चित्तं श्रुत्वा धर्मकथां सतीम्।
मन्त्रविद्यामिवाकर्ण्य महाग्रहविकारिणाम्॥ १-८६।

जिनसेन स्वामी कहते हैं—

"परे तुष्यन्तु वा मा वा कविः स्वार्थं प्रतीहताम्।
न पराराधनात् श्रेयः श्रेयः सन्मार्गदेशनात् ॥" १–७६।

पाश्चात्योंके भारत-भूपर पदार्पण करनेके अनन्तर देश-विदेशमें ग्रन्थ संग्रह तथा उनके प्रकाशन, परिशीलन आदि का एक नवीन युग अवतरित हुआ। उस समय अन्य वाङ्मय तो प्रकाशमें आया, किन्तु जैनसमाजने शुद्धताके विशेष मोहवश, अथवा विधर्मियों द्वारा ग्रन्थनाश-की भीतिवश अपनी चमत्कारक अमूल्य कृतियोंको साहित्यिक कलाकारोंके समक्ष लानेमें अत्यधिक शैथिल्यका परिचय दिया। अनेक कट्टर विद्वान् जैनोंके प्रति अनादरका ही प्रचार करते रहते थे। उधर जैन साहित्यके प्रति साम्प्रदायिक विद्वानों द्वारा भ्रान्त प्रचार भी रहा, अतः जब भारतीय वाङ्मयके विषयमें निष्पक्ष साहित्यिकोंने प्रकाश डाला, तब जैन वाङ्मयके बारेमें भ्रान्त धारणाओं की अभिवृद्धि हुई। मेग्डानल्ड जैसे पश्चिमके पण्डितोंकी 'India's Past' पुरातन भारत-सम्बन्धी रचनाओंमें जैन ग्रन्थोंके विषयमें अत्यन्त अल्प प्रकाश प्राप्त होता था। कभी कभी तो ऐसा मालूम पड़ता था, कि भारतीके भण्डारमें जैन ज्ञानी जनोंने कुछ सामग्री समर्पित भी की थी, या नहीं; यह निश्चित रूपसे नहीं कह सकते थे। सांप्रदायिकता अथवा भ्रान्त धारणाओंके भँवरसे जैन वाङ्मयका उद्धार कर जगत्का ध्यान उस ओर आकर्षित करनेका श्रेय डा० जैकोबी, डा० हर्टल सदृश पाश्चात्य पंडितोंको है। उन्होंने अपार श्रम करके जैन शास्त्रोंको प्राप्त किया। उनका मनन तथा परिशीलन करके जगत्को बताया कि जैन वाङ्मयके कोषमें अमूल्य ग्रन्थराशि विद्यमान है, और वह इतनी अपूर्व तथा महत्त्वपूर्ण है, कि उसका परिचय पाए बिना अध्ययन पूर्ण नहीं समझा जा सकता। इन विदेशी अध्येताओंके प्रसादसे

यह बात प्रकाशमें आई कि जैन आचार्यों तथा विद्वानोंने जीवनके प्रत्येक अंग पर प्रकाश डालने वाली बहुमूल्य सामग्री लोकहितार्थ निर्माण की थी। जैन वाङ्मयका विशेष रसपानके कारण तन्मय होने वाले डा० हर्टल कितनी सजीव भाषामें अपने अन्तःकरणके उद्गारोंको व्यक्त करते हैं—"Now what would Sanskrit poetry be without the large Sanskrit literature of the Jains. The more I learn to know, the more my admiration rises."—"जैनियोंके इस विशाल संस्कृत साहित्यके अभावमें संस्कृत कविताकी क्या दशा होगी? जैन साहित्यका जैसे जैसे मुझे ज्ञान होता जाता है, वैसे वैसे ही मेरे चित्तमें इसके प्रति प्रशंसाका भाव बढ़ता जाता है।" जैन साहित्यके विषयमें प्रो० हाप्किन्स लिखते हैं—"जैन साहित्य, जो हमें प्राप्त हुआ है, काफी विशाल है। उसका उचित अंश प्रकाशित भी हो चुका है। इससे जैन और बौद्ध धर्मोंके सम्बन्धके बारेमें पुरातन विश्वासोंके संशोधनकी आवश्यकता उत्पन्न होती है।"[१] जेम्स विंसेंट ग्रेट नामक अमेरिकन मिशनरी अपनी पुस्तक "India and its Faiths" (पृ० २५८) में लिखते हैं—"जैन धार्मिक ग्रंथोंके निर्माणकर्ता विद्वान् बड़े व्यवस्थित विचारक रहे हैं। वे गणितमें विशेष दक्ष रहे हैं। वे यह बात जानते हैं, कि इस विश्वमें कितने प्रकारके विभिन्न पदार्थ हैं। इनकी इन्होंने गणना करके उसके नकशे बनाए हैं।

---

१ The Jain literature left to us is quite large and enough has been published already to make it necessary to revise the old belief in regard to the relation between Jainism and Buddhism.

—The Religions of India P. 286.

इससे वे प्रत्येक बातको यथास्थान बता सकते हैं[१]।" यहाँ लेखककी दृष्टिके समक्ष जैनियोंके गोम्मटसार कर्मकांडमें वर्णित कर्म प्रकृतियोंका सूक्ष्म वर्णन विद्यमान है, जिसे देखकर प्रत्येक विज्ञ व्यक्ति विस्मित हुए बिना नहीं रहता। विस्मयका कारण यह है, कि उस वर्णनमें कहीं भी पूर्वापर विरोध या अव्यवस्था नहीं आती।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, अपने "जैन साहित्यमें प्राचीन ऐतिहासिक-सामग्री" शीर्षक निबन्धमें लिखते हैं—"हर्षकी बात है कि बौद्ध साहित्यसे सब बातोंमें बराबरीका टक्कर लेने वाला जैनोंका भी एक विशाल साहित्य है। दुर्भाग्यसे उनके प्रामाणिक और सुलभ प्रकाशनका कार्य बौद्ध साहित्यकी अपेक्षा कुछ पिछड़ा हुआ रह गया। इसी कारण महावीरकाल और उनके परवर्ती कालके इतिहास निर्माण और तिथि क्रम निर्णयमें जैन साहित्यका अधिक उपयोग नहीं हो पाया। अब शनैः शनैः यह कमी दूर हो रही है।" डा० अग्रवाल लिखते हैं—"जैन समाजकी एक दूसरी बहुमूल्य देन है। वह मध्यकालका जैनसाहित्य है जिसकी रचना संस्कृत और अपभ्रंशमें लगभग एक सहस्र वर्षों तक (५०० ई०–१६०० ई०) होती रही। इसकी तुलना बौद्धोंके उस परवर्ती संस्कृत साहित्यसे हो सकती है, जिसका सम्राट् कनिष्क या अश्वघोषके समयसे बनना शुरू हुआ और बारहवीं शताब्दी अर्थात् नालन्दाके अस्त होने तक बनता रहा। दोनों

---

१ "The writers of the Jain sacred books are very systematic thinkers and particularly 'strong' on arithmetic. They know just how many different kinds of different things there are in the universe and they have them all tabulated and numbered, so that they shall have a place for every thing and every thing in its place." p. 258.

साहित्योंमें कई प्रकारकी समानताएँ और कुछ विषमताएँ भी हैं। दोनोंमें वैज्ञानिक ग्रन्थ अनेक हैं। काव्य और उपाख्यानोंकी भी बहुतायत है। परन्तु बौद्धोंके सहज यान और गुह्य समाजसे प्रेरित साहित्यके प्रभावसे जैन लोग बचे रहे। जैन-साहित्यमें ऐतिहासिक काव्य और प्रबन्धोंकी भी विशेषता रही। **मध्यकालीन भारतीय इतिहासके लिए इस विशाल जैन साहित्यका पारायण अत्यन्त आवश्यक है।** एक ओर 'यशस्तिलक चम्पू' और 'तिलकमंजरी' जैसे विशाल गद्य ग्रन्थ हैं, जिनमें मुसलिम कालसे पहलेकी सामन्त संस्कृतिका सच्चा चित्र है, दूसरी ओर पुष्पदन्त-कृत 'महापुराण' जैसे दिग्गज ग्रन्थ हैं, जिनसे भाषाशास्त्रके अतिरिक्त सामाजिक रहन-सहनका भी पर्याप्त परिचय मिलता है। बाणभट्टकी कादम्बरीके लगभग ५०० वर्ष बाद लिखी हुई तिलकमंजरी नामक गद्य-कथा संस्कृत साहित्यका एक अत्यन्त मनोहारी ग्रन्थ है। संस्कृतिसे सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दोंका बड़ा उत्तम संग्रह इस ग्रन्थसे प्रस्तुत किया जा सकता है। उपमितिभवप्रपंचकथा और समराइच्चकहा भी बड़े कथा-ग्रन्थ हैं, जिनमें स्थान-स्थान पर तत्कालीन सांस्कृतिक चित्र पाए जाते हैं।"[1]

देवानन्दमहाकाव्य, कुमारपालचरित्र, प्रभावकचरित्र, जम्बूस्वामी चरितम् तथा हीरसौभाग्यकाव्यमें इतिहासकी बहुमूल्य सामग्री विद्यमान-है। 'भानुचन्द्रचरितम्' से सम्राट् अकबर और उनके प्रमुख दरबारीजनों के चरित्र पर महत्त्व-पूर्ण प्रकाश पड़ता है। बनारसीदासजी महाकविके 'अर्धकथानक' के द्वारा अकबर तथा जहांगीरकालीन देशकी परिथिति पर प्रकाश पड़ता है तथा यह भी विदित होता है कि मुसलिमनरेशोंके प्रति प्रजाजनका कितना गाढ अनुराग रहता था।

१ अनेकान्त वर्ष ५, किरण १२ पृ० ३९४।

काशी गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेजके प्रिन्सिपल डा० मंगलदेवने 'जैन-विद्वांसः संस्कृतसाहित्यं च' नामक संस्कृत भाषामें लिखे गए विचार-पूर्ण सुन्दर निवन्धमें 'अमरकोष' नामक प्रख्यात संस्कृत कोषको जैन रचना स्वीकार की है। उन्होंने आत्मानुशासन, धर्मशर्माभ्युदय, सुभाषित-रत्नसन्दोह, क्षत्रचूड़ामणि, विदग्धमुखमण्डनम् यशस्तिलकचंम्पू, जीवन्धरचम्पू आदिको शब्दसौन्दर्य, रचनाचातुर्य, अर्थगंभीरताके कारण विद्वानोंके लिए सम्माननीय बताया है। अलंकारशास्त्रके रूपमें अलंकारचिंतामणिको भी महत्त्वपूर्ण कहा है।

व्याकरणके क्षेत्रमें जैनेन्द्र, शाकटायन, शब्दार्णव, कौमार, त्रिविक्रम, चिन्तामणि प्रभृति उपलब्ध भाष्यों एवं मूल ग्रन्थोंकी गणना करने पर लगभग ३० व्याकरणके ग्रंथ पाए जाते हैं। पाणिनीयके साथ जैनेन्द्रकी सूक्ष्मदृष्टिसे तुलना करने पर जैनेन्द्रकार महर्षि पूज्यपादका शब्दशास्त्र पर अधिकार, सूत्ररचनापाटव, अर्थबहुलता तथा अल्पशब्दप्रयोग आदि बातें समीक्षकके अन्तःकरण पर अपना स्थान बनाए बिना नहीं रह सकतीं। खेद इतना है, कि जिस प्रकार पाणिनीय व्याकरणके अध्ययनादि द्वारा उसका प्रचार किया जाता है, उसी प्रकार जैनेन्द्र व्याकरणके प्रति आत्मीयता तथा ममत्व नहीं है। जहां वैयाकरणोंकी दुनियामें अर्धमात्राकी न्यूनता पुत्रोत्पत्ति सदृश आनंद प्रदान करती है, वहां जैनेन्द्रके सूत्रोंमें अनेक शब्दोंका लाघव देख पूज्यपाद स्वामीकी लोकोत्तरता प्रकाशित होती है और कविकी यह उक्ति सार्थक प्रतीत होती है—

"प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥"

यदि असाम्प्रदायिक तथा मार्मिक विचारक भावसे जैन रचनाओंके

साथ अन्य कृतियोंकी तुलना की जाय, तो ज्ञानीजनोंको जैनवाङ्मयकी यथार्थ महत्ताका बोध हो। जैन रचनाओंका उचित परिशीलन, उन पर आलोचनाओंका निर्माण किया जाना, शुद्ध अनुवादोंका प्रकाशमें आना अत्यन्त आवश्यक है। कालिदासका मेघदूत संसारमें विख्यात हो गया, किन्तु उसकी समस्यापूर्ति करते हुए भगवान् पार्श्वनाथका जीवन गुम्फित करने वाले भगवत् जिनसेन के पार्श्वाभ्युदयका कितने लोगोंने दर्शन किया है? अब तक ऐसी महनीय रचनाका हिन्दी अनुवाद अथवा मेघदूत और पार्श्वाभ्युदयका तुलनात्मक अध्ययन सदृश रचनाएँ प्रकाशित नहीं हुईं। सहृदय मार्मिक विद्वान् प्रो० पाठक[१] जिस पार्श्वाभ्युदयको मेघदूतकी अपेक्षा विशेष कवित्वपूर्ण रचना संसारके समक्ष उद्घोषित करते हैं, उसके प्रति जैन समाजकी उपेक्षा अथवा अन्य लोगोंकी अनासक्ति इस तथ्यको समझनेमें सहायता प्रदान करती है, कि महत्त्वपूर्ण, गंभीर तथा आनन्ददायी जैन साहित्यका अप्रचार क्यों हुआ तथा लोक उसकी गरिमासे क्यों अपरिचित रहा और अब भी अपरिचित है? पार्श्वाभ्युदयकी महत्ताको प्रकाशित करने वाला यह पद्य प्रत्येक उदार श्रीमान् एवं विद्वान्के लक्ष्यगोचर रहना चाहिए—

"श्रीपार्श्वात् साधुतः साधुः कमठात् खलतः खलः।
पार्श्वाभ्युदयतः काव्यं न च क्वचन दृश्यते ॥"

साधुतामें भगवान् पार्श्वनाथके सदृश अन्य नहीं दिखता है और

---

१ 'The first place among Indian poets is allotted to Kalidas by consent of all. Jinasena the author of पार्श्वाभ्युदय claims to be considered a better genius than the author of Cloud Messenger मेघदूत'—Prof. K. B. Pathak.

दुष्टता करनेमें कमठके समान कोई और नहीं है। पार्श्वनाथ भगवान्के अभ्युदयका वर्णन करने वाले पार्श्वाभ्युदय काव्य सदृश रचना अन्यत्र नहीं है।

महाकवि हरिचन्दका धर्मशर्माभ्युदय जैसा अनुपम रत्न अब तक सुसंपादित तथा अनूदित होकर जगत्के समक्ष नहीं आया। यही बात उनके जीवन्धरचम्पूके विषयमें चरितार्थ होती है। संस्कृतज्ञोंके संसारमें बाणकी यह सूक्ति सुप्रसिद्ध है कि हरिचन्द्र महाकविकी गद्य रचना श्रेष्ठ है—'भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते'। महाकवि अर्हद्दासका पुरुदेव चम्पू अत्यन्त मनोहारिणी पांडित्य एवं कवित्व पूर्ण रचना है। मुनिसुव्रतकाव्यकी रचना भी अत्यन्त सुन्दर है। मनोहर एवं गंभीर अनुभवपूर्ण सुभाषित रत्नोंसे अलंकृत तथा विशुद्ध विचारोंका प्रेरक क्षत्रचूड़ामणिकाव्यका रसास्वाद प्रत्येक सरस्वती-भक्तको लेना चाहिए। आचार्य वादीभसिंह का जीवंधरस्वामीके चरित्रको प्रकाशित करने वाला 'गद्यचिन्तामणि' जैसा अपूर्व, गंभीर, कवित्व एवं ज्ञानपूर्ण महाकाव्य जिसके अध्ययन गोचर हुआ है, उसे विदित होगा, कि 'कादम्बरी' ही गद्यजगत्की श्रेष्ठ कृति नहीं है; किन्तु गद्यचिन्तामणि और यशस्तिलकचम्पू नामकी जैन रचनाएं भी हैं। इनके प्रकाशमें कुछ भक्तोंका यह कीर्तन कि 'बाणोच्छिष्टमिदं जगत्' अतिशयोक्ति अथवा भक्तिपूर्ण उद्गार माना जायगा। महाकवि वीरनंदिका 'चंद्रप्रभचरित्र' यथार्थमें सुधांशुके सदृश आनन्द तथा शान्ति प्रदान करता है। कविवर हस्तिमल्लका 'मैथिलीकल्याणम्' तथा 'विक्रान्तकौरव' नामक नाटक नाट्य साहित्यमें महत्त्वपूर्ण हैं। यदि सहृदय साहित्यिक जैन काव्यरचनाओंका मनन तथा परिशीलन करें, तो उसे यह अनुभव होगा, कि जिस प्रकार तत्त्वज्ञानके क्षेत्रमें

जैन ऋषियों तथा ज्ञानी जनोंने अपूर्व सामग्री प्रदान की है, उसी प्रकार साहित्य-संसारको भी उनकी देन अनुपम है।

जैन विद्वानोंने संस्कृत भाषा तक ही अपनी कल्याणदायिनी रचनाओंको सीमित नहीं किया, किन्तु अन्य भाषाओंमें भी उनकी रचनाएं गौरवशालिनी हैं। प्रत्येक जीवनोपयोगी विषय पर जैन मुनीन्द्रोंने लोकहितार्थ प्रकाश डालनेका सफल प्रयत्न किया है। प्रोफेसर बूलरका कथन है कि जैनियोंने व्याकरण, ज्योतिष तथा अन्य ज्ञानके विषयोंमें इतनी प्रवीणता प्राप्त की है, कि इस विषयमें उनके शत्रु भी उनका सम्मान करते हैं। उनके कुछ शास्त्र तो यूरोपीय विज्ञानके लिए अब भी महत्त्वपूर्ण हैं। जैन साधुओं द्वारा निर्मित नींव पर तामिल, तेलगू तथा कन्नड़ साहित्यिक भाषाओं की अवस्थिति है।

प्राकृत विमर्शविचक्षण रा० ब० नरसिंहाचार्य एम० ए० अपने 'कर्णाटककविचरिते' ग्रन्थमें लिखते हैं—'कन्नड़-भाषाके आद्य कवि जैन हैं। अब तक उपलब्ध प्राचीन और उत्कृष्ट रचनाओंका श्रेय जैनियोंको है।' कन्नड़ साहित्यके एक मर्मज्ञ विद्वान् लिखते हैं—"कन्नड़ भाषाके उच्च कोटिके साठ कवियोंमें पचास कवि जैन हुए हैं। इनमेंसे

---

१ "The Jains have accomplished so much importance in grammar, astronomy, as well as in some branches of letters, that they have won respect even from their enemies, and some of their works are still of importance to European science. The Kanarese literary language and the Tamil and Telgu rest on the foundations laid by the Jain monks."

—'Indian Sects of the Jains'–P. 22.

चालीस कवियोंके समकक्ष कवि इतर संप्रदायोंमें उपलब्ध नहीं होते।" कविरत्नत्रयके नामसे विख्यात महापुराणकार कवि पंप, शान्तिनाथ पुराणके रचयिता महाकवि पुन्न, एवं अजितनाथपुराणके रचयिता कविवर रन्न जैन ही हुए हैं। महाकवि पंप तो कन्नड़ प्रान्तमें इतनी अधिक सार्वजनिक वंदनाको प्राप्त करते हैं, जितनी कि अन्य भाषाओंके श्रेष्ठ कवियोंको भी प्राप्त नहीं होती। जिनका संपर्क कर्णाटक आदि प्रान्तीय साहित्यिकोंके साथ हुआ हो वे जानते हैं, कि श्रेष्ठ जैन रचनाकारोंके प्रसादसे जैनेतर बन्धु भी जैन तत्त्वज्ञानके गंभीर एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्वसे भी परिचित तथा प्रभावित रहते हैं।

जैन साहित्यके महत्त्वको हृदयङ्गम करने वाले एक महान् साहित्यसेवीने हमसे एकबार कहा था, कि "जैन साहित्यके द्वारा जैन धर्म जीवित रहेगा।" इस साहित्यके प्राणपूर्ण रहनेका अन्यतम कारण यह भी है कि जैनसाहित्यके निर्माणमें तपोवनवासी, शान्त, निराकुल, परम सात्त्विक प्रवृत्ति तथा आहारवाले, उदात्तचरित्र तथा महान् ज्ञानी मुनीन्द्रोंका पुण्य जीवन प्रधान कारण रहा है। सात्त्विक जीवनशाली तथा प्रतिभावान् व्यक्तियोंकी रचनाका रस, गंभीरता और माधुर्य इतर व्यक्तियोंकी कृतियोंमें कैसे आ सकता है?

भगवान् महावीर प्रभुकी दिव्य तथा सर्वाङ्गीण सत्यको प्रकाशमें लाने वाली दिव्यध्वनिको अर्थतः ग्रहणकर श्रमणोत्तम गौतम गणधरने आचारांग आदि द्वादश अङ्गोंकी रचना की, उनका स्वरूप और विस्तार आदिके परिज्ञानार्थ गोम्मटसार जीवकाण्डकी ३४४ से ३६७ गाथा, पर्यन्त विवेचनका परिशीलन करना चाहिए। उससे प्रमाणित होता है कि जिनेन्द्रकी वाणीमें महापुरुषोंका पुण्य चरित्र, सदाचरणका मार्ग,

दार्शनिक चिन्तना तथा इस जगत्के आकार-प्रकार आदिका अनुयोग चतुष्टयके नामसे अत्यन्त विशद वर्णन किया गया है।

यहां यह शङ्का सहज उत्पन्न होती है, कि साधकके लिए उपयोगी आत्मनिर्मलताप्रद आध्यात्मिक साहित्यका ही निर्माण आवश्यक था। अन्य विषयों का विवेचन जैन महर्षियोंने किस लिए किया? इसका समाधान यह है कि मनुष्यका मन चंचल बन्दरके समान है, जिसे कर्मरूपी बिच्छूने डँस लिया है और जिसने मोहरूपी तीव्र मदिराका पान किया है। वह अधिक समय तक आध्यात्मिक जगत्में विचरण करने में असमर्थ है; अतः वह अमार्गमें स्वच्छंद विहार कर अनर्थ उत्पन्न न करे, इस पवित्र उद्देश्यसे अन्य भी विषयोंका प्रतिपादन किया गया, जिनमें चित्त लगा रहे और साधक राग, द्वेषसे अपनी मनोवृत्तिको बचावे। जैनशासनके ग्रन्थोंका अन्तिम लक्ष्य अथवा ध्येय आत्मनिर्मलता तथा विषय-विरक्ति है। इसीलिए साहित्यकी रचनाओंमें लोकरुचिका लक्ष्य करते हुए उसके आकर्षणनिमित्त शृंगारादि रसोंका भी यथास्थान उचित उपयोग किया गया है, किन्तु वहाँ उस शृंगार तथा भोगको जीवनके लिए असार सामग्री बता आत्मज्योतिके प्रकाशमें स्वरूपोपलब्धिकी ओर प्रेरणा की गई है, ऐसी स्थितिमें वहाँ शृंगारादि रसोंकी मुख्यता नहीं रहती है। भदन्त गुणभद्र स्वामीने आत्मानुशासनमें एक सुन्दर शिक्षा दी है—[1] "बुद्धिशाली व्यक्तिको उचित है, कि अपने मनरूपी बन्दरको श्रुतस्कन्ध द्वादशांगरूप महान् वृक्षमें रमावें।" गणित, ज्योतिष आदि विषयोंमें चित्त

---

१ अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते वचःपर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते। समुत्तुङ्गे सम्यक्प्रततमतिमूले प्रतिदिनं श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्॥

—आत्मानुशासनम् १७०।

लगनेपर मनकी चंचलता दूर होती है। वह शान्त एवं निरुपद्रव हो जाता है। महावीराचार्यके 'गणितसार-संग्रह' में जैनदृष्टिसे गणितशास्त्रपर मार्मिक प्रकाश डाला गया है। गणितशास्त्रके विशेषज्ञ प्रो० दत्त महाशयने इस गणित ग्रन्थके विषयमें लिखा है[1]–त्रिभुज (Rational triangle) के विषयमें विशेष बातोंको प्रकाशमें लानेका श्रेय यथार्थमें महावीर आचार्यको है। आधुनिक इतिहासवेत्ता भूलसे यह श्रेय उक्त आचार्यके पश्चाद्वर्ती लेखकोंको देते हैं। दर्शन और न्यायके क्षेत्रमें समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलङ्क, हरिभद्र, विद्यानन्दि, माणिक्यनन्दि, प्रभाचंद्र, अनन्तवीर्य, अभयदेव, वादिदेव, हेमचंद्र, मल्लिषेण, यशोविजय आदि की रचनाएँ इतनी महत्त्वपूर्ण हैं, कि उनका सम्यक् परिशीलन अध्येताको जैनशासनकी ओर आकर्षित किए बिना नहीं रहता। स्वामी समन्तभद्रकी रचनाएँ अपनी लोकोत्तरता तथा असाधारणताके लिए विख्यात हैं। उनका देवागमस्तोत्र विश्वके समस्त चिन्तकोंके लिए चिन्तामणिके समान है। विद्यानन्दि सदृश अनेक चिन्तकोंने उस स्तोत्रके अनुशीलनके फलस्वरूप जैनशासनको स्वीकार किया। उस ११४ श्लोक प्रमाणस्तोत्रपर तार्किक तपस्वी अकलङ्कदेवने अष्टशती टीका आठ सौ श्लोक प्रमाण बनाई। उसपर आचार्य विद्यानन्दिने आठ हजार श्लोक प्रमाण अष्टसहस्री नामकी विश्वातिशालिनी टीका बनाई। इस रचनाके विषयमें स्वयं ग्रन्थकारने लिखा है—

---

१ What is more important for the general history of mathematics, certain methods of finding solutions of rational triangles, the credit for the discovery of which should very rightly go to Mahavira, are attributed by modern historians, by mistake to writers posterior to him.

—Bulletin Cal. Math. Soc. xxi, 116.

"श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः ।
विज्ञायते ययैव स्वसमय-परसमयसद्भावः ॥"

'यथार्थमें सुनने योग्य शास्त्र तो अष्टसहस्री है। उसे सुननेके अनन्तर हजारों शास्त्रोंके श्रवणमें क्या सार है? इस एक ग्रन्थके द्वारा ही स्वसमय अपने सिद्धान्त तथा पर समय-अन्य सिद्धान्तोंका अवबोध होता है।'

भगवद्गीताकी आजके युगमें सुन्दर एवं तात्त्विक निरूपणके कारण बहुत प्रशंसा सुननेमें आती है, इसी दृष्टिसे यदि हम देवागमस्तोत्र पर विचार करें, तो निष्पक्ष भावसे हमें बहिनगीताके समान विशेष गौरव ज्येष्ठ बन्धु देवागमस्तोत्रको प्रदान करना न्याय होगा, कारण उसमें विविध दार्शनिक भ्रान्त धारणाओंकी दुर्बलताओंको प्रकट करते हुए समन्वयका असाधारण और अपूर्व मार्ग उपस्थित किया गया है। जैन आचार्य परंपरामें समन्तभद्र स्वामीके पाण्डित्य पर बड़ी श्रद्धा तथा सम्मानकी भावना व्यक्त की गई है। आचार्य वीरनन्दि कहते हैं—

"गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता ।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती ॥"

गुणान्वित—डोरायुक्त, निर्मल एवं गोल मुक्ताफल संयुक्त, पुण्यात्माओंके द्वारा कण्ठमें धारण की गई हारयष्टि ही दुर्लभ नहीं है, किन्तु समन्तभद्रादि आचार्योंकी वाणी भी दुर्लभ है, कारण वह भी गुणान्वित-ओज माधुर्य आदि गुणसम्पन्न है, वह भी निर्मलचरित्र मुक्तात्माओंके वर्णन युक्त है, महान् मुनीन्द्रों आदिने उस सरस वाणीसे अपने कण्ठको अलंकृत किया है। इसी प्रकार तामिल रचनाओंमें नीलकेशी नामका महान् विचारपूर्ण तथा दार्शनिक गुत्थियोंको सुलझाकर अहिंसा तत्त्वज्ञान

की प्रतिष्ठा स्थापित करनेवाला काव्य समयदिवाकर वामन मुनिकी टीका सहित रावबहादुर प्रोफेसर श्री ए० चक्रवर्ती एम० ए० मद्रासके द्वारा प्रकाशमें आया है। उसमें भी तुलनात्मक पद्धतिसे सत्यकी उपलब्धिका सुन्दर प्रयत्न किया गया है। श्रीचक्रवर्तीकी ३२० पेजकी भूमिका अंग्रेजीमें छपी है, इससे तामिलसे अपरिचित व्यक्ति भी उसका रसास्वादन कर सकते हैं।

जैन ग्रन्थकारोंने भाषाको भावप्रकाशन करनेका साधनमात्र माना। इस कारण इन्होंने संस्कृतको ही देववाणी—विद्वानोंकी भाषा—समझ अन्य भाषाओंके प्रति उपेक्षा नहीं की, प्रत्युत हर एक सजीव भाषाके माध्यमसे वीतराग जिनेन्द्रदेवकी पवित्र देशनाका जगत्‌में प्रसार किया। वैदिक पण्डित संस्कृतके सौन्दर्य पर ही मुग्ध थे, किन्तु जैनियोंने पुरातन युगमें प्राकृत नामक जनताकी भाषाको अपने उपदेशका अवलम्बन बना अत्यन्त पुष्ट, प्रसन्न तथा गंभीर रचनाओं द्वारा उसके भण्डारको अलंकृत किया।

ईसवीके प्रारंभ कालमें पुष्पदन्त, भूतबलि, गुणधर, कुन्दकुन्द, यतिवृषभ आदि मुनीन्द्रोंने अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओंके द्वारा प्राकृत-भाषाके मस्तकको अत्यन्त समुन्नत किया है। पुष्पदन्त भूतबलि कृत षट्खंडागमकी ४६००० श्लोक प्रमाण प्राकृत भाषामें सूत्र रचनाके प्रमेयकी अपूर्वता विश्वको चकित करनेवाली है। लगभग ६ हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत सूत्रों पर वीरसेनाचार्यने बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण धवला टीका नामका सर्वांग सुन्दर भाष्य रचा। भूतबलि स्वामीका ४० हजार श्लोक प्रमाण महाबन्ध ग्रंथ विश्व साहित्यकी अनुपम निधि है। गुणधर आचार्यने १८० गाथाओंमें कषायप्राभृत बनाया, जिसकी टीका जयधवला नामकी ६० हजार श्लोक प्रमाण वीरसेन स्वामी तथा

उनके शिष्य भगवज्जिनसेनने की है। कुन्दकुन्द मुनीन्द्रने अध्यात्म नामक परा-विद्याके अमृतरससे आपूर्ण अनुपम ग्रन्थराज समयसारकी रचना की। उसके आनन्द-निर्झरके प्रभावसे जगत्का परिताप संतप्त नहीं करता। उनकी यह शिक्षा प्रत्येक साधकके लिए श्वासोच्छ्वासकी पवनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है और प्रत्येक सत्पुरुषको उसे सदा हृदयमें समुपस्थित रखना चाहिए, "मेरी आत्मा एक है। अविनाशी है। ज्ञान-दर्शन-शक्तिसम्पन्न है। मेरी आत्माको छोड़कर शेष सब बाहरी वस्तुएँ हैं। यथार्थमें वे मेरी नहीं हैं, उनका मेरी आत्माके साथ संयोग सम्बन्ध हो गया है।" मेरी आत्मा जब विनाश-रहित है, तब, वज्रपात भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता है। शरीरके नाश होनेसे मेरी आत्माका कुछ भी नहीं बिगड़ता है। कारण, शरीर मेरी आत्मासे पृथक् है। मेरी आत्मा तो एक है, एक थी, और यथार्थतः एक ही रहेगी। जिसकी इस सिद्धान्त पर श्रद्धा जम चुकी है वह न मृत्युसे डरता है, न विपत्तिसे घबड़ाता है और न भोगविषयोंसे व्यामुग्ध ही बनता है। वह साधक एक यही तत्त्व अपने हृदयपटल पर उत्कीर्ण करता है—

"एगो मे सासदो आदा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥"

[1]प्राकृत भाषाके पश्चात् उद्भूत होनेवाली विभिन्न प्रांतीय भाषाओंकी मध्यवर्तिनी अपभ्रंश नामकी भाषामें भी जैन कवियोंने स्तुत्य कार्य किया है। अब तक इस भाषामें लिखे गए उपलब्ध बहुमूल्य ग्रन्थोंमें जैन रचनाओंकी ही विपुलता है। यह भाषा श्रुतिमधुर मालूम होती है। इसके विषयमें यह कथन यथार्थ है—**'देसिल बअना सब जन मिट्ठा'**

१ श्वेताम्बर आगमग्रन्थोंकी विपुलराशि इसी भाषाके भण्डारका बहुमूल्य भाग है।

इस भाषामें पुष्पदन्त महाकविका महापुराण अत्यन्त कीर्तिमान् है। ये पुष्पदन्त षट्खंडागमके रचयिता पुष्पदन्त स्वामीसे भिन्न हैं। ये नवमी सदीमें हुए हैं, इनके पिता-माता पहिले शिवभक्त ब्राह्मण थे पश्चात् उन्होंने जैनधर्म स्वीकार किया था। अपने माता-पिताके द्वारा जैनधर्मको अंगीकार करने पर पुष्पदन्तने भी जैनशासनको स्वीकार किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। इनकी रचनामें शब्द, अर्थ, रस-प्रवाह आदिकी दृष्टिसे अपूर्व सौंदर्य है। महाकविके महापुराणमें १२२ संधियां हैं। श्लोकसंख्या लगभग २० हजार है। यदि राष्ट्र भाषामें इसका अनुवाद मूल सहित प्रकाशित किया जाय तो साहित्य रसिकोंको महान् आनंद प्राप्त होगा। कविके णायकुमारचरिउ और जसहरचरिउ भी प्रख्यात ग्रंथ हैं। रइधू कविकी दशलक्षण पूजा प्रसिद्ध है, वह बहुत रसपूर्ण है। कविने हरिवंशपुराण, रामपुराण, सिद्धचक्रचरित्र, सम्मत्त-गुणनिधान आदि लगभग चौबीस ग्रंथ पुराण, सिद्धान्त, अध्यात्म तथा छन्द आदिके शास्त्र सोलहवीं सदीमें बनाये थे। कनकामर मुनि रचित करकण्डुचरित्र भी एक सुन्दर रचना है। उसमें करकण्डुनरेशका आकर्षक चरित्र दिया है। यदि अपभ्रंश साहित्यका गहरा अध्ययन किया जाय तो भारतीय इतिहास और साहित्यके लिये बहुमूल्य और अपूर्व सामग्री प्राप्त हुए विना न रहेगी। अभी पं० राहुल जीने स्वयंभू कवि रचित पउमचरिउका मनन किया, तो उन्हें यह प्रतिभास हुआ, कि रामचरितमानसके निर्माता विख्यात हिन्दीकवि तुलसीदास जीकी रचना पर पउमचरिउका गहरा प्रभाव है। यह बात विद्वान् श्री राहुल-जीने सन् १९४५ की सरस्वतीमें प्रकट की है। इसी प्रकार न जाने कितनी अंधकारमें पड़ी हुई बातें प्रकाशमें आवेंगी और कितनी भ्रान्त धारणाओंका परिमार्जन न होगा? हिन्दी भाषामें भी बनारसीदास,

भैया भगवतीदास, भूधरदास, द्यानतराय, दौलतराम, जयचन्द, टोडरमल, सदासुख और भागचंद आदि विद्वानोंने बहुमूल्य[1] रचनाएँ की हैं, जिनसे साधकको विशेष प्रकाश और स्फूर्ति प्राप्त हुए बिना न रहेगी।

हजारों अपूर्व अपरिचित ग्रंथोंके विषयमें परिज्ञान कराना एक छोटेसे लेखके लिये असंभव है। अतः हमने संक्षेपमें उस विशाल जैनवाङ्मयरूप समुद्रकी इस संक्षिप्त लेख रूप वातायन द्वारा अत्यन्त स्थूलरूपसे एक झलकमात्र दिखाना उचित समझा जिससे विशेष जिज्ञासाका उदय हो।

अब हम कुछ अवतरणों द्वारा इस बात पर प्रकाश डालेंगे कि, जैन रचनाओंमें कितनी अनुपम, सरस, शांत तथा स्फूर्तिपूर्ण सामग्री विद्यमान है।

अमृतचन्द्र सूरि अपने आध्यात्मिक ग्रन्थ 'नाटक समयसार'में लिखते हैं—[2]'जब तात्त्विक दृष्टि उदित होती है, तब यह बात प्रकाशित होती है कि आत्माका स्वरूप परभावसे भिन्न है, वह परिपूर्ण है, उसका न आरम्भ है और न अवसान है, वह अद्वितीय है, संकल्प-विकल्पके प्रपंचसे वह रहित है।'

आत्मा अमर है, इस विषयमें **अमृतचन्द्र सूरि**का कितना हृदयग्राही स्पष्टीकरण है? वे कहते हैं—[3]'प्राणोंके नाशका ही तो नाम मृत्यु

---

१ इनके परिचयके लिए बाबू कामताप्रसादजी द्वारा लिखित इसी संस्थासे प्रकाशित 'हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास' पुस्तक देखना चाहिए।

२ आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥ ना० स० १०।

३ प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत् स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किंचन भवेत् तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ ना०स० ६।२७।

है। इस आत्माका प्राण ज्ञान है, जो अविनाशी रहनेके कारण कभी भी विनष्ट नहीं होता। इस कारण आत्माका भी कभी मरण नहीं होता। अतः ज्ञानी जनको किस बातका डर होगा? वह निर्भयतापूर्वक स्वयं सदा स्वाभाविक ज्ञानको प्राप्त करता है।

पूज्यपाद स्वामी कितनी उज्ज्वल तथा गंभीर बात कहते हैं—[1]'जो परमात्मा है, वही मैं हूँ, (आत्मपना दोनोंमें विद्यमान है) जो मैं हूँ, वही परमात्मा हैं। ऐसी स्थितिमें मुझे अपनी आत्माकी ही आराधना करना उचित है, अन्यकी नहीं।'

बुधजनजी लिखते हैं :—

"मुझमें तुझमें भेद यों, और भेद कछु नाहिं।
तुम तन तज पर ब्रह्म भए, हम दुखिया तन मांहि ॥" —सतसई।

आत्मतत्त्वका साक्षात्कार किस अवस्थामें होता है, इस पर स्वामी पूज्यपाद कहते हैं—[2]जब अन्तःकरण-जल राग-द्वेष, मोहादिकी लहरोंसे चंचल नहीं रहता है, तब साधक आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करता है। अन्यलोग उस तत्त्वको नहीं जानते हैं।

उनका यह भी कथन है कि—[3]'इस शरीरमें आत्म-दृष्टि या आत्म-चिंतनाके कारण यह जीव शरीरान्तर धारण करनेके कारणको प्राप्त

---

१ यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥ समाधितन्त्र ३१।

२ रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः ॥ ३५ ॥

३ देहान्तर्गतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेः आत्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥ स० तं०।

करता है। विदेहत्वकी उपलब्धि—शरीर रहित अपने आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति—का बीज है आत्मामें ही आत्मभावना धारण करना।

इष्टोपदेशमें कहा है—'[1]तत्त्वका निष्कर्ष है—जीव पृथक् है और पुद्गल भी पृथक् हैं। इसके सिवाय जो कुछ भी कहा जाता है, वह इसका ही स्पष्टीकरण है।'

इस कारण आत्मज्ञानी ऋषि कहते हैं—[2]'जिस उपायसे यह जीव अविद्यामय अवस्थाका परित्यागकर विद्यामय—ज्ञानज्योतिमय स्थितिको प्राप्त कर सके, उसकी ही चर्चा करो, दूसरोंसे उसके विषयमें पूछो, उसकी ही कामना करो। इतना ही क्यों इसी विषयमें निमग्न भी हो जाओ।'

आत्माका स्वरूप वाणीके अगोचर है अतः शुद्ध तात्त्विक दृष्टिसे कहते हैं कि आत्माकी उपलब्धिके विषयमें प्रतिपाद्य एवं प्रतिपादक-पनेका अभाव है। आचार्य कहते हैं—[3]'जो मैं अन्योंके द्वारा शिक्षित किया जाता हूँ, अथवा जो मैं दूसरोंको उपदेश देता हूँ। यथार्थमें यह अज्ञ चेष्टा है; कारण मैं विकल्पातीत वचन-अगोचर स्वभाव वाला हूँ।

पूज्यपाद स्वामीकी यह उक्ति बहुत मार्मिक तथा तत्त्वस्पर्शी है—[4]

---

१ जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किञ्चित् सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥ ५०॥

२ तद्ब्रूयात् तत्परान् पृच्छेत् तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥ ५३॥ स० तं०।

३ यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान्प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥ १९॥ स० तं०।

४ यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम्॥ —इ० उ० १९।

जो पदार्थ जीवका उपकारी होगा, अर्थात् जिससे आत्माको पोषण प्राप्त होता है, उससे शरीरकी भलाई नहीं होगी। जिससे शरीरका पोषण या हित होता है, उससे आत्माका हित नहीं होगा। कारण दोनोंके हितोंमें परस्पर विरोधीपना है।'

इस आध्यात्मिक सत्यका प्रयोग भारतीय राजनीतिके क्षेत्रमें भी ज्योति प्रदान करता है। भारतीय हित और विदेशियोंके कल्याणमें परस्पर संघर्ष है। अतः जिन बातोंसे भारतकी भलाई होगी, उनसे विदेशियोंके स्वार्थका विघात होगा तथा जिनसे विदेशियोंकी स्वार्थपुष्टि होगी, उनसे स्वदेशका अहित होना अवश्यम्भावी है। ज्ञानार्णवकार प्रत्येक आत्माको अपरिमित शक्ति, आनन्द तथा ज्ञानका अक्षय भण्डार बताते हुए कहते हैं—

"अनन्तवीर्य-विज्ञान-दृगानन्दात्मकोऽप्यहम्।"

आत्मविद्याकी उपलब्धिके विषयमें योगीश्वर पूज्यपादका कथन है[1]—'जैसे जैसे स्वरूपके अवबोधका रस प्राप्त होने लगता है, वैसे वैसे प्राप्त हुए भी विषय-भोग अच्छे नहीं लगते।' ब्रह्मज्ञानी चक्रवर्ती सम्राट् भरतेश्वरको आत्मचिन्तनमें जो रस प्राप्त होता था, वह राजकीय वैभवके द्वारा लेशमात्र भी नहीं प्राप्त होता था।

अपभ्रंश भाषाके सुन्दर शास्त्र 'परमात्मप्रकाश' में योगीन्द्रदेव लिखते हैं[2]—'शरीर-मन्दिरमें जो आदि तथा अन्तरहित एवं केवलज्ञानरूप ज्योतिर्मय आत्मदेव विद्यमान है, वही यथार्थमें परमात्मा है।'

---

१ यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि॥ —इ० उ० ३७।

२ देहा देवलि जो वसइ, देउ अणाइ अणंतु।
केवलणाणफुरंततणु, सो परमप्पु णिभंतु॥ —प० प्र० ३३।

परमार्थ दृष्टिकी प्रधानतासे आचार्य कितनी मार्मिक बात कहते हैं:—'[1]आत्मन्! अन्य तीर्थोंकी यात्रा मत करो। अन्य गुरुकी सेवा भी अनावश्यक है। अन्य देवका चिंतन भी न करो। केवल अपनी निर्मल आत्माका ही आश्रय लो।' आचार्य कहते हैं—[2]'यह आत्मा ही तो परमात्मा है। कर्मोदयके कारण वह आराध्यके स्थानमें आराधक बनता है। जब यह आत्मा अपनी ही आत्मामें स्वरूपका दर्शन करनेमें समर्थ होता है, तब यही परमात्मा हो जाता है।'

राग अथवा स्नेहके कारण ही यह जीव अपने अनंत, अक्षय आनंदके भण्डारसे वंचित हो दुःखमय संसारमें परिभ्रमण करता है। इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए आचार्य तिलके उदाहरणको कितनी सुन्दरताके साथ उपस्थित करते हैं:—

[3]'देखो! तिलोंका समुदाय स्नेह (तेल) के कारण जल सिंचन, पैरोंके द्वारा कुचला जाना, एवं पुनः पुनः पेले जानेकी पीड़ाका अनुभव करता है। स्नेह शब्द ममता तथा तेल इन दो अर्थोंको द्योतित करता है। उनको ध्यानमें रखते हुए ही आचार्य महाराज समझाते हैं कि जैसे स्नेहके कारण तिलोंका कुचला जाना तथा पेले जानेका कार्य किया जाता है, इसी प्रकार स्नेहके कारण यह जीव संसारकी अनंत दुःखाग्निमें निरंतर जला करता है।'

---

१ अण्णुजि तित्थु म जाहि जिय, अण्णु जि गुरुअ म सेवि।
अण्णु जि देउ म चिंति तुहुं, अप्पा विमलु मुएवि॥ ९६॥

२ एहु जु अप्पा सो परमप्पा, कम्मविसेसे जायउ जप्पा।
जामइ जाणइ अप्पें अप्पा, तामइं सो जि देउ परमप्पा॥ ३०५॥

३ जलसिंचणु पयणिद्दलणु, पुणु पुणु पीलण दुक्खु।
णेहहं लग्गवि तिलणियरु, जंति सहंतउ पिक्खु। २४६॥

अपने कृत्योंके विपाकका उत्तरदायित्व प्रत्येक जीव पर है, अन्य व्यक्ति इसमें हिस्सा नहीं बटाते; इस सिद्धान्तको स्पष्ट करते हुए कवि कहते हैं :—[1]"हे जीव! पुत्र स्त्री आदिके निमित्त लाखों प्राणियोंकी हिंसा करके तू जो दुष्कृत्य करता है, उसके फलको एक तू ही सहेगा।'

आजके युगमें उदारता, समता, विश्वप्रेम आदिके मधुर शब्दोंका उच्चारण करते हुए अपनी स्वार्थपरताका पोषण बड़े बड़े राष्ट्र करते हैं, और करोड़ों व्यक्तियोंके न्यायोचित और अत्यन्त आवश्यक स्वत्वोंका अपहरण करते हैं, उनको इस उपदेशके दर्पणमें अपना मुख देखना श्रेयस्कर है।

कवि आत्माके लिए कल्याणकारी अथवा विपत्तिप्रद अवस्थाके कारणको बताते हुए साधकको अपना मार्ग चुननेकी स्वतंत्रता देते हैं और कहते हैं :—

[2]'देखो! जीवोंके वधसे तो नरकगति प्राप्त होती है, और दूसरोंको अभयपद प्रदान करनेसे स्वर्गका लाभ होता है। ये दोनों मार्ग पासमें ही बताए गए हैं। 'जहिं भावइ तहिं लग्गु'—जो बात तुम्हें रुचिकर हो, उसीमें लग जाओ'। कितना प्रशस्त और समुज्ज्वल मार्ग बताया है। जो जगत्को अभय प्रदान करेगा, वह अभय अवस्था तथा आनन्दका उपभोग करेगा। जो अन्यको कष्ट देगा, उसे विपत्तिकी भीषण दवाग्निमें भस्म होना पड़ेगा। जिसे कल्याण चाहिए, उसे पूर्वोक्त सदुपदेशको ध्यानमें रखना चाहिए।

---

१ मारिवि जीवहं लक्खड़ा, जं जिय पाउ करीसि।
पुत्तकलत्तहं कारणइं, तं तुहुं एकु सहीसि॥ २५५॥ —परमात्मप्रकाश।

२ जीव वधंतहं णरयगइ, अभय पदाणे सग्गु।
बेपह जवला दरिसिया, जहिं भावइ तहिं लग्गु॥ २५७॥

लोग अपनी आत्माको भूल जाते हैं। ग्रन्थोंका परिशीलन और तपःसाधनामें अपनेको कृतकृत्य समझते हैं। वे यह नहीं सोचते, कि विना इकाईके अकेले शून्योंका भी कुछ मूल्य या महत्त्व होता है? इस दृष्टिको आचार्य महाराज कितनी स्पष्टताके साथ बताते हैं :—

[1]'जिसके हृदयमें निर्मल आत्माका वास नहीं होता; तत्त्वतः क्या शास्त्र, पुराण एवं तपश्चर्या उसे निर्वाण प्रदान कर सकती हैं?'

'यथार्थमें निर्वाण प्राप्तिकी प्रथम सीढ़ी आत्मदर्शन है। आत्म-दर्शन, आत्म-अवबोध तथा आत्मनिमग्नताके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है'।[2]

पाहुड़ दोहामें **रामसिंह मुनि** आत्मबोधको परमकला बताते हुए कहते हैं—

[3]'अक्षरारूढ़ स्याही मिश्रित (ग्रन्थोंको) को पढ़ पढ़कर तू क्षीण हो गया, किन्तु तूने इस परमकलाको नहीं जाना, कि तेरा उदय कहाँ हुआ और तू कहाँ लीन हुआ।'

जो लोग विषयभोगको भोगते हुए आत्मतत्वकी पूर्ण विकसित अवस्था मोक्षको चाहते हैं, वे असंभवकी उपलब्धिके लिये प्रयत्नशील हैं। कवि सरल किन्तु मर्मस्पर्शी शैलीसे समझाते हैं—'[4]दो तरफ दृष्टि रखने-

---

१ अप्पा णियमणि णिम्मलउ, णियमें वसइण जासु।
सत्थपुराणइं तव चरणु, मुक्खु जि करहिं किं तासु ॥९९॥ —परमात्मप्रकाश।

२ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। त० सू० १।१।

३ अक्खरचडिया मसि मिलिया पाढंतो गम खीण।
एक्क ण जाणी परमकला कहिं उग्गउ कहि लीण ॥ १७३ ॥

४ वे पंथेहिं ण गम्मइ वेमुह सूई ण सिज्जए कंथा।
विण्णि ण हुंति अयाणा इन्द्रियसोक्खं च मोक्खं च ॥२१३॥ —पाहुड़ दोहा।

वाला पथिक मार्गमें नहीं बढ़ता है। दो मुखवाली सुई कंथा—जीर्ण वस्त्रको नहीं सी सकती, इसी प्रकार इंद्रियसुख और मुक्ति साथ-साथ नहीं होती[1]।'

भदन्त गुणभद्र एक हृदयग्राही उदाहरण द्वारा इस तत्त्वको समझाते हैं कि साधकका सच्चा विकास परिग्रहके द्वारा नहीं होता—

[2]'तराजूके नीचे ऊँचे पलड़े यह स्पष्टतया समझाते हुए प्रतीत होते हैं, कि ग्रहण करनेकी इच्छा वालोंकी अधोगति होती है और अग्रहणकी इच्छा वालोंकी ऊर्ध्वगति होती है।'

कितना मार्मिक सर्वोपयोगी उदाहरण है यह ; तराजूका वजनदार पलड़ा नीचे जाता है, जो परिग्रहधारियोंके अधोगमनको सूचित करता है ; और हल्का पलड़ा ऊपर उठता है, जो अल्पपरिग्रह वालोंके ऊर्ध्वगमनकी ओर संकेत करता है।

गुणभद्र स्वामी उन लोगोंको भी आत्मोद्धारका सुगम उपाय बताते हैं, जो तपश्चर्याके द्वारा अपने सुकुमार शरीरको क्लेश नहीं पहुँचाना चाहते हैं, अथवा जिनका शरीर यथार्थमें कष्ट सहन करनेमें असमर्थ हैं। वे कहते हैं—

[3]'तू कष्ट सहन करनेमें असमर्थ है, तो कठोर तपश्चर्या मत

---

१ दो मुख सुई न सीवे कन्था। दो मुख पन्थी चलै न पन्था।
यों दो काज न होहिं सयाने, विषय भोग अरु मोख पयाने।

२ अधो जिघृक्षवो यान्ति यान्ति ऊर्ध्वमजिघृक्षवः।
इति स्पष्टं वदन्तो वा नामोन्नामौ तुलान्तयोः ॥ १५४ ॥

३ करोतु न चिरं घोरं तपः क्लेशासहो भवान्।
चित्तसाध्यान् कषायादीन् न जयेद्यत्तदज्ञता ॥२१२॥ आत्मानुशासन।

कर ; किन्तु यदि तू अपनी मनोवृत्तिके द्वारा वश करने योग्य क्रोधादि शत्रुओंको भी नहीं जीतता है, तो यह तेरी वेसमझी है।'

वास्तवमें मानसिक विकारों पर विजय ही सच्चा विकास और कल्याण है। मानसिक पवित्रताका विशुद्ध जीवनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। महाकवि बनारसीदासजीकी वाणी कितनी प्रबोधपूर्ण है—

"समुझै न ज्ञान, कहै करम किए सों मोक्ष,
ऐसे जीव विकल मिथ्यातकी गहलमें।
ज्ञान पक्ष गहै कहै आतमा अबन्ध सदा,
वरते सुछन्द तेउ डूबे हैं चहलमें॥
जथायोग्य करम करें पै ममता न धरें,
रहें सावधान ज्ञान ध्यानकी टहलमें।
तेई भव-सागरके ऊपर ह्वै तरें जीव,
जिन्हको निवास स्यादवादके महलमें॥

अपने स्वरूपको न जाननेवाले अज्ञानीकी स्थितिका इस प्रकार चित्रित करते हैं :—

"काँच बांधे शिरसों सुमणि बांधे पायनिसों,
जाने न गँवार कैसा मणी, कैसा कांच है ?
यों ही झूठ मूठमें मगन झूठ ही कों दौरें,
झूठ बात माने, पै न जाने कहां साँच है॥
मणीको परख जाने जौहरी जगत् मांहि,
सांचकी समझ ज्ञान लोचनकी जांच है।
जहांको जु वासी सो तो तहांको परम जाने,
जाको जैसो स्वांग ताको तैसो रूप नांच है॥"

मोहकी प्रगाढ़ निद्रामें मग्न संसारी प्राणीका कितना भावपूर्ण चित्र यहां अंकित किया गया है—

"काया चित्रशालामें करम परजंक भारी,
मायाकी संवारी सेज चादर कलपना।
शयन करे चेतन अचेतनता नींद लिए,
मोहकी मरोर यहै लोचनको ढपना॥
उदै बल जोर यहै श्वासको शबद घोर,
विषय सुखकारी जाकी दोर यहै सपना।
ऐसे मूढ़ दशामें मगन रहे तिहु काल,
धावै भ्रम जालमें न पावे रूप अपना॥"

जब ज्ञानका उद्योत होता है, तब यह मोहनिद्रा क्षणमें दूर हो जाती है। आत्मा अपने स्वरूपकी अनुभूति करनेमें तत्पर हो जाता है। कविवर कहते हैं—

"जैसे महा रतन की ज्योति में लहरि उठे,
जल की तरंग जैसे लीन होय जल में।
तैसे शुद्ध आतम दरव परजाय करी,
उपजे विनसे थिर रहे निज थल में॥
ऐसो अविकलपि, अजलपो, आनंद रूपि,
अनादि अनंत गहि लीजे एक पल में।
ताको अनुभव कीजे, परम पीयूस पीजे,
बंधको विलास डारि दीजे पुद्गल में॥"

बनारसीदास जीने अपने नाटक समयसारमें इतनी प्राणपूर्ण, अनुभव रसभरी वाणीमें अध्यात्मविद्याका प्रतिपादन किया है कि उसके

द्वारा आत्माका वैभव व्यक्त हुए विना नहीं रहता। कविवरका यह कथन पूर्णतया सत्य है—

'नाटकके सुने हिए फाटक यों खुलतु हैं।'

भैया भगवतीदासजीकी वाणीसे भी अध्यात्मका अमृत-निर्झर प्रवाहित होता है, जो अविनाशी आनन्दका मार्ग है। वे सुबुद्धि रानीके द्वारा चैतन्यरायको समझाते हैं कि अमूल्य मनुष्यभवको प्राप्तकर आत्माका अहित नहीं करना चाहिए। कितना सरस तथा जीवनप्रद संवाद है—

"सुनो राय चिदानन्द, कहो जु सुबुद्धि रानी
कहै कहा बेर बेर नैकु तोहि लाज है।
कैसी लाज? कहो, कहां, हम कछु जानत न,
हमें इहां इन्द्रिनिको विषै सुख राज है॥"

इस पर सुबुद्धि देवी पुनः कहती है—

"अरे मूढ़, विषय सुख सेये तू अनन्ती बार
अजहूँ अघायो नांहि, कामी शिरताज है।
मानुष जनम पाय, आरज सुखेत आय,
जो न चेतै, हंसराय तेरो ही अकाज है॥"

अपने स्वरूपको तनिक भी स्मरण न करनेवाले आत्माको कितनी ओजपूर्ण वाणीमें सज्ञान करनेका प्रयत्न किया गया है। 'भैया' कहते हैं—

"कौन तुम? कहाँ आए, कौने बौराए तुमहिं,
काके रस राचे, कछु सुध हूँ धरतु हो।
तुम तो सयाने पै सयान यह कौन कीन्हों,
तीन लोक नाथ ह्वैके दीनसे फिरतु हो॥"

बड़े मधुर शब्दोंमें आत्माको समझाते हुए 'ज्ञानमहल'के भीतर बुलाते हैं और समझाते हैं, कि ऐसे अपूर्व स्थलको छोड़कर भूलमें भी बाहर पांव मत धरना—पर पदार्थमें आसक्ति नहीं करना।

"कहां कहां कौन संग लागे ही फिरत लाल
आवो क्यों न आज तुम ज्ञानके महलमें।
नेकहु विलोकि देखो, अन्तर सुदृष्टि सेती
कैसी कैसी नीकि नारि खड़ी हैं टहलमें॥"

यहां क्षमा, करुणा आदि देवियोंको ज्ञानके महलमें अवस्थित बताया है। उनकी सुन्दरता एवं महत्ता अपूर्व है। कवि कहते हैं—

"एकन तै एक बनी सुन्दर सुरूप घनी,
उपमा न जाय गनी रातकी चहलमें।
ऐसी विधि पाय कहूँ, भूलि हूँ न पाय दीजे,
एतो कह्यो वाम लीजे वीनती सहलमें॥"

कविवर बनारसीदास साधना-प्रेमीसे छह माह पर्यन्त एकान्तमें बैठकर चित्तको एक ओर करनेकी प्रेरणा करते हुए कहते हैं :—

"तेरो घट सर तामैं तू ही है कमल वाकौ
तू ही मधुकर है सुवास पहिचानु रें।
प्रापति न ह्वैहै कछू ऐसैं तू विचारतु है
सही ह्वैहैं प्रापति सरूप यों ही जानु रे॥"

अध्यात्मविद्याके निर्मल प्रकाशमें तुच्छ तथा संकीर्ण भाव अपने आप विलीन हो जाते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि वाला सांप्रदायिक समस्या पर इस प्रकार विचार करता है—

"एक रूप हिन्दू तुरुक दूजी दशा न कोय।
मनकी दुविधा मानकर भए एक सों दोय॥

दोउ भूले भरममें, करें वचनकी टेक।
राम राम हिन्दू कहैं, तुरुक 'सलामालेक'॥
इनकैं पुस्तक बांचिये, वे हू पढ़ै कितेव।
एक वस्तुके नाम द्वय, जैसे 'शोभा' 'ज़ेव'॥
तिनकौं दुविधा जे लखै, रंग विरङ्गी चाम।
मेरे नैनन देखिए, घट घट अन्तर राम॥" ७-१०॥

—बनारसी वि०, २११।

जब समाधिकी अवस्था उत्पन्न होती है तब भेद बुद्धि नहीं रहती। कहते हैं—

"राम रसिक अरु राम रस कहन सुननके दोय।
जब समाधि परगट भई, तब दुविधा नहिं कोय॥"

भक्तिके क्षेत्रमें भक्तामर, कल्याणमन्दिर, एकीभाव, विषापहार आदि स्तोत्रोंके रूपमें बड़ी पवित्र और आत्मजागृतिकारिणी रचनाएँ हैं। साहित्यिक दृष्टिसे भी भक्तिसाहित्य बहुत महत्त्वपूर्ण है।

भक्तामरके मृगपति भीति निवारक पद्यका श्री हेमराजपंडिने कितना सजीव अनुवाद किया है—

"अति मद मत्त गयन्द कुंभथल नखन विदारै।
मोती रक्त समेत डारि भूतल सिंगारै॥
बांकी दाढ़ विशाल, वदनमें रसना लोलै।
भीम भयानक रूप देखि जन थरहर डोलै॥
ऐसे मृगपति पग तलैं, जो नर आयो होय।
शरण गए तुव चरणकी बाधा करै न कोय॥ ३९॥

जिनेन्द्र देवकी आराधनाके प्रभावसे अग्निकृत उपद्रव भी नष्ट हो जाता है। इस विषयमें कविवर कहते हैं—

"प्रलय पवनकर उठी आग जो तास पटन्तर।
वमै फुलिंग शिखा उतङ्ग पर जलै निरन्तर॥
जगत् समस्त निगलके भस्म कर देगी मानो।
तड़तड़ात दव-अनल जोर चहुँ दिशा उठानो॥
सो इक छिन में उपशमै, नाम नीर तुम लेत।
होय सरोवर परिनमें विकसित कमल समेत॥ ४०॥"

इससे समुद्र सम्बन्धी विपत्ति भी दूर हो जाती है। मानतुंग आचार्य भक्तिके रसमें तल्लीन हो कितने हृदय-स्पर्शी उद्गार व्यक्त करते हैं—

"अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्रपाठीनपीठभयदोल्वणवाडवाग्नौ।
रङ्गत्तरङ्ग-शिखर-स्थितयानपात्रास्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति॥"

इसे हेमराजजी इन शब्दोंमें उपस्थित करते है :—

"नक्र चक्र मगरादि मच्छ करि भय उपजावै।
जामें वड़वा-अग्नि दाहतैं नीर जलावै॥
पार न पावै जास थाह नहिं लहिए जाकी।
गरजै अति गंभीर लहरकी गिनती न ताकी॥
सुख सौ तिरै समुद्रको जे तुम गुन सुमराहि।
लोल कलोलनके शिखर, पार मान ले जाहिं॥ ४४॥"

मानतुंग मुनिवरने कितने सुन्दर सानुप्रास पद्य द्वारा जिनेन्द्रकी महिमा बताई है—

"नात्यद्भुतं भवनभूषण भूतनाथ, भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति॥ १०॥"

इस पद्यमें 'भकार'की एकादश वार आवृत्ति विशेष ध्यान देने योग्य है। हिन्दी अनुवादमें मूलके सौन्दर्यका प्रतिबिम्ब तो न आ सका। उसमें उसका भाव इस प्रकार बताया है—

"न हि अचंभ जो होहिं तुरन्त। तुमसे तुम गुण वरणत सन्त॥
जो अधनीको आप समान। करै न सो निन्दित धनवान॥"

कल्याणमन्दिरस्तोत्रमें कहा है—

"त्वं तारको जिन! कथं भविनां त एव त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नूनमन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः॥१०॥"

यहां कवि भगवान्से कहता है 'आप तारक नहीं हैं, क्योंकि मैं अपने चित्तमें आपको विराजमान कर स्वयं आपको तारता हूँ। इसी बातको बनारसीदासजी हिन्दी पद्यानुवादमें इस प्रकार समझाते हैं—

"तू भविजन तारक किमि होहि?
ते चित धारि तिरहिं ले तोहि॥
यह ऐसैं कर जान स्वभाव।
तिरहिं मसक ज्यों गर्भित वाव॥ १०॥"

इसका समाधान पद्यके उत्तरार्ध द्वारा करते हैं कि, जैसे पवनके प्रभावसे मशक जलमें तिरती है, उसी प्रकार आपके नामके प्रभावसे जीव तरता है।

एकीभावस्तोत्रमें जिनेन्द्रकी भक्ति-गङ्गाका बड़ा मनोहर चित्रण किया है। नयरूप हिमालयसे यह गङ्गा उदित हुई है और निर्वाण-सिन्धुमें मिल जाती है। वादिराज सूरि कहते हैं—

"प्रत्युत्पन्ना नयहिमगिरेरायता चामृताब्धेः
या देव त्वत्पद्कमलयोः संगता भक्तिगङ्गा।

चेतस्तस्यां मम रुचिवशादाप्लुतं क्षालितांहः
कल्माषं यद्भवति किमियं देव सन्देहभूमिः ॥ १८॥"

भूधरदासजी हिन्दी अनुवादमें इसे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

"स्याद्वाद-गिरि उपज मोक्ष सागर लौं धाई।
तुम चरणाम्बुज परस भक्ति-गंगा सुखदाई॥
मो चित निर्मल थयो न्होन रुचि पूरव तामैं।
अब वह हो न मलीन कौन जिन संशय यामैं?"

धनञ्जय महाकवि अपने विषापहारस्तोत्रमें युक्तिपूर्वक यह बात बताते हैं कि परिग्रहरहित जिनेन्द्रकी आराधनासे जो महान फल प्राप्त होता है, वह धनपति कुवेरसे भी नहीं मिलता है। जलरहित शैलराजसे ही विशाल नदियाँ प्रवाहित होती हैं। जलराशि समुद्रसे कभी भी कोई नदी नहीं निकलती। कविवर कहते हैं—

"तुङ्गात्फलं यत्तदकिञ्चनाच्च प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः।
निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रेर्नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः॥ १९ ॥"

इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—

"उच्च प्रकृति तुम नाथ संग किंचित् न धरन तैं।
जो प्रापति तुम थकी नांहि सो धनेसुरन तैं॥
उच्च प्रकृति जल बिना भूमिधर धुनी प्रकासै।
जलधि नीर तैं भर्यो नदी ना एक निकासै॥ १९॥"

महाकवि कहते हैं, जिनेन्द्र भगवान्‌की महत्ता स्वतःसिद्ध है, अन्य देवोंके दोषी कहे जानेसे उनमें पूज्यत्व नहीं आता। सागरकी विशालता स्वाभाविक है। सरोवरकी लघुताके कारण सागर महान् नहीं बनता। कितना भव्य तर्क है! वास्तविक बात भी है, एकमें दोष होनेसे दूसरेमें

निर्दोषत्व किस प्रकार प्रतिष्ठित किया जा सकता है ? कविकी वाणी कितनी रसवती है—[1]

"स नीरजा स्यादपरोघवान् वा तद्दोषकं.त्यैंव न ते गुणित्वम्।
स्वतोऽम्बुराशेर्महिमा न देव स्तोकापवादेन जलाशयस्य ॥"

—विषापहार ११।

कविवर वृन्दावन, मनरंगलाल, बख्तावर, रामचन्द्र आदिने चौबीस तीर्थङ्करोंकी पूजा द्वारा पवित्र भक्तिका प्रदर्शन किया है। भगवान् चंद्रप्रभ अष्टम तीर्थङ्करको वैराग्य प्राप्त हुआ है। वे अब मुनिपद स्वीकार कर रहे हैं। उन्हें.मुनि अवस्थामें चन्द्रपुरीमें महाराज चंद्रदत्तने दुग्धका आहार कराया था। भगवान् स्फटिककी शिलापर विराजमान हो तपोवनमें श्रेष्ठ ध्यानमें निमग्न हो गये थे। भगवान्का शरीर समन्तभद्राचार्यने 'चन्द्रमरीचिगौरम्' कहा है। इस शुभ्रताको सूचित करनेवाली साधन-सामग्रीने कवि वृन्दावनजीको कितनी मनोहर कल्पना-की प्रेरणा प्रदान की, यह सहृदय भक्तजन विचार सकते हैं। कवि कहते हैं—

"लखि कारण ह्वै जगतैं उदास। चिन्त्यो अनुप्रक्षा सुख निवास॥१॥
तित लौकान्तिक बोध्यो नियोग। हरि शिविका रुजि धरियो अभोग।
तापैं तुम चढ़ि जिन चन्दराय। ता छिनकी शोभा को कहाय॥२॥
जिन अंग सेत, सित चमर ढार। सित छत्र शीस गल गुलकहार।
सित रतन जड़ित भूषण विचित्र। सित चन्द्र चरण चरचैं पवित्र॥३॥

१ 'पापवान वा पुण्यवान सो देव बतावै।
तिनके औगुन कहै, नांहि तू गुणी कहावै।
निज सुभावतैं अम्बुराशि निज महिमा पावै।
स्तोक सरोवर कहे कहा उपमा बढ़ि जावै॥'

सित तन-द्युति नाकाधीश आप। सित शिविका कांधे धरि सुचाप।
सित सुजस सुरेश नरेश सर्व। सित चितमें चिन्तत जात पर्व ॥७॥
सित चन्द्रनगर तैं निकसि नाथ। सित वनमें पहुँचे सकल साथ।
सित शिलाशिरोमणि स्वच्छ छाँह। सित तप तित धार्यो तुम जिनाहं ॥८॥
सित पयको पारण परम सार। सित चन्द्रदत्त दीनो उदार।
सित करमें सो पय धार देत। मानो बांधत भव-सिन्धु सेत ॥९॥
मानों सुपुण्य धारा प्रतच्छ। तित अचरज पन सुर किय ततच्छ।
फिर जाय गहन सित तप करन्त। सित केवल ज्योति जग्यो अनन्त ॥१०॥"

—वृन्दावन चौबीसी पूजा।

भगवान् शान्तिनाथ का स्तवन करते हुए कविकुलचूड़ामणि स्वामी समन्तभद्र शान्तिका लाभ कर शान्तिके नाथ बननेका मार्ग बताते हैं—

"स्वदोषशान्त्या विहितात्मशान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्।
भूयाद् भवक्लेशभयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः॥"

—बृ० स्वयंभू ८०।

"वे शान्तिनाथ भगवान् मेरे लिए शरण हैं, जिनने अपनी आत्मामें विद्यमान दोषोंका ध्वंस करके आत्म-शान्ति प्राप्त की है, जो शरणमें आने वाले जीवोंको शान्ति प्रदान करते हैं। वे शान्तिनाथ भगवान् संसारके संकट तथा भीतिकी उपशान्ति करें।"

कितनी सुन्दर बात आचार्य महाराजने बताई है, कि यथार्थ शान्तिकी उद्भूति आत्मनिर्मलता द्वारा प्राप्तव्य है। वह शान्ति बाहरी वस्तु नहीं है। प्रकाण्ड तार्किक होते हुए भी स्वामी समन्तभद्रकी कवितामें मधुरता तथा सरसताका अपूर्व सम्मिश्रण पाया जाता है। महाकवि हरिचन्द्र अपने धर्मशर्माभ्युदयमें कहते हैं—

"वाणी भवेत् कस्यचिदेव पुण्यैः शब्दार्थसन्दर्भविशेषगर्भा।
इन्दुं विनाऽन्यस्य न दृश्यते द्युत् तमोधुनाना च सुधाधुनी च॥" १,१६

शब्द तथा भावकी रचनाविशेषसे समन्वित वाणी पुण्योदयसे किसी विरले भाग्यशाली पुण्यात्माको प्राप्त होती है। अन्धेरेको दूर करने वाली तथा अमृतके निर्झरसे समन्वित (शीतल तथा शान्ति प्रदान करने वाली) ज्योति चंद्रके सिवाय अन्यत्र नहीं पाई जाती।

भगवान् महावीरकी तर्कशैलीसे अभिवन्दना करते हुए स्वामी समन्तभद्र कहते हैं—'भगवन्! आपके शासनके प्रति तीव्र विद्वेष भाव धारण करने वाला भी यदि विचारक दृष्टि तथा मध्यस्थ भाव संपन्न हो आपके शासनकी परीक्षा करे, तो उसके एकान्त पक्ष-अभिनिवेशरूप सींग खण्डित हो जावेंगे अर्थात् वह एकान्त पक्षका अभिमान छोड़ेगा और वह अभद्र (मिथ्यात्वी) होते हुए भी आपके शासनका श्रद्धालु हो समन्तभद्र (सम्यग्दृष्टि) हो जायगा।' 'अभद्र भी समन्तभद्र होगा' यदि वह समदृष्टि तथा उपपत्ति चक्षु-विचारक दृष्टि संपन्न हुआ। कितने युक्ति, प्राण तथा सत्यसमर्थित शब्द हैं।

"कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम्।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमानशृंगो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः॥"

—युक्त्यनुशासन ६३।

'प्रचेतस' नामक दिगम्बर मुनिराजकी महिमाको महाकवि हरिचन्द्र कितनी विलक्षण एवं विचक्षण-प्रिय पद्धतिसे प्रकाशित करते हुए कहते हैं—

"युष्मत्पदप्रयोगेण पुरुषः स्याद्यदुत्तमः।
अर्थोयं सर्वथा नाथ लक्षणस्याप्यगोचरः॥"

—ध० शर्मा० ३, ५३।

युष्मत्—'पद'—आपके चरणारविन्दके प्रसादसे 'पुरुष उत्तम' हो जाता है। युष्मत् 'पदके' प्रयोगसे 'उत्तम पुरुष' बनानेकी विशेषता आपमें है। यह बात व्याकरण शास्त्रकी परिधिके भी बाह्य है। व्याकरण शास्त्र तो 'युष्मत् पदके' प्रयोगसे मध्यम पुरुषको बताता है। यहाँ कविने 'युष्मत् पद' और 'पुरुषः स्याद्युत्तमः' शब्दों द्वारा रचनामें एक नवीन जीवन डाल दिया।

प्रायः सभी विद्वान् विधाताको इसलिए उलहना देते हैं, कि उसने खलराजके निर्माण करनेकी अज्ञ-चेष्टा क्यों की? महाकवि हरिचंद्र विधाताके अपवादको अपनी कल्पना-चातुरी द्वारा निवारण करते हैं। वे कहते हैं कि विधाताको विशेष प्रयत्न द्वारा खल जगत्का निर्माण करना पड़ा। इससे सत्पुरुषोंका महान् उपकार हुआ। बताओ सूर्यकी महिमा अन्धकारके अभावमें और मणिकी विशेषता काँचके असद्भावमें क्या प्रकाशित होती? कवि कहते हैं—

"खलं विधात्रा सृजता प्रयत्नात्, किं सज्जनस्योपकृतं न तेन।
ऋते तमांसि द्युमणिर्मणिर्वा, विना न काचैः स्वगुणं व्यनक्ति॥"

—ध० श० १।२२

दुनिया कहती है 'खलका' कोई उपयोग नहीं होता, किन्तु महाकवि 'खल' शब्दके विशिष्ट अर्थ पर दृष्टि डालते हुए उसे महोपयोगी कहते हैं—

"अहो खलस्यापि महोपयोगः स्नेहद्रुहो यत्परिशीलनेन।
आकर्णमापूरितमात्रमेताः क्षीरं क्षरन्त्यक्षतमेव गावः॥"

—ध० श० १, २६

आश्चर्य है, खलका (खलीका) महान् उपयोग होता है। खल स्नेह-द्रोही-प्रेम रहित (खली स्नेह-तैल रहित होती) होता है। इस

खल-(खली) का प्रसाद है, जो गाएँ पूर्णपात्र पर्यन्त लगातार क्षीररस प्रदान करती हैं। कविने 'खलमें' दुर्जनके सिवाय खलीका अर्थ सोचकर कितनी सत्य और सुन्दर बात रच डाली। इस प्रकारका विचित्र जादू हरिचन्द्रकी रचनामें पद पदपर परिदृश्यमान होता है।

तार्किक पुरुष जब काव्य-निर्माणमें प्रवृत्ति करते हैं तब किन्हीं बिरलोंको मनोहारिणी, स्निग्ध रचना करनेका सौभाग्य होता है। स्वामी समन्तभद्रसदृश दार्शनिकता, तार्किकता और कवित्वका मनोहर सम्मिश्रण बड़े पुण्यसे प्राप्त होता है। आचार्य सोमदेवने जीवनभर तर्कशास्त्रका अभ्यास किया और पश्चात् यशस्तिलकचम्पू-जैसी श्रेष्ठ रचना प्रारम्भ की, तब यह शंका हुई कि भला शुष्क तार्किक क्या काव्य बनाएगा? इसके समाधानमें सोमदेव सूरि लिखते हैं—

"आजन्म-समभ्यस्तात्, शुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्याः।
मतिसुरभेरभवदिदं सूक्तिपयः सुकृतिनां पुण्यैः॥"

—यश० ति० १-१७।

मैंने जीवनभर अपनी बुद्धिरूपी कामधेनुको शुष्क तर्करूप तृण खिलाया है। सत्पुरुषोंके पुण्यसे उससे यह सूक्तिरूप दुग्धकी उद्भूति हुई है।

इस बुद्धिरूप कामधेनुने यशस्तिलकचम्पू नामक विश्ववन्दनीय अनुपम रचना सोमदेव जैसे तार्किकसे प्राप्त करा दी।

तार्किक प्रभाचन्द्रकी कल्पनामें भी जीवन है। दुष्टोंके उपद्रवसे सत्पुरुषोंकी कृतिपर सदा पानी फिर जाया करता है। अतः कहीं सज्जन लोग अपने पुण्यकार्यसे विरत न हो जावें इससे प्रभाचन्द्र प्रेरणा करते हुए कहते हैं—ज्ञानवान् पुरुष दुर्जनोंके घिरावके कारण उद्विग्न होकर अपने आरब्धकार्यको नहीं छोड़ देते हैं, किन्तु वे उस दुर्जनसे स्पर्धा

करते हैं। चंद्र सदा कमलके विकासको दूर कर उसे मुकुलित किया करता है, किन्तु इसका सूर्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; वह पुनः पुनः प्रतिदिन पद्म-विकासनकार्यको किया करता है। कितनी सुन्दर शैली से सत्पुरुषोंको साहस प्रदान करते हुए सन्मार्गमें लगे रहनेकी प्रेरणा की है—

"त्यजति न विद्धानः कार्यमुद्भिज्य धीमान्।
खलजनपरिवृत्तैः स्पर्धते किन्तु तेन॥
किमु न वितनुतेऽर्कः पद्मबोधं प्रबुद्धः।
तदपहृतिविधायी शीतरश्मिर्यदीह॥"

—प्रमेयक० पृ० २।

सुभाषित एवं उज्ज्वल शिक्षाओंकी दिशामें जैनवाङ्मयसे भी बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होती है। क्षत्रचूड़ामणि काव्य ग्रंथमें प्रत्येक पद्य सुन्दर सूक्तिसे अलंकृत है। ग्रन्थकारकी कुछ शिक्षाएँ बहुत उपयोगी हैं। वे कहते हैं—

"विपदस्तु प्रतीकारो निर्भयत्वं न शोकिता।" ३, १७।

—विपत्तिको दूर करनेका उपाय निर्भीकता है; शोक करना नहीं। कोई कोई व्यक्ति वस्तुध्वंसकर्ता की शक्ति और बुद्धिकी प्रशंसा करते हैं, और निर्माताको अल्पश्रेय प्रदान करते हैं, उनके भ्रमका निवारण करते हुए कवि कहते हैं—

"न हि शक्यं पदार्थानां भावनं च विनाशवत्।" २, ४६।

—वस्तुको नष्ट कर देना—कार्यको बिगाड़ देना जैसा सरल है, वैसा उस कार्यको बनाना सरल नहीं है।

संसार-समुद्रमें विपत्तिरूपी मगरादि विद्यमान हैं। उस समुद्रमें

गोता लगानेवाला मृत्युके मुखमें प्रवेश करता है। समुद्रके तीर पर ही रहनेवालोंकी भलाई है। कवि कहते हैं—

"तीरस्थाः खलु जीवन्ति, न हि रागाब्धिगाहिनः।" ८, १।

यहाँ तटस्थवृत्तिको कल्याणकारी बताया है। नम्रता तथा सौजन्यका प्रदर्शन सत्पुरुषोंके हृदयपर ही प्रभाव डालता है, दुष्ट व्यक्ति तो नम्रताको दुर्बलताका प्रतीक समझ और अधिक अभिमानको धारण करता है—

"सतां हि नम्रता शान्त्यै खलानां दर्पकारणम्।" ५, १२।

गरीबीके कारण कीर्तियोग्य भी गुण प्रकाशमें नहीं आते। अकिंचन की विद्या भी उचितरूपमें शोभित नहीं हो पाती।

"रिक्तस्य हि न जागर्ति कीर्तनीयोऽखिलो गुणः।
हन्त किं तेन विद्यापि विद्यमाना न शोभते॥" ३, ७।

—साधारणतया मनोवृत्ति अकृत्य की ओर झुकती है, यदि खोटी शिक्षा और मिल जाय, तो फिर क्या कहना है—

"प्रकृत्या स्यादकृत्ये धीर्दुःशिक्षायां तु किं पुनः॥" ३, ४०।

ईर्ष्या, मात्सर्यके द्वारा अवर्णनीय क्षति होती है। भारतवर्षके अधःपातमें शासकोंका पारस्परिक मात्सर्यभाव विशेष कारण रहा है। कविवर कहते हैं—

"मात्सर्यात् किं न नश्यति।" ४, १७।

शिष्ट जन परस्पर सम्मिलनके अवसरपर पारस्परिक कुशलताकी चर्चा करते हैं। इस सम्बन्धमें भूधरदासजी कहते हैं—

"जोई दिन कटै सोई आव मैं अवश्य घटै,
बूँद बूँद रीतै जैसे अंजुली कौ जल है।

देह नित छीन होत, नैन तेजहीन होत,
जोवन मलीन होत, छीन होत बल है॥
आवै जरा नेरी, तकै अंतक-अहेरी आवै,
परभौ नजीक जात नरभौ विफल है।
मिलकै मिलापी जन पूछत हैं कुशल मेरी,
ऐसी दशा माहीं मित्र! काहे की कुशल है?"

—जैनशतक ३७।

'धनादिका लाभ होनेपर अपने स्वास्थ्य आदिकी उपेक्षा करते हुए लोग आनन्दित होते हैं; कुशल-क्षेम समझते हैं। जीवन्धरचम्पूमें हरिचन्द्र कवि कहते हैं—असि कृषि शिल्पवाणिज्य आदि षट् कर्मोंके द्वारा सच्ची कुशलता-क्षेम वृत्ति नहीं मिलती है। उसके द्वारा अनेक प्रकारकी लालसा-लता विस्तृत होती है। सच्ची कुशलता निर्वाणमें है। आत्मस्वरूप अनन्त आनन्दमें कुशलता है। वह आत्माके ही द्वारा साध्य है।

कितना भावपूर्ण पद्य है—

"कुशलं न हि कर्मषट्कजातं विविधाशा-व्रतति-प्ररोहकन्दम्।
अपवर्गजमात्मसाध्यमाहुः कुशलं सौख्यमनन्तमात्मरूपम्॥"

सोमदेवसूरि बुढ़ापेके कारण धवल हुए केशोंके विषयमें बताते हैं—'ये केश तुम्हें तपश्चर्याका पाठ पढ़ाने आये हैं। ये मुक्तिलक्ष्मीके दर्शनके झरोखेके मार्गतुल्य हैं। चतुर्थ पुरुषार्थ (मोक्ष) रूपी वृक्षके अंकुर समान हैं। परमकल्याणरूप निर्वाणके आनन्दरसके आगमनद्योतक अग्रदूत हैं।' आचार्यने इन केशोंमें कितनी विलक्षण तथा पवित्र कल्पना की है और शिक्षा भी दी है—

"मुक्तिश्रियः प्रणयवीक्षणजालमार्गाः।
पुंसां चतुर्थपुरुषार्थतरुप्ररोहाः॥
निःश्रेयसामृतरसागमनाग्रदूताः।
शुक्लाः कचा ननु तपश्चरणोपदेशाः॥"

—यशस्ति० २, १०४, पृ० २५५।

लोकविद्या अथवा व्यवहारकुशलताके बारेमें वे कहते हैं—

"लोकव्यवहारज्ञो हि सर्वज्ञोऽन्यस्तु प्राज्ञोऽप्यवज्ञायते एव।" ६५, १८४

लोकव्यवहारका ज्ञाता सर्वज्ञ सदृश माना जाता है। अन्य व्यक्ति महान ज्ञानी होते हुए भी तिरस्कृत होता है।

आचार्य कहते हैं—

"उत्तापकत्वं हि सर्वकार्येषु सिद्धीनां प्रथमोऽन्तरायः॥"

संपूर्ण कार्योंकी सफलतामें आद्य विघ्न है शान्तताका अभाव, अर्थात् मिजाजका गरम हो जाना।

संसारमें शत्रुओंकी वृद्धि करनेकी औषधि अन्यकी निन्दा करना है—

"न परपरिवादात्परं सर्वविद्वेषणभेषजमस्ति॥" १२, १७७

वाणीकी कठोरता शस्त्रप्रहारसे भी अधिक भीषण होती है। कहते हैं—

"वाक्पारुष्यं शस्त्रपातादपि विशिष्यते।" २७, १७६

प्रिय वाणीवाला मयूर जैसे सर्पों का उच्छेद करता है, उसी प्रकार मधुरभाषी नरेश शत्रुका विनाश करता है।

"प्रियंवदः शिखीव द्विषत्सर्पानुच्छादयति॥" १२८, १४४

शस्त्रोपजीवियोंके विषयमें आचार्य कहते हैं—

"शस्त्रोपजीविनां कलहमन्तरेण भक्तमपि भुक्तं न जीर्यति।" १०३, १३७

शस्त्रद्वारा जीविका करनेवालोंका कलहके बिना खाया हुआ अन्न तक हजम नहीं होता है।

"चिकित्सागम इव दोष-विशुद्धिहेतुर्दण्डः।" १, १०२

जैसे वैद्यकशास्त्र शरीरके विकारोंको दूर करता है, उसी प्रकार दण्ड द्वारा दोषोंका भी अभाव होता है। भगवज्जिनसेन भी कहते हैं—

"दण्डभीत्या हि लोकोयमपथं नानुधावति।
युक्तदण्डकरस्तस्मात् पार्थिवः पृथिवीं जयेत्॥"

—महापुराण १६, २५३।

यह दण्डका ही भय है, जो लोग अमार्गमें नहीं जाते। इससे उचित दण्ड व्यवस्था करने वाला नरेश पृथ्वीपर विजय प्राप्त करे।

युगके आदिमें क्षत्रिय वर्णकी व्यवस्था करते समय भगवान् ऋषभदेव ने दण्डधारी नरेशोंकी अनुमोदना की, कारण इसके ही अधीनोंके वषियमें योग और क्षेमका अनुचिंतन है।

"ततो दण्डधरानेतान् अनुमेने नृपान् प्रभुः।
तदायत्तं हि लोकस्य योगक्षेमानुचिन्तनम्॥"

—महापु० १६, २५५।

आचार्य सोमदेवका कथन है—

"अपराधकारिषु प्रशमः यतीनां भूषणं न महीपतीनाम्॥"

—नी० वा० ३७, पृ० ७८।

अपराधी व्यक्तियोंके प्रति शान्त व्यवहार साधुओंके लिए अलंकार रूप है, नरेशोंके लिए नहीं। शासन-व्यवस्थाके लिए अपराधीको उचित दण्ड देना चाहिये। महाराज पृथ्वीराजने मुहम्मदगोरीको पुनः पुनः

छोड़नेमें भूल की। यह सूत्र बताता है कि यतिका धर्म भूपतिने स्वीकार करके जो अकर्तव्यतत्परता दिखाई, उससे पृथ्वीराजको दुर्दिन दिखे और देशकी संस्कृतिको अभिभूत होनेका अवसर आया।

राजद्रोहियों अथवा दुष्टोंका तनिक भी विश्वास नहीं करना चाहिये। कारण—

"अग्निरिव स्वाश्रयमेव दहन्ति दुर्जनाः।"

—नी० वा०।

आचार्य कितने महत्त्वकी शिक्षा देते हैं—

"न महताप्युपकारेण चित्तस्य तथानुरागो यथा विरागो भवत्यल्पेनाप्यपकारेण"

महान् उपकार करनेसे चित्तमें उतना अनुराग नहीं होता, जितना विराग अल्प भी अपकार या क्षति पहुँचनेसे होता है। सोमदेव सूरिका कथन है कि प्राणघातकी अपेक्षा कीर्तिका लोप करना अधिक दोषपूर्ण है—

"यशोवधः प्राणिवधाद् गरीयान्।"

—यशस्तिलक।

भगवज्जिनसेन बाहुबलि स्वामीके द्वारा युद्धमें तत्पर भरतेश्वरके दूतसे युद्धके लिए अपनी उत्कण्ठा व्यक्त करते हुए कहते हैं—

"कलेवरमिदं त्याज्यम् अर्जनीयं यशोधनम्।
जयश्रीर्विजये लभ्या नाल्पोदर्को रणोत्सवः॥"

—महापु० पर्व ३५, १४४।

यह शरीर तो त्याज्य है। यदि मृत्यु होती है तो कोई भयकी बात नहीं है, यशोधनकी प्राप्ति तो होगी। यदि विजय हुई, तो जयश्री प्राप्त होगी। इस प्रकार यह रणोत्सव महान् परिणामवाला है।

स्वाधीनताके विषयमें वादीभसिंहसूरिका कथन चिरस्मणीय है—

"जीवितात्तु पराधीनात्, जीवानां मरणं वरम्।"[१]

—क्षत्रचू० १, ४०।

पांडित्यप्रदर्शनके क्षेत्रमें भी जैन ग्रन्थकारोंने अपूर्व कार्य किया है। महाकवि धनंजयकी राघवपांडवीय-द्विसंधान अनुपम पाण्डित्यपूर्ण कृति है। प्रत्येक श्लोकमें श्लिष्टार्थके बलपर रामायण और महाभारतकी कथा वर्णित की गई है। रचना अत्यन्त मधुर, सरस तथा कवित्वपूर्ण है। सप्तसंधान काव्यमें भगवान ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर, राम तथा कृष्ण इन ७ महापुरुषोंका चरित्र निबद्ध है। प्रत्येक श्लोकके सात सात अर्थ पाये जाते हैं। इसी प्रकार २४ तीर्थंकरोंके चरित्रयुक्त चतुर्विंशतिसंधान नामका काव्य है। स्वामी समन्तभद्रके स्तोत्रकाव्य जिनशतक एकाक्षरी द्व्यक्षरी आदि चित्रालंकारभूषित अपूर्व रचना है जो रचनाकारके भाषापर अप्रतिम अधिकारको सूचित करता है। एक जैन आचार्यने चित्रालंकारका उदाहरण देते हुए एक पद्य बनाया है, जिसका मर्म बड़े बड़े पांडित्यके अभिमानी अबतक न जान सके। वह पद्य यह है—

"का ख गो घ ङ चच्छौ जो झ टाठडढणतु।
था द धन्य प फ ब भा मा या रा ला व श ष सः॥"

भागचंद, दौलतराम, भूधरदास, द्यानतराय आदि कवियोंने अपने भक्ति तथा रसपूर्ण भजनोंके द्वारा ऐसी सुन्दर सामग्री दी है, कि एक ही पद्यके पढ़नेसे साधककी आत्मा आनंदित हो उठती है। इस अवसर-पर हमें भूधरदासजीका भजन स्मरण आता है, जिसमें कविजीवनकी चरखेसे तुलना की है। कितना मार्मिक भजन है यह—

---

१ लोके पराधीनं जीवितं विनिन्दितम्। निजबलविभवसमार्जितमृगेन्द्रपदसंभावितस्य मृगेन्द्रस्येव स्वतंत्रजीवनमविनिन्दितमभिवन्दितमनवद्यमतिहृद्यमिति।—जी० च० का०।

(१)

"चरखा चलता नाहीं, चरखा हुआ पुराना ॥टेक॥
पग-खूँटे द्वय हालन लागे, उर मदरा खखराना ॥
छीदी हुई पांखड़ी पसली, फिरै नहीं मनमाना ॥ १ ॥
रसना तकलीने बल खाया, सो अब कैसे खूटै।
सबद-सूत सूधा नहिं निकसै, घड़ी घड़ी फल टूटै ॥ २ ॥
आयु-मालका नहीं भरोसा, अंग चलाचल सारे।
रोग इलाज मरम्मत चाहै, वैद वाढ़ई हारें ॥ ३ ॥
नया चरखला रंगा चंगा, सबका चित्त चुरावै।
पलटा बरन गए गुन अगले, अब देखै नहिं भावै ॥ ४ ॥
मौटा नाहीं कातकर भाई, कर अपना सुरझेरा।
अन्त आगमें ईंधन होगा, 'भूधर' समझ सबेरा ॥ ५ ॥

× × ×

आत्माको सवार मानकर उसे सावधान करते हुए कहते हैं, शरीर-रूपी घोड़ा बड़ा दुष्ट है, इसे सम्हलकर रखो, अन्यथा यह धोखा देगा। विनय विजयजी कहते हैं—

(२)

"घोरा झूठा है रे, मत भूलै असवारा।
तोहि मुधा ये लागते प्यारा, अन्त होयगा न्यारा ॥ घोरा झूठा० ॥
चरै चीज़ अरु डरै कैदसौं, ऊवट चले अटारा।
जीन कसै तब सोया चाहै, खानेकौं होशियारा ॥ २ ॥
खूब खजाना खरच खिलाओ, द्यो सब न्यामत चारा।
असवारो का अवसर आवै। गलिया होय गँवारा ॥ ३ ॥

छिनु ताता छिनु प्यासा होवे। सेव करावन हारा।
दौर दूर जंगलमें डारै, झूरै धनी विचारा ॥ ४ ॥
करहु चौकड़ा चातुर चौकस, द्यो चाबुक दो चारा।
इस घोरेंको 'विनय' सिखावो, ज्यौं पावो सब पारा ॥ ५ ॥

× × ×

बनारसीदासजी इस पदमें कितने पवित्र भावोंको प्रगट करते हैं—

(३)

"दुविधा कब जैहै या मन की। दु० ॥
कब निजनाथ निरंजन सुमिरौं, तज सेवा जन जन की। दु० ॥१॥
कब रुचि सौं पीवै दृगचातक, बूँद अखय पद घन कीं।
कब शुभ ध्यान धरौं समता गहि, करूं न ममता तनकी ॥ २ ॥
कब घट अन्तर रहै निरन्तर, दिढ़ता सुगुरु वचनकी।
कब सुख लहौं भेद परमारथ, मिटै धारना धनकी ॥ ३ ॥
कब घर छाँड़ि होहु एकाकी, लिये लालसा बनकी।
ऐसीं दशा होय कब मेरी, हौं बलि बलि वा छनकी ॥ ४ ॥

× × ×

अजर-अमर-पदकी हृदयसे आकांक्षा करने वाला साधक यही प्राणपूर्ण चिंतन करता है, कि अब मेरी अविद्या दूर हो गई। जिन-शासनके प्रसादसे सम्यक्ज्ञानज्योति प्राप्त हो गई। अब मैंने अपने अनंत-शक्ति, ज्ञान तथा आनन्दके अक्षय भंडाररूप आत्मतत्त्वको पहचान लिया, अतः शरीरके नष्ट होते हुए भी मैं अमर ही रहूँगा। कितना उद्बोधक तथा शान्तिप्रद यह पद्य है—

(४)

"अब हम अमर भए न मरेंगे।
या कारन मिथ्यात दियो तज, क्यों कर देह धरेंगे॥ टेक॥
रागद्वेष जग बन्ध करत हैं, इनको नाश करेंगे।
मरथौ अनन्त काल तें प्राणी, सो हम काल हरेंगे॥ १॥
देह विनासी हों अविनासी, अपनी गति पकरेंगे।
नासी नासी हम थिरवासी, चोखे ह्वो निखरेंगे॥ २॥
मरयो अनन्तवार बिन समझौ, अब दुःख-सुख विसरेंगे।
'आनन्दघन' 'जिन' ये दो अक्षर, नहिं सुमरें सो मरंगे॥३॥"[१]

इस प्रकार जैनवाङ्मयका परिशीलन और मनन करने पर अत्यन्त दीप्तिमान् तत्त्व-रूप निधियोंकी प्राप्ति होगी। तार्किक अकलंक जैन-वाङ्मयरूप समुद्रको ही विश्वके रत्नोंका आकर मानते हैं। आज अज्ञान, पक्षपात, प्रमाद आदिके कारण विश्व इन रत्नोंके प्रकाशसे वंचित रहा। आशा है कि अब सुज्ञजन सद्विचारोंकी खानि जैनवाङ्मयका स्वाध्याय करेंगे। आत्मसाधनाकी अगाध सामग्री जैनशास्त्रोंमें विद्यमान है। इस वाङ्मयका सम्यक् अनुशीलन करनेवाले भगवती भारतीकी सदा अभिवंदना करते हुए हृदयसे कहेंगे—

"तिलोयहिं मंडण धम्मह खाणि। सया पणमामि जिणिंदहवाणि॥"

---

१ यह भजन गांधीजीकी भजनावलिमें भी संग्रहीत किया गया है।

विश्वसमस्याएँ और जैनधर्म

आज यन्त्रवाद (Industrial Revolution) के फलस्वरूप विश्वमें अनेक अघटित घटनाओं और विचित्र परिस्थितियोंका उदय हुआ है। उसके कारण उत्पन्न हुई विपत्तियोंसे व्यथित अन्तःकरण विश्व-शान्ति तथा अभिवृद्धि निमित्त धर्मका द्वार खटखटाता है और कहता है कि हमें उच्च तत्त्वज्ञान और गंभीर अनुभवपूर्ण दार्शनिक चिन्तनाओं वाले धर्मको अभी उतनी जरूरत नहीं है, जितनी उस विद्याकी, जो कलह, विद्वेष, अशान्ति, उत्पीड़न आदि विपत्तियोंसे बचाकर कल्याणका मार्ग बतावे। जो धर्म मर्दुमशुमारीकी विशिष्ट वृद्धिके आधारपर अपनी महत्ता और प्रचारको गौरवका कारण बताते हैं, उनके आराधकोंकी बहुसंख्या होते हुए भी अशान्तिका दौरदौरा देख विचारक व्यक्ति उन धर्मोंसे प्रकाश पानेकी कामना करता है, जिसकी आधारशिला प्रेम और शान्ति रही है, और जिसकी वृद्धिके युगमें दुनियाका चरित्र सुवर्णाक्षरोंमें लिखने लायक रहा है। ऐसे जिज्ञासु विश्वकी वर्तमान समस्याओंके बारेमें जैनशासनसे प्रकाश प्राप्त करना चाहते हैं। अतः आवश्यक है कि इस सम्बन्धमें जैन तीर्थङ्करोंका उज्ज्वल अनुभव तथा शिक्षण प्रकाशमें लाया जाय।

धर्म सर्वाङ्गीण अभ्युदय तथा शान्तिका विश्वास प्रदान करता है, अतः मानना होगा, कि प्रस्तुत समस्याओंकी गुत्थी सुलझानेकी सामर्थ्य धर्ममें अवश्य विद्यमान है। इतिहास इस बातको प्रमाणित करता है, कि चन्द्रगुप्त मौर्यसदृश जैन-नरेशोंके शासनमें प्रजाका जीवन पवित्र

था। वह पापसे अलिप्त-प्राय रहती थी। वह समृद्धिके शिखरपर समासीन थी। वर्तमान युगमें भी इस वैज्ञानिक धर्मके प्रकाशमें जो लोग अपनी जीवन-चर्या व्यतीत करते हैं, वे अन्य समाजोंकी अपेक्षा अधिक समृद्ध, सुखी तथा समुन्नत हैं। यह बात भारत सरकारका रेकार्ड बतायगा, जिसके आधारपर एक उत्तरदायी सरकारी कर्मचारीने कहा था कि—"फौजदारीका अपराध करनेवालोंमें जैनियोंकी संख्या प्रायः शून्य है।"

आज लोगों तथा राष्ट्रोंका झुकाव स्वार्थपोषणकी ओर एकान्ततया हो गया है। 'समर्थको ही जीनेका अधिकार है, दुर्बलोंको मृत्युकी गोदमें सदाके लिए सो जाना चाहिए', यह है इस युगकी आवाज़। इसे ध्यानमें रखते हुए शक्ति तथा प्रभाव सम्पादनके लिए उचित-अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्यका तनिक भी विवेक बिना किए बल या छलके द्वारा राष्ट्र कथित उन्नतिकी दौड़के लिए तैयारी करते हैं। हम ही सबसे आगे रहें, दूसरे चाहे जहाँ जावें, इस प्रतिस्पर्धा (नहीं नहीं, ईर्ष्यापूर्ण दृष्टि) के कारण उच्च सिद्धान्तोंकी वे उसी प्रकार घोषणा करते हैं, जैसे पंचतंत्रका वृद्ध व्याघ्र अपनेको बड़ा भारी अहिंसाव्रती बता प्रत्येक पथिकसे कहता था, 'इदं सुवर्णकङ्कणं गृह्यताम्'। जिस प्रकार एक गरीब ब्राह्मण व्याघ्रके स्वरूपको भुला चक्करमें आ प्राणोंसे हाथ धो बैठा था, वैसे ही उच्च सिद्धान्तोंकी घोषणा करने वालोंके फन्देमें लोग फँस जाते हैं, और अकथनीय विपत्तियोंको उठाते हैं। आश्रितोंका शोषण, अपनी श्रेष्ठताका अहंकार, घृणा, तीव्र प्रतिहिंसाकी भावना आदि बातें आजके प्रगतिगामी या उन्नतिशील राष्ट्रोंके जीवनका आधार है। पारस्परिक सच्ची सहानुभूति, सहयोग, सेवा आदि बातें प्रायः वाचनिक आश्वासनका विषय बन रही हैं। सर्वभक्षी भौतिकवादका अधिक

विकास होनेके कारण पहले तो इनकी आँखें विज्ञानके चमत्कारके आगे चकाचौंध युक्त-सी हो गई थीं, किन्तु एक नहीं, दो महायुद्धोंने विज्ञान-का उन्नत मस्तक नीचा कर दिया। जिस बुद्धिवैभवपर पहले गर्व किया जाता था, आज वह लज्जाका कारण बन गई। अणुबम (atom bomb) नामकी वस्तु इस प्रगतिशील विज्ञानकी अद्भुत देन है, जिसने अल्पकालमें लाखों जापानियोंको स्वाहा कर दिया। लाखों बच्चे, स्त्री, असमर्थ पशु, पक्षी, जलचर आदि अमेरिकाकी राजकीय महत्त्वाकांक्षा-की पुष्टिकी लालसानिमित्त क्षणभरमें अपना जीवन खो बैठे। कितना बड़ा अन्धेर है! कुछ जननायकोंके चित्तको संतुष्ट करनेके लिए अन्य देश, अथवा राष्ट्रके बच्चों, महिलाओं आदिके जीवनका कोई भी मूल्य नहीं है। वे क्षणमात्रमें मौतके घाट उतार दिए जाते हैं। यह कृत्य अत्यन्त सभ्योंके द्वारा संपादित किया जाता है!

सम्राट् अशोकने अपनी कलिङ्गविजयमें जब लाखसे ऊपर मनुष्यों-की मृत्युका भीषण दृश्य देखा, तो उस चण्डाशोककी आत्मामें अनुकम्पा-का उदय हुआ। उस दिनसे उसने जगत् भरमें अहिंसा, प्रेम, सेवा आदि के उज्ज्वल भाव उत्पन्न करनेमें अपना और अपने विशाल साम्राज्यकी शक्तिका उपयोग किया; किन्तु आजकी कथा निराली है। होरेशिमा द्वीप-में विपुल जन-संहार होते हुए भी अमेरिकाकी आँखोंका खून नहीं उतरा और न वहाँ पश्चात्तापका ही उदय हुआ। पश्चात्ताप हो भी क्यों, किसके लिए? आत्मा है क्या चीज़? जबतक श्वास है, तब तक ही जीवन है। जो अपने रंग तथा राष्ट्रीयताके हैं, उनका ही जीवन मूल्यवान् है; दूसरों-का जीवन तो घासपातके समान है। यह तत्त्वज्ञान कहो, या इस नशेके कारण बड़े राष्ट्र मानवताके मूल तत्त्वोंका तनिक भी आदर करनेको तैयार नहीं होते। जहाँ तक विवाद (debate) का प्रसंग

है, वे मानवता, करुणा, विश्वप्रेमकी ऐसी मोहक चर्चा करेंगे, और अपने कामोंमें इतनी नैतिकता दिखावेंगे, कि नीति-विज्ञानके आचार्य भी चकित होंगे, किन्तु अवसर पड़ने पर उनका आचरण उनके असली रूपको प्रकट कर देता है। रामायणमें वर्णित बकराजने पम्पा सरोवरके समीप रामचन्द्रजी सदृश महापुरुषको अपने चरित्रके बारेमें भ्रमाविष्ट कर दिया था, और वे उसे परम धार्मिक सोचने लगे थे। पीछे उनका भ्रम दूर हुआ था, इसी प्रकार आधिभौतिक विज्ञानके द्वारा जगत्की विचित्र अवस्था हुई है। महाकवि अकबरने बहुत ठीक कहा है—

"इल्मी तरक्कियोंसे ज़बां तो चमक गई।
लेकिन अमल हैं इनके फरेबो दग़ाके साथ॥"

प्रख्यात वैज्ञानिक प्रो० एम० पीलाइनने बृटिश एसोसिएशनके समक्ष दिए गए अपने एक भाषणमें यह बात स्वीकार की है, कि यूरोपमें 'उन लोगोंका नेतृत्व है, जो हमें यह बात सिखलाते हैं, कि केवल भौतिक पदार्थ ही सत्य हैं।' इन भौतिकवादियोंके द्वारा संचालित धार्मिक संस्थाओंमें भी प्रायः कृत्रिमता, स्वार्थपोषण, स्ववर्गका श्रेष्ठत्व-स्थापन, कूटप्रवृत्ति आदि विकृतियोंका विशेष सद्भाव पाया जाता है। वे प्रायः अपने सदृश कृत्रिम तथा कूटवृत्तिके धारकोंको उच्चताके आसन-पर समासीन करते हैं, किन्तु जिनसे यथार्थ प्रकाश प्राप्त होता है, उनको ये अन्धकारमें रखते हैं।

यन्त्रवादके विशेष प्रचारके कारण पहलेकी अपेक्षा वस्तुओंकी उत्पत्ति अधिक विपुल परिमाणमें हो गई है, किन्तु फिर भी इस समृद्धिके मध्य गरीबीका कष्ट (Poverty amid prosperity) बढ़ता ही जाता है। लाखों टन गेहूँ तथा अन्य बहुमूल्य खाद्य सामग्री अनेक देशोंमें इसलिए जला दी जाती है या नष्ट कर दी जाती है, कि बाजारका

निर्धारित भाव नीचे न खिसकने पावे और उनके विशेष उद्देश्यमें बाधा न आवे। विदेशोंकी बात जाने दो, बङ्गाल सरकारने लाखों बंगालियों-को दानेके कण-कणके लिए तरसाते हुए हाल ही मृत्युकी भेंट हो जाने दिया, किन्तु संगृहीत विपुल धान्यराशिका उपयोग नहीं होने दिया, भले ही हजारों मन धान्य सड़कर नष्ट हो गया। आजकी राजनीतिकी चाल ही ऐसी विचित्र है, कि उसके आगे अपने स्वार्थ तथा मान (Prestige) पोषणके सिवाय अन्य नैतिक तत्त्वोंका कोई स्थान नहीं है। हजरत मसीहने जो यह बताया है, कि 'This world is a bridge, pass thou over it, but build not upon it!' 'यह जगत् एक पुलके सदृश है। उसपर होकर तुम चले जाओ, इस-पर मकान मत बाँधो'—उसे विस्मृत करनेमें ही आजका यूरोप, अमेरिका अपनेको कृतार्थ मान रहा है। धनसंचय करना ही उसका एकमात्र कार्य है। यही उसका ईश्वर है, भगवान् है, परमात्मा है। धनके द्वारा शान्ति प्राप्त करना असम्भव है। महर्षि गुणभद्र कहते हैं—

"रे धनेन्धनसंभारं प्रक्षिप्याशाहुताशने।
ज्वलन्तं मन्यते भ्रान्तः शान्तं संधुक्षणे क्षणे॥"

—आत्मानुशासन ८५।

'अरे भाई! आशा-अग्निमें धनरूपी इन्धन डालकर जलनेके क्षण-में प्रदीप्त देखते हुए भ्रमवश तुम उसे शान्त हुआ समझते हो।'

भगवान् कुन्थुनाथने चक्रवर्तीके महान् साम्राज्यका परित्याग किया था, और वे विषय-सुखसे विमुख हुए थे। इस विषयमें स्वामी-समन्तभद्र बड़ी महत्त्वपूर्ण बात बताते हैं—

"तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा-
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव।

स्थित्यैव कायपरितापहरो निमित्त-
मित्यात्मवान्विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ॥"

—बृ० स्वयम्भू० ८२।

'तृष्णाग्नि जीवोंको सदा जलाती है। इन्द्रियोंके प्रिय भोगोंके द्वारा भोगोंकी शान्ति न होकर वृद्धि होती है। यह बात कुन्थुनाथ स्वामीने अनुभव द्वारा निश्चित की, तब उन्होंने शरीरके संतापका निवारण करनेके लिए विषय-सुखोंके प्रति उपेक्षावृत्ति अंगीकार की; कारण वे आत्मवान् थे। आजका आत्मविहीन पश्चिम तथा उसके प्रभावमें पड़े हुए अन्य देश भोग और विषयोंकी आराधना करनेमें मग्न हैं. इसकी पूर्तिके निमित्त उन्हें कोई भी पाप या अनर्थ करनेमें तनिक भी संकोच नहीं होता। अपने और अपनोंके आरामके लिए वे सारे संसारको भी दुःखके ज्वालामुखीमें भस्म होते देखकर आनन्दित रह सकते हैं। वे यह नहीं सोचते कि इस अन्धाराधनाका परिणाम कभी भी सुखद नहीं हुआ है। आत्माको संस्कृत बनाना (Soul Culture) उन्हें पसन्द नहीं है। उन्हें इसके लिए अवकाश नहीं है। स्व० रवीन्द्रनाथ ठाकुरने एक अमेरिकन से कहा था[1]—"आप लोगोंके पास अवकाश नहीं है। कदाचित् है भी, तो आप उसका उचित उपयोग करना नहीं जानते। अपने जीवनकी दौड़में तुम इस बातको सोचनेके लिए तनिक भी नहीं रुकते कि, तुम कहाँ और किस लिए जा रहे हो। इसका यह फल निकला, कि तुम्हारी

१ Rabindranath Tagore said to me, "You Americans have no leisure; or if you have, you know not how to use it. In the rush of your lives, you do not stop to consider, where you are rushing to, nor what is it all for. The result is that you have lost the vision of the Eternal."

Vide James Bisset Pratt-India & its Faiths p. 473.

उस सत्य-दर्शनकी शक्ति चली गई।"

कारलाईल जैसा विद्वान् कहता है "Know thyself"—"अपनी आत्माको जानो"के स्थानमें अब यह बात सीखो "Know thy work and do it"—अपने कामको जानो और उसे पूरा करो। अध्यात्मवादी यह कभी नहीं कहता है कि अपने कर्तव्यपालनमें प्रमाद करो। उसका यह कथन अवश्य है, कि शरीरके साथ आत्माकी भी सुधि लेते रहो। स्वामी (आत्मा) की चिन्ता न कर सेवक (शरीर) की गुलामीमें ही अपनी शक्तिका व्यय करना उचित नहीं है। अधिक कार्यव्यस्त व्यक्तिसे शान्त भावसे पूछो कि इस जबरदस्त दौड़धूपको कब तक करोगे? शान्तिपूर्वक जीवन क्यों नहीं बिताते? तो वह कहेगा, मुझे इसमें ही आनन्द मालूम पड़ता है। हाँ, यदि वह व्यक्ति अन्तःनिरीक्षण (Introspection) का अभ्यास रखे, तो वह यह स्वीकार करेगा, कि कोल्हूके बैलके समान जीवन विवेकी मानवके लिए गौरवकी वस्तु नहीं कहा जा सकता। गत नवम्बर मासमें गान्धीजीने अमेरिकाको एक महत्त्वपूर्ण सन्देश दिया था;—"वह (अमेरिका) धनको उसके सिंहासन या तख्तसे हटाकर ईश्वरके लिए थोड़ी जगह खाली करे।" गान्धीजीने यह भी कहा,—"मेरा ख़याल है कि अमेरिकाका भविष्य उजला है। लेकिन अगर वह धनकी ही पूजा करता रहा, तो उसका भविष्य काला है।" उनका यह वाक्य कितना सुन्दर है, "लोग चाहे जो कहें, धन आखिर तक किसीका सगा नहीं रहा। वह हमेशा बेवफा (बेईमान) दोस्त साबित हुआ है"—(हरिजन-सेवक १०-११-४६, ३९९)

विश्वशान्ति-स्थापनके विषयमें गंभीर विचार करते हुए श्री बैरिस्टर चंपतरायजीने अपनी पुस्तक "The Change of Heart,

(P. 57) में लिखा है, कि वास्तविक शान्तिकी कामना करनेवाले जिनशासनभक्त तथा अन्य अल्प व्यक्ति हैं। शान्तिभङ्ग करनेवाले अपरिमित संख्या वाले हैं। उनमेंसे एक वर्ग (१) उन धर्मान्धों (Fanatics) का है, जो सोचते हैं कि अपने रक्तपातपूर्ण कार्यों द्वारा अपने ईश्वरकी प्रसन्नताको प्राप्त करेंगे, और ईश्वरसे क्षमा भी प्राप्त कर लेंगे। उस ईश्वरसे बड़े-बड़े पुरस्कार पानेकी भी इन भक्तोंको आशा है। साम्प्रदायिक विद्वेष प्रज्वलित करनेवाले तथा अमानुषिक कृत्यों द्वारा इस भूतलपर नारकीय दृश्य उपस्थित करनेवाले इन मजहबी दीवानोंके द्वारा विश्वमें यथार्थ ऐक्य तथा शान्तिका दर्शन दुर्लभ बन जाता है। इनके सिवाय दूसरा वर्ग (२) शिकारीकी भावना (Hunter's Spirit) के नशेमें चूर है। वे दूसरोंकी संपत्ति या भूमि-रक्षणमें सहायता इसी आधारपर देते हैं, कि तुम यह स्वीकार करो कि बल ही सच्चा है (Might is right)। तुम उनको बलशाली स्वीकार करो। उनकी धारणा है कि संसारमें दुर्बल मनुष्योंका संहार करके ही वे योग्य बनते हैं।

शान्तिके उपासकोंकी संख्या या प्रभाव इतना अल्प है, कि वे, आजके कूटनीतिज्ञोंके छल-प्रपंचके विरुद्ध कुछ भी महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकते। धन और सत्ताके बलपर सत्यका द्वार प्रायः अवरुद्ध रहा करता है। वे सत्ताधीश शिकारीकी भावनावाले कहीं भी जाते हैं और दूसरोंकी दुर्बलताओंसे लाभ उठा प्रजातन्त्र, जनतन्त्र, साम्राज्यवाद, साम्यवाद आदि मोहक सिद्धान्तोंके नामपर बड़े-बड़े देशोंको हजम कर लेते हैं, जैसे व्याघ्र गायको स्वाहा कर देता है। ऐसी व्याघ्रवृत्तिवाले राष्ट्रों या उनके नेताओंके कारण विश्वशान्तिपरिषद् League of Nations प्रायः विनोदजनक ही रही। बड़े-बड़े सम्मेलन पवित्र उद्देश्योंके

संरक्षण तथा वृहत् मानवजातिमें बन्धुत्व स्थापनार्थ किए जाते हैं, किन्तु शिकारी-भावना-समन्वित प्रमुख पुरुषोंके प्रभाववश अंधेके रस्सी बँटने और बकरी द्वारा बँटी रस्सीके चरे जाने जैसी समस्या हुआ करती है।

पश्चिममें विज्ञानने ईश्वरके अस्तित्वको माननेमें अस्वीकृति व्यक्त की, जड़तत्त्वको ही सब कुछ बताया; इस शिक्षणके कारण धार्मिक द्वन्द्वोंकी तो समाप्ति हो गई, किन्तु पूर्वके देशोंने धार्मिक अत्याचारोंके कार्योंको अक्षुण्ण जारी रखा है। पश्चिममें धर्मान्धताके अस्त होनेका यह परिणाम नहीं हुआ, कि विशुद्ध धार्मिक दृष्टिवाले सत्पुरुषोंका विकास हुआ हो। विश्वविद्यालयोंकी शिक्षाने ऐसे अनाध्यात्मिक व्यक्तियोंकी नवीन सृष्टि की, जो अपना सानंद अस्तित्व तथा समृद्धिको चाहते हैं। इसमें बाधा आती हो, तो उसे निवारण करनेके लिए वे कितने भी मनुष्योंको यममन्दिरमें भेजनेको तैयार हैं। पशुओंको तो वे बेज़बान होनेके कारण बेजान मानते हैं। वास्तव दृष्टिसे देखा जाय, तो आत्मतत्त्व अविनाशी है। इससे आदर्शकी रक्षा करते हुए मृत्युके मुखमें प्रवेश करना कोई बुरा नहीं है। सोमदेवसूरि कहते हैं—

"कण्ठगतैरपि प्राणैर्नाशुभं कर्म समाचरणीयं कुशलमतिभिः॥"

—नी० वा० ३७, २०।

"उत्कृष्ट बुद्धिवाले व्यक्तियोंको कण्ठगत प्राण होनेपर भी निन्दनीय कार्य नहीं करना चाहिए।"

यह है भारतीय पवित्र आदर्श। जड़वादी प्राणरक्षाके नामपर जगत् भरके संहारको उद्यत होता है, तो आदर्शवादी आध्यात्मिक अपने ध्येयकी रक्षार्थ जीवनका भी मोह नहीं करता है। भोगासक्त संसारको महर्षि कुन्दकुन्दकी चेतावनी ध्यानमें रखनी चाहिए।

"एक्को करेदि पावं विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण।
णिरयतिरियेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को॥ १५॥"

—बारहअणुवेक्खा।

"यह जीव, पाँच इंद्रियोंके विषयोंके अधीन हो तीव्र लालसापूर्वक पापोंको अकेला करता है और 'अकेला' हीं उनका फल भोगता है।"

महाकवि वाल्मीकि अपने जीवनके पूर्व भागमें महान् लुटेरा डाकू था। एक बार उसकी दृष्टिमें उपरोक्त तत्त्व लाया गया, कि तुम्हारा डकैतीसे प्राप्त धन सब कुटुम्बी सानन्द उपभोग करते हैं, किन्तु वे इस पापमें भागीदार नहीं होंगे; फल तुम्हें ही अकेले भोगना पड़ेगा। वाल्मीकिने अपने कुटुम्बमें जाकर परीक्षण किया, तो उसे ज्ञात हुआ, कि पापका बँटवारा करनेको माल उड़ानेवाले कुटुम्बी लोग तैयार नहीं हैं। इसने डाकू वाल्मीकिके हृदय-चक्षु खोल दिए और उसने डाकूका जीवन छोड़कर ऐसी सुन्दर जिन्दगी बना ली, कि अबतक जगत् रामायणके रचयिताके रूपमें उस महाकविको स्मरण करता है।

इस युगके साम्राज्यवादी, डिक्टेटर अथवा भिन्न-भिन्न राजनैतिक विचारधारा वालोंको भी यह नग्न सत्य हृदयङ्गम करना चाहिए, कि आज परिस्थिति अथवा विशेष साधनवश उनके हाथमें सत्ता है, बल है और इससे वे मनमाने रूपमें शिकारीके समान दीन-हीन, अशिक्षित अथवा असभ्य कहे जानेवाले मनुष्योंकी स्वतंत्रताका अपहरण करें, उन्हें अनैतिक बना सदाके लिए अंधकूपमें डाले रखें, ताकि वे फिर उच्च गौरवपूर्ण राष्ट्रके रूपमें अपना सिर न उठावें, उनका धन अपहरण करें, उनकी संस्कृतिको चौपट करें और एक प्रकारसे उनका जीवन पशुतापूर्ण बनावें; किन्तु इन अनर्थोंका दुष्परिणाम भोगना ही पड़ेगा। प्रकृतिका यह अबाधित नियम, 'As you sow, so you reap—'

'जैसा बोओ, तैसा काटो' इस विषयमें तनिक भी रियायत न करेगा। कथित ईश्वरका हस्तक्षेप भी पापपङ्कसे न बचावेगा। वैज्ञानिक धर्म तो यही शिक्षा देता है, कि अपने भाग्यनिर्माणकी शक्ति तुम्हारे ही हाथमें है, अन्यका विश्वास करना भ्रमपूर्ण है। अभी तो राजनैतिक जगत्के विधातागण अपने आपको सांख्यके पुरुष समान पवित्र समझते हैं और यह भी सोचते हैं, कि अपने राष्ट्रहितके लिए जो कुछ भी कार्य करते हैं वह दोष उनसे लिप्त नहीं होता। जैसे प्रकृतिका किया गया समस्त कार्य पुरुषको बाधा नहीं पहुँचाता। यह महान् भ्रमजाल है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व पृथक्-पृथक् नहीं है। कारण भुक्तिक्रियाकर्तृत्व ही तो भोक्तृत्व है। जगत्का अनुभव भी इस बातका समर्थन करता है।

जैनशासन सबको पुरुषार्थ और आत्मनिर्भरताकी पवित्र शिक्षा देता हुआ समझाता है, कि यदि तुमने दूसरोंके साथ न्याय्य तथा उचित व्यवहार किया, तो इस पुण्याचरणसे तुम्हें विशेष शान्ति तथा आनन्द प्राप्त होगा। यदि तुमने दूसरोंके न्यायोचित स्वत्वोंका अपहरण किया, प्रभुताके मदमें आकर असमर्थोंको पादाक्रान्त किया, तो तुम्हारा आगामी जीवन विपत्तिकी घटासे घिरा हुआ रहेगा। इस आत्म-निर्भरताकी शिक्षाका प्रचार होना आवश्यक है। यदि प्रभुताके मद-मत्त व्यक्तिकी समझमें यह आ गया, कि पशु-जगत्के नियमोंका हमें स्वागत नहीं करना चाहिए तो कल्याणका मार्ग प्रारंभ हो जायगा। ज्ञानवान् मानवका कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवनकी चिन्तनाके साथ अपने असमर्थ अथवा अज्ञानी बन्धुओंको बिना किसी भेद-भावके समुन्नत करनेका प्रयत्न करे। चालाकी, छल और प्रपञ्च करनेवाला स्वयं अपनी आत्माको धोखा देता है। अन्य धर्मगुरुओंके समान जैनशासन इतना ही उपदेश देकर कृतकृत्य नहीं बनता है कि 'तुम्हें दूसरोंका उपकार

करना चाहिए। बुरे कामका फल अच्छा नहीं होगा।' जैनधर्म जब विज्ञान (Science) है, तब उसमें प्रत्येक बातका स्पष्ट तथा सुव्यवस्थित वर्णन है। उसमें यह भी बताया है, कौनसे कार्य बुरे हैं, उनसे बचनेका क्या उपाय है आदि। आज जो पश्चिममें धनकी पूजा (Mammonworship) हो रही है, उसके स्थानमें वहाँ करुणा, सत्य, परिमित परिग्रहवृत्ति, अचौर्य, ब्रह्मचर्यकी आराधना होनी चाहिए। विद्याधन जैसे देनेसे बढ़ता है, इसे लेनेवाला और देनेवाला आनन्दका अनुभव करता है, इसी प्रकार करुणा और प्रेमका प्रसाद है। करुणाकी छायामें सब जीव आनन्दित होते हैं। दूसरे प्राणीको मारकर मांस खाना, शिकार खेलना आदि करुणाके विघातक हैं। मांसाहार तो महापाप है। मांसाहारीकी करुणा या अहिंसा ऐसी ही मनोरंजक है, जैसे अन्धकारसे उज्ज्वल प्रकाशकी प्रादुर्भूति होना। जब तक बड़े राष्ट्र या उनके भाग्यविधाता मांस-भक्षण, शिकार, मद्यपान, व्यभिचार, अनुचित उपायोंसे दूसरोंकी संपत्तिका अपहरण करना आदि विकृतियोंसे अपनी और अपने देशकी रक्षा नहीं करते, तब तक उज्ज्वल भविष्यकी कल्पना करना कठिन है। हिंसादि पापोंमें निमग्न व्यक्ति दूसरोंके दुःखोंके निवारणकी सच्ची बात नहीं सोच पाता। असात्त्विक आहारपानसे पशुताका विकास होता है। सुखका सिन्धु वहाँ ही दिखाई पड़ता है, जहाँ करुणाकी मन्दाकिनी बहा करती है।

कोई व्यक्ति तर्क कर सकता है कि आजके युगमें उपरोक्त नैतिकताके विकासकी चर्चा व्यर्थ है, कारण उसका पालन होना असम्भव है। ऐसी बातके समाधानमें हम यह बताना चाहते हैं, कि यदि कुछ समर्थ व्यक्ति अपने अन्तःकरणमें पवित्र भावोंके प्रसारकी गहरी प्रेरणा प्राप्त कर लें, तो असम्भव भी सम्भव हो सकता है। अकेले गान्धीजीने

अपनी अन्तरात्माकी आवाजके अनुसार देशमें अहिंसात्मक उपायसे राजनैतिक जागरणका कार्य उठाया था, आज भारतवर्ष यह अनुभव करता है, कि उस व्यक्तिने देशमें कितनी शक्ति और चेतना उत्पन्न की है। आवश्यकता है जीवन उत्सर्ग करनेवाले सच्चे, सहृदय, विचारशील सत्पुरुषों की। पवित्र जीवनके प्रभावसे पशु-जगत्में भी नैसर्गिक क्रूरता आदि नहीं रहने पाती, तब तो यहाँ मनुष्योंके उद्धारकी बात है, जो असंभव नहीं कही जा सकती।

आज जो दुनियामें रंगभेद, राष्ट्रभेद आदिकृत विषमताओंका उदय है, वह अन्य कालमें दूर हो सकता है, यदि समर्थ मानवसंसारमें ऋषिवर उमास्वामीकी इस शिक्षाका प्रसार हो सके। पूँजीवादकी समस्या भी सुलझ सकती है, यदि सम्पत्तिशालियोंके हृदयमें यह बात जम जाय कि—"बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः"—'बहुत आरम्भ और परिग्रहके कारण नरकका[1] जीवन मिलता है।' इससे अर्थको ही भगवान् मान भजन करनेवालोंको अपना भविष्य ज्ञातकर जीवन-परिवर्तनकी बात हृदयमें उदित होगी। "अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य"—'थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह मनुष्यायुका कारण है।' छल प्रपञ्चके जगत्में निरन्तर विचरण करनेवाले राजनीतिज्ञोंको आचार्य बताते हैं— "माया तैर्यग्योनस्य"—'मायाचारके द्वारा पशुका जीवन प्राप्त होता है।' कूटनीतिज्ञ अपने षड्यन्त्रोंको बहुत छिपाया करते हैं, इस आदतके फल-स्वरूप पशु-जीवन मिलता है, जहाँ जीव अपने दुःख-सुखके भावोंको वाणीके द्वारा व्यक्त करनेमें असमर्थ होता है। इतना अधिक छिपानेकी शक्ति बढ़ती है।

पवित्राचरण, जितेन्द्रियता, संयम (Self Control) के द्वारा

१ 'आरंभ' हिंसन कार्यको कहते हैं। 'परिग्रह' ममत्वभावको कहते हैं।

सुखकी उपलब्धि होती है। आचार्य उमास्वामीके कथनसे यह स्पष्ट होता है, कि आज पाप-पंकमें निमग्न प्राणी अपनी अमर आत्माको नीच पर्यायमें ले जाता है, जहाँ दुःख ही दुःख है। आज जो वर्गकी श्रेष्ठता, (Race-Superiority) अथवा रंगभेद (Colour Distinction) की ओटमें अभिमान और घृणाके बीज दिखते हैं, उसका फल सूत्रकार बताते हैं—

"परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥"

त० सू० ६।२५

दूसरेकी निन्दा, अपनी प्रशंसा करना, दूसरेके विद्यमान गुणोंको ढांकना और अपने झूठे गुणोंको प्रकट करना इन कार्योंके द्वारा यह जीव निन्दनीय तथा तिरस्कारपूर्ण अवस्थाको प्राप्त करता है।

आज जो अनेक राष्ट्रोंमें घृणा, जातिगत अहंकार आदि विकार समा गए हैं वे उन राष्ट्रोंका इतना भीषण विनाश करेंगे, जितना लाखों अणुबमका प्रयोग भी नहीं करेगा। आत्मगत दोषोंके द्वारा जीव इतने गहरे पतनके गर्तमें गिरता है, कि जहाँसे विकासका मार्ग ही गणनातीत कालके लिए रुक जाता है।

सत्ताधीश सफलताके मदमें मस्त हो आश्रित व्यक्तियों और देशोंको अपने मनके अनुसार नचाता है, उन्हें कष्ट पहुँचाता है। उनका चिरस्थायी नैतिक पतन हो, इस उद्देश्यसे वह उन्हें पापपूर्ण व्यसनोंमें फँसाता है और कहता है कि हम क्या करें, इनने स्वयं पापोंको आमंत्रित किया है। ऐसे धूर्तोंके चरित्रपर सोमदेवसूरि प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

"स्वव्यसनतर्पणाय धूर्तैर्दुरीहितवृत्तयः क्रियन्ते श्रीमन्तः ॥"

—नी० वा० ३८, २०

'धूर्त लोग अपनी आपत्तिके निवारणार्थ श्रीमानोंको पापमार्गमें आसक्त कराते हैं।' पुरातन भारत और अंग्रेजी भारतके चित्रोंके सन्तुलनसे पता चल सकता है कि धूर्त लोग किस प्रकार स्वार्थपुष्टिनिमित्त महान् नैतिक राष्ट्रको कुमार्गरत करते हैं। जो देश अपने प्रामाणिक व्यवहारके लिए प्रसिद्ध रहा आया है, जहाँ झूठ, चोरी आदि बड़े पातक माने जाते हैं, जहाँ सत्यके पीछे जीवनभर वे संकटका सहर्ष स्वागत करनेको लोग तैयार रहते थे, वहाँ ही भारतीय जीवनमें मर्यादातीत अप्रामाणिकताका प्रवेश हो गया। यह अंग्रेज शासकोंकी कूटनीतिका परिणाम है। न्यायालयकी विशेष पद्धतिके द्वारा सारे राष्ट्रमें बेईमानी, छल, प्रपंच करनेकी प्रकारान्तरसे शिक्षा प्रदान की गई। अर्थप्रदानके द्वारा अनर्थका पोषण होने लगा। विविध भांतिकी अनैतिकताका विषवृक्ष सफल हो अपने कटुफल देने लगा, यह कूटनीतिका मोहक संस्करण ही है। भारतको दीन हीन दुःखी बना शोषणनीति द्वारा विषयविलासितामें मग्न होने वाले अंग्रेजों और उनके रिश्तेदारोंको यह सूत्र प्रकाश प्रदान करता है, कि दूसरोंको दुःखी करनेसे, शोकाकुल करनेसे तथा उनका प्राणघात आदिसे यह जीव अपने लिए विपत्तिका बीज बोता है—

"दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य।"

—त० सू० ६, ११

आज महायुद्धके पर्यवसान होनेपर पराजित राष्ट्रोंके प्रति अमानुषिक व्यवहार होने लगा और ऐसा प्रयत्न किया जा रहा है, कि वे बहुत समय तक अपना मस्तक गौरवपूर्वक न उठा सकें। शासक और शासितोंके कल्याणका उपाय इसमें नहीं है, कि परस्परमें विद्वेषाग्नि सदा प्रज्वलित रहे। मनुष्यताकी पुकार तो यह है, कि उनके साथ मानवोचित व्यवहार हो और उनकी आत्माको सद्गुणोंकी ओर प्रगति करनेमें न केवल स्वतंत्रता हो, बल्कि प्रेरणा और सहायता भी हो। दुष्टतापूर्ण

वृत्तिका प्रदर्शन करनेपर तो दण्डका प्रहार आवश्यक है। उसका ध्येय दुष्टताका विनाश हो, न कि व्यक्तिका उन्मूलन कार्य। सोमदेव सूरि दण्डके प्रयोगके विषयमें एक बातसे सतर्क करते हैं कि यदि दण्ड प्रयोग-में विवेकसे काम न लिया, तो लाभके स्थानमें अलाभ होगा।

"दुष्प्रणीतो हि दण्डः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वा सर्वविद्वेषं करोति ॥" ६।१०४।

'काम, क्रोध अथवा अज्ञानवश दण्डका अनुचित प्रयोग सर्वत्र विद्वेषके भावोंको उत्पन्न करता है।'

जहां परस्पर सद्भावना, सहानुभूति, सच्चा प्रेमका निर्झर न बहे, वहां तो एक प्रकारसे नरकका राज्य समझना चाहिए। समाज या राष्ट्रके भाग्यविधाताका कर्त्तव्य है कि वह जनताकी अधोमुखी वृत्तियोंपर नियंत्रण रखे और उसमें सद्भावनाओंका प्रकाश फैलावे। शासकका कार्य खटमलकी भांति शोषण नहीं है। उसका कर्त्तव्य मेघमालाके समान अमृतवर्षा करके इस भूतलको सर्वप्रकारसे संपन्न और समृद्ध करनेमें है। आज शोषण नीतिका बोलबाला दिखाई पड़ता है। राजा प्रजाका शोषण करता है, धनी निर्धनीका, मिलमालिक मजदूरों-का शोषण करनेमें मग्न हैं। उन्हें सोचना चाहिए कि इस अल्पस्थायी मनुष्य जीवनमें अधिक धनकी तृष्णा द्वारा हमारा कल्याण नहीं है, कारण मरनेके बाद कुछ भी साथ नहीं जाता। अतः अपने आश्रित-जनोंको कम-से-कम जीवनकी आवश्यक सामग्री अवश्य प्राप्त कराना चाहिए। सच्चा आनन्द केवल अपना पेट भरनेमें नहीं है, बल्कि अपने आश्रित सभी लोग सुखी हों, और उन्हें कोई कष्ट नहीं है, ऐसी स्थिति उत्पन्न करनेमें है। जैनशास्त्रकारोंने कहा है, जो गृहस्थ दान नहीं देता है, उसका घर श्मशान तुल्य है। यदि शक्तितः त्याग (दान) का तत्त्व धनिकोंके अन्तःकरणमें प्रतिष्ठित हो जाय, तो अर्थवान् और

अर्थविहीनोंका संघर्ष दूर होकर मधुर सम्बन्धोंकी स्थापना हो सकती है।

इस जीवन संग्राममें सदा अपराजित जीवन रहे, इसलिए योग्य गृहस्थ उन वीरोंकी कुछ समय तक एक चित्त हो, वंदना तथा गुणानुचिंतन करता है, जिनने भौतिक दुर्बलताओंपर विजय प्राप्त की है, साथ ही काम, क्रोध, लोभ, मान, मोहादि रिपुओंको भी पराजित किया है। इस आदर्शकी आराधनासे आत्मा व्यामुग्ध नहीं बनता है। दान देनेसे सहानुभूति तथा सहयोगका सच्चा भाव सजग रह समाजको मंगलमय बनाता है। तीव्र स्वार्थभावना पतनकी ओर प्रेरणा करती है। हृदयमें यदि प्राणीमात्रके प्रति "समता सर्वभूतेषु" की भावना प्रतिष्ठित हो जाय, तो आन्तरिक साम्यकी अवस्थितिमें बलपूर्वक स्थापित किए गए कृत्रिम साम्यवादकी ओर कौन झुकेगा? आजके युगमें सहयोग, परस्पर सहायता, सहानुभूति, ऐक्य, उदारता, प्रेम, प्रामाणिकता, संतोष, स्पष्टवादिता, निर्भीकता, स्वस्त्रीसन्तोष, संयम सदृश सद्गुणोंकी यदि अभिवृद्धि हो जाय, तो विश्वमें बहुतसे विषमता तथा विषाद उत्पन्न करनेवाले विवादोंका अवसान हुए विना न रहे। राज्य शासनकी कोई भी पद्धति हो, उसके भीतर यदि पूर्वोक्त प्रवृत्तिका पोषण होता है, तो वह श्रेष्ठ है। शासन पद्धति साध्य नहीं, साधन है। साध्य है शान्ति, समृद्धि तथा मनुष्य जीवनकी सफलता। उन्नतिके लिए विविध धर्मग्रन्थ अहिंसा, सत्य, शील आदिका उल्लेख करते हैं, किन्तु वे यह स्पष्टतया नहीं बताते, कि इन सिद्धान्तोंका सम्यक् परिपालन किस प्रकार संभव हैं?

हजरत मसीहके प्रेमका अर्थ बराबर समझमें नहीं आता, जब वे मनुष्यको तो यह कहते हैं कि अगर कोई तुम्हारे एक गालपर चपत मारे, तो तुम अपना दूसरा गाल उसके समक्ष कर दो, किन्तु वे स्वयं

जीवित मछलियोंको अपने भक्तोंको खिलाते हुए यह नहीं सोचते, कि इन हतभाग्य जीवधारियोंको मारे जानेमें प्राणान्त व्यथा होगी। ब्रह्मचर्य और शीलकी महत्ताका एक बार सीतादेवीके चरित्रमें दर्शन करनेके उपरान्त जब हमें पाण्डवोंके चरित्रमें द्रौपदीको पंचभर्तारीके रूपमें सती बताया जाता है, तब हमें पातिव्रत्य धर्मका अविरोधी स्वरूप हृदयंगम करनेमें काठिन्यका अनुभव होता है। ऐसी ही कठिनतापूर्ण सदाचार-की विभिन्न प्रवृत्तियां समक्ष आती हैं। जैनशासनका सुव्यवस्थित वर्णन ऐसे संकटोंसे परे है। उसमें इस बातका पूर्णतया स्पष्ट विवेचन किया गया है, कि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह वृत्तिका पोषण करनेकी चर्या किस प्रकार है और किस प्रकारकी प्रवृत्तिसे इसका विनाश होता है। गृहस्थ अवस्थामें कम-से-कम कितनी प्रवृत्ति करे और किस क्रमिक विकासपूर्ण पद्धतिसे आगे बढ़े। महान् साधक श्रमणके पदको प्राप्त कर कैसे चर्या करे? जैन आचार ग्रन्थोंमें इस विषयपर विशद विवेचन किया गया है। उदाहरणार्थ अपरिग्रह व्रतको देखिये। साधारण गृहस्थका कर्त्तव्य है कि अपनी आवश्यकतानुसार धनधान्य, बर्तन, वस्त्र, मकानादिकी मर्यादा बांधकर शेष पदार्थोंके प्रति किसी प्रकारका ममत्व या तृष्णा न करे। उसका ममत्व मर्यादित पदार्थों तक ही सीमित हो जाता है। इस व्रतको निर्दोष पालनेके लिए पांच अतीचारों—दोषों (transgressions) का रक्षण आवश्यक है। इस विषयके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रत्नकरंडश्रावकाचारमें स्वामी समन्तभद्र कहते हैं—

"अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पंच कथ्यन्ते॥"—६२

—प्रयोजनसे अधिक सवारी रखना, आवश्यक पदार्थोंका अधिक

संग्रह करना, दूसरेके वैभवको देखकर विस्मय धारण करना । इससे यह व्यक्त होता है, कि धन दौलतके प्रति तुम्हारे हृदयमें मोह है. अन्यथा अधिक परिग्रहके कारण विशेष सुखी समझना चाहिए था। बहुत लोभ करना, बहुत भार लादना ये पांच अतीचार-दोष परिग्रह परिमाण व्रतके कहे गए हैं।

इस परिग्रह परिमाण व्रतके स्वरूपमें यह बताया है कि अपनी आवश्यकता तथा मनोवृत्तिके अनुसार धन, धान्यादिको मर्यादा बांध लेनेसे चित्त लालचके रोगसे मुक्त हो जाता है। मर्यादाके बाहरकी संपत्तिके बारेमें—'ततोऽधिकेषु निस्पृहता'का भाव रखना आवश्यक कहा है।

अहिंसाके विषयमें बताया है कि वह प्राथमिक साधक यह प्रतिज्ञा करे कि मैं संकल्प पूर्वक मनसा, वाचा, कर्मणा, कृत, कारित, अनुमोदना द्वारा किसी भी त्रस जीव (mobile creature) का प्राणघात न करूंगा, तब उसे स्थूल हिंसाका त्यागी कहेंगे। इस परिभाषासे मांस भक्षण, शिकार खेलना आदिका त्याग इस अहिंसकके लिए अनिवार्य हैं। उसके पंच अतीचार इस प्रकार कहे गए हैं १ छेदना, २ दुर्भावपूर्वक बांधना, ३ पीड़ा देना, ४ बहुत बोझा लादना, ५ आहार देनेमें त्रुटि करना या आहार न देना। इनके द्वारा अहिंसात्मक दृष्टिका पोषण होता है। रत्नकरंडश्रावकाचार, सागारधर्मामृत आदि ग्रन्थोंसे यह विषय स्पष्टतया तथा व्यवस्थित रूपसे समझा जा सकता है। इस विषयका प्रतिपादन पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है। जैनियोंमें जो अहिंसात्मक वृत्तिका यथाशक्ति पालन है, उसका कारण वैज्ञानिक शैलीसे प्रकाश डालने वाले सत्साहित्यका स्वाध्याय, प्रभाव तथा प्रचार है।

इन अहिंसा आदि व्रतोंके श्रेष्ठ आराधक दिगम्बर जैन महामुनि आचार्य श्री शान्तिसागर महाराजसे मैंने एक बार पूछा था—"महाराज,

इस युगमें उन्नति तथा शान्तिका उपाय क्या है ?" आचार्य महाराजने जो समाधान किया था, यथार्थमें विश्वकी विकट समस्याओंका सरल सुधार उसीमें निहित है। महाराजने कहा--"विना पाप और पाप बुद्धिका त्याग किए, न व्यक्तिका सुधार हो सकता है, न समाजका, न राष्ट्रका, और न विश्वका। जिस जिस जीवने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा अधिक तृष्णाका यथाशक्ति परित्याग किया है, उसका उतना कल्याण हुआ है। जिनने हिंसादि पापोंकी ओर प्रवृत्ति की है, वे दुःखी हुए हैं।" वास्तवमें जगत्का सच्चा कल्याण आचार्य महाराजके कथनानुसार "पाप तथा पापबुद्धिके परित्यागमें हैं"। महर्षि कुन्दकुन्दका कितना पवित्र उपदेश है—

"जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमियभूयं।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥" (दर्शनप्राभृत)

—'जिन भगवान्‌की वाणी परमौषधि रूप है। यह विषय-सुखका त्याग कराती है। यह अमृत रूप है। जरा-मरण व्याधिको दूर करती है तथा सर्व दुःखोंका क्षय करती है।'

यह जिनेन्द्र वाणी विश्वकी संपत्ति है। प्रत्येक व्यक्तिको यह अधिकार है, कि इस अभयप्रद अमृतवर्षिणी जिनवाणीके रसास्वादन द्वारा अपने जीवनको मंगलमय बनावे। यह वीतरागका शासन पहले समस्त भारतमें वन्दनीय था। यह राष्ट्रधर्म रह चुका है। सांप्रदायिक संकटों तथा धर्मान्धोंके लोमहर्षण करनेवाले अत्याचारोंके[1] कारण इसके आरा-

---

१ आंध्रचरितम्, Indian Antiquary, Saletore's Medieval Jainism, Dr. Von Glasenapp's Jainimus, Smith's History of India, आदि पुस्तकोंसे इस बातका परिज्ञान हो सकता है।

धकोंकी संख्या कम हुई। इन अत्याचारोंके कारण और स्वरूपपर प्रकाश डालना आवश्यक नहीं प्रतीत होता।

आज विज्ञान प्रभाकरके प्रकाशके कारण जो सांप्रदायिकताका अन्धकार न्यून हुआ है, उससे इस पवित्र विद्याके प्रसारकी पूर्ण अनुकूलता प्रतीत होती है। जिनवाणीकी महत्ताको हृदयंगम करनेवाले व्यक्तियोंका कर्तव्य है कि इस आत्मोद्धारक तत्त्वज्ञानके रसास्वादन द्वारा अपने जीवन को प्रभावित[1] करें, और जगत्को भी इस ओर आकर्षित करें, ताकि सभी लोग अपना सच्चा कल्याण कर सकें। इस कार्यमें निराशाके लिए स्थान नहीं है। सत्कार्योंका प्रयत्न सतत चलता रहना चाहिए। जितने जीवोंको सम्यक्ज्ञानकी ज्योति प्राप्त होगी, वह ही महान् लाभ है। कम से कम 'श्रेयः यत्नवतोऽस्त्येव'—प्रयत्न करने वालोंका तो अवश्य कल्याण है। हमें संगठित होकर संसारके प्राङ्गणमें यह कहना चाहिए—

जिनवाणी सुधा-सम जानिके नित पीजो धीधारी

इति

---

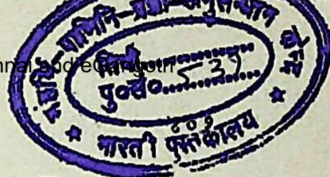
१ "आत्मा प्रभावनीयः रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥"—पु० सि० श्लोक ३०।
—रत्नत्रयके तेज द्वारा अपनी आत्माको प्रभावित करे तथा दान, तपश्चर्या, जिनेन्द्रदेवकी पूजा एवं विद्याकी लोकोत्तरताके द्वारा जिनशासनके प्रभावको जगत्में फैलावे।

परिशिष्ट

(१) ग्रन्थकार-सूची

(२) ग्रन्थ-सूची



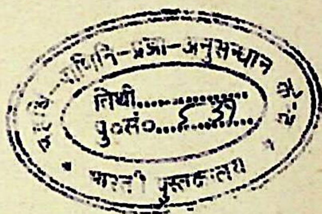


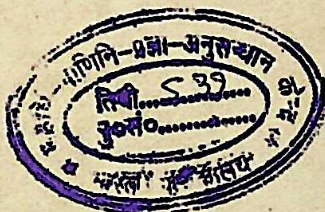


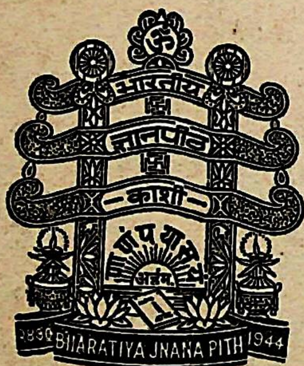
शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९	फुटनोट	Janius	Janimus
१०	११	विस्तृतकर	विस्मृतकर
१३	फुटनोट ५	wharever	what ever
१४	फुटनोट ७	Pursuit	Pursuit of truth
३४	४	रहते	रहते[1]
३४	१५	है[1]	है
३५	१४	उठाईभीर	उठाईगीर
३६	२	है ।[1]	है
३७	फुटनोट ८	Latter are	latter Live
३७	फुटनोट १२	I can find	I find
४०	१६	पत्पद	यत्पद
४४	५	होती है	करता है
४४	फुटनोट ४	विपर्यैण	विपर्ययेण
४७	१९	होती[1]	होती
४८	४	differencs	difference
५८	९	यूरोपकी	यूरोपके
७०	२०	अन्तरामा	अन्तरात्मा
७६	२०	बबूलके	बबूलेके
७७	१९	समस्तलोकका	समस्तलोक
७९	१५	ज्ञानज्योतिमें	ज्ञानज्योतिर्मय
९५	५	Ideai	Ideal
९८	७	थये	भये

१०५	४	उम्मगाया	उम्मग्गया
१०७	१९	III & II	III, Sc. II
११२	२१	Adout	About
११६	४	पंचक	पंचम
११९	५	आदि	इत्यादि
११९	१७	मुंगी	पुंगी
१२१	२	which	while
१२१	३	assesism	asceticism
१२१	४	fractise	practise
१२१	१८	समाधिकरण	समाधिमरण
१३३	फुटनोट १०	fishee	fishes
१३४	,, ५	brake	broke
१३४	,, ७	afragments	afragment
१५१	फुटनोट ३	ment	meant
१५९	फुटनोट ३	Position	Positions
१५३	१३	मार्मिक	धार्मिक
१७३	८	म्रिय	प्रिय
१७२	२१	भक्ष्यको	भक्ष्य
१९७	२०	क्रियाया	क्रियया
२०९	१२	होती	होता
२३८	१५	सुररिंददावंदाधु	सुरवंदिदाधु
२४४	फुटनोट १	beatific	beautific
२७६	१५	बुद्धि	बुद्धिः
२८५	फुटनोट १०	Proff	Proof
२९९	फुटनोट ३	Natapulta	Nathaputta






भारतीय
ज्ञानपीठ
काशी
BHARATIYA JNANA PITH
1944